सूर्यकान्त

या

वेदान्त ज्ञान दर्शन

श्रीशिवनारायण शर्म्मा ।

सूर्यकान्त

वा

वेदान्त-ज्ञान दर्शन

अनुवादक :

श्रीशिवनारायण शर्म्मा।

प्रकाशक :—

रिखबदास वाहिती,

प्रोप्राईटर :—"दुर्गा प्रेस" और

आर० डी० वाहिती एण्ड को०,

नं० ४, चोरबगान, कलकत्ता।

सन् १९२५

मूल्य २)
रेशमी २॥)

प्रकाशक :—
रिखबदास वाहिती,
आर० डी० वाहिती एण्ड को
नं० ४, चोरबगान, कलकत्ता।

मुद्रक—
रिखबदास वाहिती

प्रकाशकके दो शब्द ।

—*०:०:*—

प्रिय पाठको ! आजतक जितनी भी पुस्तक मैंने प्रकाशित की हैं उनमें वेदान्त विषयकी एक भी पुस्तक न होनेके कारण मेरी यह हार्दिक इच्छा थी, कि मैं इस विषयकी पुस्तक पाठकोंके सामने रखूं । यही कारण है कि उस परम दयालु परमात्माकी कृपासे आज यह पुस्तक आप सज्जनोंके सामने रखनेमें समर्थ हुआ हूँ । यद्यपि आजकल धर्म-तत्वको न समझनेके कारण पाठकोंकी रुचि उपन्यास नाटकों पर अधिक हो गई है, तथापि जिन सज्जनोंको वेदान्तका कुछ भी ज्ञान है वे इस पुस्तकको किस रुचिसे पढ़ेंगे और कितनी आदरकी दृष्टिसे देखेंगे, यह मैं नहीं कह सकता परन्तु मैं अपने प्यारे पाठक वृन्दोंसे अनुरोध करूँगा, कि उन्हें पुस्तकोंमें अरुचि होते हुए भी इसे एकबार अवश्य पढ़ें ।

(२) साथ ही जिन पाठक महानुभावोंको यह पूर्वार्द्ध [illegible] कृपया उत्तरार्द्धकी ग्राहक श्रेणीमें नाम लिखानेकी सूचना देवें । २५० ग्राहकोंकी आज्ञा मिलने पर उत्तरार्द्धका छपना आरंभ कर दिया जावेगा और छपते ही क्रमशः वी० पी द्वारा सेवामें भेज दिया जावेगा । जो महाशय प्रथम ग्राहक श्रेणीमें नाम लिखायेंगे, उनको १२॥) सैकडा कमीशन काटकर पुस्तक भेजी जायेगी ।

प्रकाशक ।

प्रेमोपहार

विषय—	पृष्ठ—

ॐ नमोऽन्तर्यामिणे ।

प्रस्तावना ।

जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश होनेपर अन्धकार तुरन्त दूर हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी सूर्यका उदय होनेसे जीवात्माके मनपर छाया हुआ, अज्ञानरूपी तिमिर-पटल, दूर होकर, मन निर्मल दर्पणके समान, स्वच्छ शुद्ध हो जाता है। इसके अलावा जब ज्ञानका उदय होता है, तब सत्वगुण दिन प्रति दिन, शुक्ल पक्षके चन्द्रमाकी कलाकी भांति, बढ़ता जाता है और सत्वगुण ही पर प्रेम रहता है। ऐसे ही अवसरमें पुस्तक रचयिताने, अपने प्रियजनों "उदार चरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्" के सन्मुख, यह 'सूर्यकान्त' नामक ग्रन्थ संग्रह किया है।

जिन सज्जनोंका चित्त परोपकारके लिये सदा उत्साहित रहता है, जो अपना शरीर स्वदेश-सेवा करने हीमें लगाना चाहते हैं, जिन्होंने सबके अन्तःकरणसे धन्यवाद पाये हैं, जो कला और विद्यामें भली भांति निपुण होकर ब्रह्मज्ञानको प्राप्त हुए हैं, जिनके सिरपर सांसारिक व्यवहारका दुःसह बोझ होनेपर भी एकाग्र वृत्ति द्वारा अपने चञ्चल मनको वशमें कर रक्खा है, ऐसे पुरुषोंके लिये 'प्रिय' विशेषण लगाया गया है। यह शरीर एवं इसमें रहनेवाली वस्तु क्या है? उसी प्रकार यह जगत और जगतका

बनानेवाला नथा उसमें और सबमें निवास करनेवाला कौन है ? इस विषयका निर्णय करनेमें कोई समर्थ नहीं हुआ। यद्यपि वेदवाक्य यथार्थ माने जाते हैं, परन्तु सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई इसका यथावत् निर्णय वेदने भी नही किया है। बल्कि मनुष्योंके मनमें जिस तरह भिन्न भिन्न कल्पनाएँ होती रहती हैं और वे अपनी अपनी कल्पनाके अनुसार अपनी अपनी बुद्धि-विद्या द्वारा वेदका भेद जुदा ही जुदा समझते रहते हैं तथा "गुरुगुरु विद्या सिर सिर अक्ल" वाली कहावत जैसी है और जिस प्रकार अनेक वनस्पतियोंके जुदे-जुदे गुण हैं अर्थात् कोई दाहक तो कोई शीत, कोई सर्द तो कोई गरम, कोई कफघ्न तो कोई मारक, कोई पित्तघ्न तो कोई पित्त प्रकोप करनेवाली इत्यादि अनेक गुण देखे जाते हैं, उसी प्रकार सृष्टिकी उत्पत्तिके साथ उत्पन्न हुए मनुष्योंकी भी प्रकृति और गुण जुदा जुदा हैं, ऐसे अनेक गुणवाले पुरुष अपने अपने गुण स्वभावानुसार अनेक ग्रन्थ लिख गये हैं। जिन ग्रन्थोंके मनन करनेसे उनके अन्त.करणका चित्र (उनको गुण-स्वभाव) स्पष्ट जान लिया जाता है। यद्यपि उन ग्रन्थोंके लेखक अब मौजूद नहीं हैं, तथापि उनके हृदयके प्रतिबिम्ब, उनके हाथके लिखे हुए ग्रन्थ, अब तक मौजूद हैं ।

इसी प्रकार सत्वगुण प्रधान सत् शास्त्र वेद है। वेदके पढ़नेसे उसके रचयिताका हृदय कैसा था, यह वेदवाणी रूप चित्रसे स्पष्ट समझमें आ जाता है। कालक्रमसे जैसे जैसे पूर्ण तत्ववेत्ता विद्वान शोध करते गये, वैसे ही वैसे अपनी

अपनी कल्पनानुसार विभिन्न अभिप्राय और समय समयपर प्राप्त अनुभव लिखते गये। जिसको जितना ही अधिक तत्वज्ञान सम्बन्धी अनुभव प्राप्त हुआ है, उसने उतना ही अधिक लिखकर आर्य-बन्धुजनोंकी सेवामें अर्पण किया है। यद्यपि इस भारतवर्षमें चैतन्यका प्रतिपादन करनेवाले अनेक मत उत्पन्न हुए हैं—कितने ही पाँच तत्वों द्वारा इस जगतकी उन्नतिकी कल्पना कर जडवादका प्रति पादन करते हैं। वे पाँच तत्वोंको ही प्रधान मानते हैं और कहते हैं कि ईश्वर है ही नहीं। जड़वाद अर्थात् प्रकृतिके कार्यको माननेवाले तथा ईश्वरवाद अर्थात् वेद वाक्य माननेवाले, इन दोनोंमें इतनी इतनी शंकाएं भरी हुई हैं कि जिनका समाधान आजतक किसीके द्वारा पूर्णतया हुआ ही नहीं। परन्तु पूर्वकालसे अब तक इन विषयोंके जितने लेखक हुए हैं, उनके मनमें जैसा जैसा भाव स्फुरण होता गया है, उनको जड़वाद प्रतिपादन करने-वाले लेखक निःशङ्क होकर लिखते गये हैं और इस आधारसे प्रकृतिको स्त्रीका रूप देकर उसे आद्या शक्ति माना है। उसी आद्या शक्तिमेंसे तीन गुण उत्पन्न हुए है। इसी आद्या शक्तिसे ब्रह्मा विष्णु और शिव रूप तीन देवताओंका प्रगट होना माना गया है और शाक्त मार्गको पुष्ट करनेवाले सैकड़ों ग्रन्थ लिखे गये हैं। उनमेंसे आगम (तन्त्र) और निगम शास्त्र पढ़नेसे यह निश्चय होता है कि शाक्तधर्मकी संख्यावन्ध पुस्तकें प्रथम रची गई हैं। समस्त वेद वेदाङ्ग, मीमांसा, सांख्य, न्याय, वैशे-

घिक, योग और वेदान्त इत्यादि ग्रन्थ सतोगुण प्रधान पुरुषोके हृदयके चित्र हैं। इनमें अनेक इतिहास ऐसे हैं, कि जिनमें राज प्रपञ्च, वैभव, वल, पराक्रम और सत्ताका वर्णन है। ये राजस प्रधान पुरुषोंके हृदय चित्रका दर्शन है। जिसके क्रोध उत्पन्न हो ऐसे कारणोका समूह अथवा जिससे अद्भुत रस वा क्रोधका उद्दीपन होता हो ऐसे ग्रन्थोंसे तमोगुण प्रधान चित्त प्रगट होता है। समस्त संसार मनुष्य, पशु पक्षी आदि सभी, इन तीनों गुणोंसे वेष्टित हैं। जो ज्ञानी पुरुष उक्त गुणोंके पहचाननेवाले हैं, वह ऐसे अनेक प्रकारके लेखोंको देखकर, लेखकके अन्तः-करणका चित्र देख कर आनन्दित होते हैं।

प्रिय सज्जनो! मैं भी पवित्र हृदय एवं आनन्द जनक मित्रोंकी सेवामे यह सूर्यकान्त रूपी चमकता हुआ मणि हिन्दीमें अनुवादकर उपस्थित करता हूं। यह रत्न मूल पुस्तकके रचयिताकी मौलिक रचना है। मानो उनके सुवर्ण रूप शरीर भूषणमें ही यह रत्न जड़ा हुआ हो—अव आप भी इस जड़ पदार्थ (रत्न) को देखिये। एवं अपने सुवर्ण रचित हृदयमें इसको जड़िये। इसको जडाईमें आपको विशेष व्यय नहीं करना होगा—और सुत प्रिय सज्जन अपने शुद्ध सत्वगुणकी परिसीमाके भीतर इस नगको सुवर्णकी अंगूठीमें जड़ेंगे—यही अभिलाषा है।

इस सूर्यकान्त मणिको सूर्यकी किरणोंके सामने रखकर देखनेमे विभिन्न गुणवाले पुरुषोंको जुदे जुदे रूप दिखाई देंगे।

उनमेंसे शुद्ध सतोगुणी ज्ञानी पुरुष तो केवल उसके स्वच्छ प्रकाशको ही देखेंगे। जैसे फोनो ग्राफके रिकार्डपर विशेष रूपसे तयार की हुई सुई लगा देनेसे मनोहर राग रागिनियां सुन पड़ने लगती हैं और अन्य प्रकारकी सुई लगा देनेसे कुछ भी आवाज़ नहीं निकलती, बल्कि रिकार्ड खराब हो जाता है। इसी तरह फोनोग्राफकी सुईको भी किसी अन्य बाजे ढोल, मृदङ्ग आदि पर लगाया जाये तो बाजेको बिगाड़ डालनेके सिवा और कोई लाभ नहीं होता है। उसी प्रकार सतो गुणी पुरुष और सतोगुणी ग्रन्थ मिलनेसे पाठकोंको वह आनन्द प्राप्त होता है, जो अकथनीय है। वैसा ही रजोगुणी पुरुषको राजसिक ग्रन्थोंसे और तमोगुणीको तामसी पुस्तकोंके पढ़नेसे आनन्द प्राप्त होता है। इस त्रिगुणमयी सृष्टिका वर्णन और कार्यादि भगवद्गीताके १७ वें अध्यायमें विस्तारपूर्वक वर्णित है।

अभीतक हम ब्रह्मविद्याकी एक सीढ़ीपर भी नहीं [illegible] हैं बल्कि पहली सीढ़ीका दर्शन भी नहीं किया है पर भ्रमविद्या की तो २६ सीढ़ियां चढकर ठीक ऊपर चढ़ गये हैं, जहाँसे चारों ओर दृष्टि डालने पर विस्तार पूर्वक एक विचित्र जाल बिछा हुआ नज़र आता है। इस भ्रम-जालको खण्डन करनेके लिये सत-पुरुषोंने वचन रूपी शस्त्र छोड़े हैं, उन्हीं शस्त्रोंका चित्र सूर्यकान्त मणिके ऊपर चित्रित है। उस चित्रका चित्रकार पुराने ढङ्गका जयपुरी है। या कैसा इसकी परीक्षा चित्रके जानने वाले सज्जन पुरुष ही कर सकेंगे।

गुजराती भाषामे यहांपर ३ कवित्त लिखे हैं, जिनका अर्थ यह है कि कोई कोई पाठक इस चित्रको १८ जगहसें टेढ़ा देखेंगे अर्थात् सैकडों दोष ढूंड़ेगे। कोई कहेगा कि इसके कान लम्बे हैं, कोई कहेगा अरे यह तो काला काला भूत हैं, कोई कहेगा इसके मस्तक पर नीलका टीका लगा है, इसके देखनेसे अपशकुन होगा, जिसकी जैसी बुद्धि होगी, वह चित्रको वैसा ही देखेगा। अन्धा तो उसमें कुछ भी देख ही न सकेगा ॥१॥

लकड़हारा इसको लकडीके बोझसे लटकावेगा और कहेगा वाह! खूब चिलकता हुआ पत्थर है। वन्दरोंकी टोली इसको देखते ही भागेगी और उसमें अपना चित्र (आत्मज्ञान) देखकर दाँत कट कटावेगा, पक्षी उसे ज्वारका दाना समझकर कूद कूदकर उसमे चोंच मारेंगे, गूंगा और वधिर इसपर हाथ फें[illegible] ताली वजाकर उंगलियोंके इशारेसे वतावेगा ॥२॥

सूर्यकान्त मणिके चित्रको अच्छे अच्छे चित्रकारोंके सम्मुख रखता हूं, वह अपनी प्रकृति और स्वभावके अनुसार गुण और दोष विचार कर देखेंगे। ऐसे गुणीजनोंकी वन्दना करता हूं, पराये छिद्र (दोष) देखनेवाले, मदान्ध और अहङ्कारी भेद वादियोंके हृदयमें भी इससे प्रकाश होगा, क्योंकि इस रत्नके धारण करनेसे कुमतिका विदारण होकर ज्ञानका प्रकाश होता है। यह ऐसा ही अमूल्य रत्न है।

यह सूर्यकान्तमणि अपने अपने गुण स्वभावके अनुसार जुदा जुदा गुण दिखावेगा। जो हो, सात्विक स्वभाववाले

धन्यवाद प्राप्त सज्जनोंके पवित्र चरण कमलोंमें यह सूर्यकान्त मणि रखता हूं, ब्रह्मादि वेदान्त विषयके अनेक ग्रन्थ बन चुके हैं और बन रहे हैं, उनके रचयिता और अनुवादक बड़े बड़े विद्वान हैं, उनके समक्ष मैं अल्पज्ञ क्या लिख सकता हूँ। परन्तु जिस दर्जेका मैं अल्पज्ञ हूं, उससे नीचे दर्जेके भी कदाचित अल्पज्ञ होंगे। जैसे पाठशालामें कोई बालक अ आ पढ़ता है, कोई ककहरा, कोई गिनती कोई पुस्तक आदि। उनमें जैसा तार तम्य रहता है, वैसा ही सन्तोंमें भी रहता ही है। जैसे गिनती पढ़ानेवाले को १ का अंक लिखाते हैं वैसे ही यह एकका अंक समझिये। दो का अंक तो मैंने अभी पढ़ा भी नहीं, यही एकका अंक गुरुजनोंको शुद्धा शुद्ध दिखाने और छोटोंको अनुकरण करनेको लिखा गया है। मैं सारे संसारको तो क्या पहचानूंगा अभी तो मैंने अपने आप (आत्मा) को भी नहीं पहचाना है, कि पूर्वमें मैं कौन था और अब क्या हूं और मोक्ष किस प्रकार होगी अथवा आगे किस योनिमें मेरा जन्म होगा। मुझ ऐसे अज्ञ पुरुषने १ तक जाननेवाले नवयुवक बच्चोंको रटानेके लिये पट्टी (स्लेट) रूप यह चित्र चित्रित किया है। और यह चित्र ऐसे ही अधिकारियोंके लिये मैं अर्पण करता हूं। यह चित्र कैसा खिँचा है। यह जाननेके लिये समदर्शी स्वभावके ज्ञानी पुरुषोंकी सेवामें उपस्थित करता हूं।

सहज ज्ञान प्राप्त होनेके लिये इस गल्पकी रचना इस प्रकार की है, कि इसमें परमार्थ और आत्मदर्श दो प्रकारके

तरङ्ग हैं, इन दो तरङ्गोंमे क्या क्या विषय हैं वह अनुक्रमणिकासे जाने जायगें।

अत· प्रिय पाठको! अव आप प्रारम्भसे इस पुस्तकको पढ़िये और आनन्दको प्राप्त हूजिये; तथास्तु,

सं० १९६२ कार्तिक शुक्लपक्ष पूर्णिमा	मूल लेखक कवि हर्षदराय सुन्दरलालमुनशी
प्रथम ज्येष्ठ शुक्ल ९ सं० १९८० को आरम्भ	हिन्दी भाषानुवादक श्रीशिवनारायण शर्म्मा मैत्र अध्यापक—ऋषिकुल विद्यापीठ हरिद्वार।

सूर्यकान्त और उसका हिन्दी अनुवाद।

प्राय. जिन भगवद्भक्तोंने श्रीमद्भागवतकी कथा श्रवण की है, उन्होंने सुना होगा, कि कश्यप मुनिकी दो पत्नियां थीं, एक कद्रु और दूसरी विनता। इनमेंसे कद्रुके उदरसे सहस्र अण्ड उत्पन्न होकर उनसे सर्पों (नागों) की उत्पत्ति हुई और विनताके दो अण्ड उत्पन्न हुए। जब उन अण्डोंको ५०० वर्ष हो गये और वह परिपक्व न हुए, तब एक दिन विनताने, यह देखनेके लिये, एक अण्डेको कच्चा ही तोड़ दिया, कि उसमें कुछ है भी या नहीं। उससे अरुणकी उत्पत्ति हुई और वह क्षीण अङ्ग थे। वह अरुण ही प्रत्यक्षसे चन्द्रमा हैं। उन्होंने माताको शाप दिया कि, अब तुम दूसरे अण्डको ५०० वर्ष तक छेड़ना नहीं और तबतक तुमको कद्रूकी दासी होकर रहना पडेगा। जब दूसरा अण्ड ५०० वर्ष पीछे परिपक्व हो जायगा तब उससे परम तेजस्वीरूप गरुड़ (सूर्य) उत्पन्न होंगे और वही तुमको दासतासे छुड़ावेंगे। इत्यादि। तात्पर्य यह है, कि प्रथम चन्द्रकी और पश्चात् सूर्यकी उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार सन् १९१० ई० में चन्द्रकान्त नामक वेदान्त ग्रन्थके प्रथम भागका गुजरातीसे हिन्दी अनुवाद हुआ। देसाईकी इच्छा उसे चार भागोंमें समाप्त करनेकी थी। गुजरातीमें उसके तीन भाग प्रकाशित भी हो गये, परन्तु चौथा भाग अद्यावधि प्रकाशित न हो सकनेके कारण वह अरुण वा चन्द्रमा की भांति अपूर्ण ही रहा। चन्द्रमामें १६ कला होती हैं। उसकी

तीन भागोंमें मानों १२ कला (ही प्रगट हो सकीं)। वह भी गुजराती भाषाके अभिज्ञ सज्जनोंको आनन्द देनेवाली हैं, हिन्दी भाषा जाननेवालोंका अवतक उसके दो भागो अर्थात् अष्टमीके चन्द्रमा तुल्य ही कलाके दर्शन हुए हैं। मैंने तीसरा भाग गुजरातीमें मंगवाकर देखा और उसे अपने मनोविनोदार्थ हिन्दी अक्षरोंमें भी लिखा एवं गुजराती प्रेसके मैनेजर महोदयको उसके छापनेके विषयमें प्रार्थनापत्र भेजा, परन्तु उसका उत्तर मुझे नही मिला। अवतक वह हाथका लिखा अनुवाद ज्योंका त्यों ही रक्खा है। १२ वर्ष पीछे अर्थात् १९२३ ई० में एक दिन पं० ज्येष्ठाराम मुकन्दजीके सूचीपत्रमें सूर्यकान्तका नाम देखकर अनुमान किया कि कदाचित् यह पुस्तक भी 'चन्द्रकान्त' हीके समान अपूर्व होगी। उनको पत्र लिखा पर समस्त पुस्तक वि[illegible]कर समाप्त हो चुकी थी, परन्तु महात्मा श्रीशिवसुतस्वरूपजी ब्रह्मचारी, जो प्रायः उन दिनों वम्बईमें विराजमान थे, उनसे प्रार्थना की गई तो पता लगा कि यह पुस्तक अहमदाबादमें एक वार मुद्रित हुई थी। अव नहीं मिलती है। अव उनके पुरुषार्थको धन्यवाद है कि उन्होंने १ वर्षमें पुस्तक तालाश कर किसी पुस्तक प्रेमी महानुभावसे लेकर मेरे पास दानरूपसे भेज दी, तात्पर्य यह कि चन्द्रकान्तके प्रकाशित होनेके १२।१३ वर्ष पीछे सूर्यकान्तके हिन्दीमें प्रकाशित होनेका सुअवसर प्राप्त हुआ है। इसके स्वत्व-अधिकारी पारिख श्रीहरगोविन्ददास हरजीवनदासजी अहमदावाद निवासीका मैं परम कृतज्ञ हूँ,

जिन्होंने मेरे पत्रको पढ़ते ही इसका हिन्दी अनुवाद परिवर्द्धित रूपसे करनेके लिये सहर्ष स्वीकृति दे दी। मैं आशा करता हूँ कि जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशसे चन्द्रमाका प्रकाश बढ़ता है, उसी प्रकार, सूर्यकान्तके हिन्दीमें प्रकाशित होनेपर पाठकोंके चित्त कमल इस प्रकार प्रफुल्लित होंगे, जिस प्रकार सूर्योदयके समय कमल विकसित होते हैं। एवं चन्द्रकान्तके पाठकोंको इसमें अत्यन्त रुचि होनेकी सम्भावना है, क्योंकि मुमुक्षु पवित्रान्त करण शील, महानुभाव ही इसको क़दर (प्रतिष्ठा) जानते हैं।

"शाक वणिक जाने कहा, मणि माणिककी बात।"

विनीत—

अनुवादक

प्रार्थना.

ॐ तत्सद्ब्रह्मणेनमः । मङ्गलम्

यस्माज्जातं जगत्सर्वं यस्मिन्नेव विलीयते ।
येनेदं धार्यते चैव तस्मै विश्वात्मने नमः ॥ शंकर ॥

जिससे यह सारा संसार उत्पन्न हुआ है और जिसमें लीन होता है, और जो इसको धारण करता है, उस विश्वके अन्तर्यामीको नमस्कार है ।

योदेवोऽग्नौयोऽप्सुयो विश्व भुवन माविवेश,
य ओपधिषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमोनमः ॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् ।

जो देव अग्नि और जलमें है, जो समस्त जगतमें व्याप्त है, जो सब ओषधियों और वनस्पतियोंमें है, उस देवको वारम्बार नमस्कार है ?

ॐ नमस्ते सतेतेजगत्कारणाय नमस्तेचिते सर्वलोकाश्रयाय ।
नमो द्वैततत्वायमुक्ति प्रदाय नमो ब्रह्मणे व्यापिनेशाश्वताय ।

हे सतरूप, जगत्के कारण, ज्ञानस्वरूप, सर्वलोकोंके आश्रय, अद्वितीय मुक्तिदाता, नित्य तथा सर्वव्यापी परब्रह्म तुमको नमस्कार है ।

वयंत्वांस्मरामो वयंत्वांभजामो वयंत्वांजगत्साक्षिरूपंनमामः ।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं भवाम्भोधिपोतं शरण्यं ब्रजामः ॥

जगतके साक्षीरूप आपको मैं याद करता हूं, भजन करता हूं, नमस्कार करता हूं, आप सत्यस्वरूप, विश्रान्तिके स्थान, निरालम्ब हैं, भवसागरके पार करनेको आप जहाजरूप हैं, ऐसे एक ईश आपकी शरण हूं।

विदुर्यं नचित्रेन्द्रियाणिन्द्रियेशं
विजानाति यस्तानि नित्यं नियंता।
जगत्साक्षिणं व्यापकं विश्व वंद्यं।
चिदानन्द रूपं तमीशं प्रपद्ये ॥ ५ ॥

जिस इन्द्रियोंके ईशको मन और इन्द्रियां नहीं जान सकती हैं। पर जो इनका नियन्ता है, वह जान सकता है। उस जगतके साक्षी, सर्वव्यापी तथा विश्वके वन्दनीय चिदानन्द ईशकी शरण हूँ।

अणोरणीयान् महतोमहीयान्।
रवीन्दु ग्रहज्याभ गोलादिकर्त्ता ॥
यईशोहि सृष्टयादि मध्यान्त सत्य-
श्चिदानन्द रूपं तमीशं प्रपद्ये ॥ ६ ॥

जो छोटेसे छोटा और वडेसे वडा है और सूर्यचन्द्र, ग्रह पृथिवी तथा नक्षत्रादि ब्रह्माण्डोंका कर्त्ता, नियन्ता तथा सृष्टिके आदि मध्य और अन्तमें सदा एक रस रहनेवाला अनादि है, उस चिदानन्दरूप ईशकी मैं शरण हूँ।

यशोयस्य विश्वं समस्तं सदास्ते।
यदाभासनो भातियद्धं विचित्रम् ॥

न जानन्ति यं तत्वतो योगिनोऽपि ।

चिदानन्दरूपं तमीशं प्रपद्ये ॥ ७ ॥

सदा सकल विश्व जिसके वशमें है और जिसके आभाससे यह विचित्र विश्व भासता है और जिसको योगी भी तत्वतः जान नहीं सकते, उस चिदानन्द ईशकी मैं शरण हूँ ।

प्रथम तरंग ।

परमार्थ ।

सत्पुरुषोंके सहवास अथवा उनकी सेवा करनेसे उत्तम गुण ग्रहण करनेवाले शिष्यकी और मित्रकी वृत्ति सुमार्गपर जाती है। महात्मा भर्तृहरिने कहा है :—

> जाड्यंधियोहरति सिंचति वाचिसत्यं
> मानोन्नतिंदिशति पापमपा करोति,
> चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
> सत्संगतिः कथय किन्नकरोति पुंसाम् ॥

सत्पुरुषोंकी संगति बुद्धिकी जड़ताको दूर करती है, वाणीमें सत्यको सिंचित करती है, मान चढ़ाती है, पापको काटती है, चित्तको प्रसन्न करती है और सब दिशाओंमें कीर्तिको फैलाती है, सत्संगति मनुष्यके लिये क्या नहीं कर सकती ?

वे ही सत्पुरुष धन्य हैं जो परमार्थको न जाननेवाले पुरुषोंके अन्तःकरणसे अज्ञानरूपी तिमिरका नाश कर, उनके चित्तमें ज्ञानरूपी सूर्यकान्त (मणि) स्थापन करते हैं। उनकी विचार शक्तिको सरल मार्गमें चलाते हैं, त्रिविध तापको दूर कराते

हैं, विवेकके साथ मित्रता कराते हैं और सद्बोधामृतका प्राशन कराकर विरागका दर्शन कराते हैं।

एक ब्रह्म विद्याका जाननेवाला, योगानुभवी, जीवन्मुक्त स्थितिवाला महात्मा हिमालय पर्वतके गहन प्रदेशमें योगानन्द पूर्वक निवास करता था। वहाँ कितने ही मुमुक्षु सेवक उसकी सेवामें लगे रहते थे। उनमेंसे एक शिष्यका नाम देवशर्म्मा था। उसको जो जो शंकाएं होती थीं, उनका समाधान वह महात्मा किया करते थे। उनके वाग्विलासकी अनेक कथाएं सत्पुरुषोंके समागमसे सुनी गई थी। वह मेरे मन और कानोंको अत्यन्त प्रिय लगीं और उनका ही यह सग्रह है।

अत्यन्त परिश्रम कर, उत्तम रत्नोंकी माला बनवा सुवर्ण से जड़वाकर जौहरी हार बनाता है, वह हार रत्नकी कीमत (कदर) जाननेवालों हीके लिये तैयार करता है, लकड़ी बेचने वाले या कूँजड़ों (शाक वेचनेवालों) के लिये तैयार नहीं करता है।

एक घूरेपर एक कुक्कुट अपनी चोंचसे कुरेद कुरेद कर ज्वार बाजरेके दाने आदि चुन चुन कर खाता था। अनायास उसकी चोंचमें एक अमूल्य मानिकका दाना आ गया। यह दाना दश हजार रुपयेकी कीमतका, अत्यन्त प्रकाशमान और शोभायमान था, परन्तु उस दानेको पृथ्वीपर फेंककर, वह कहने लगा, कि अफसोस है कि तू निकम्मा पदार्थ मेरी चोंचमें आ पड़ा। तुझे देखनेमें अन्य कंकड़ पत्थरोंकी अपेक्षा अत्यन्त

तेज दिखाई पड़ता है, परन्तु वह किस कामका है? मैं तो तेरा मूल्य ज्वारके दानेके बराबर भी नहीं समझता। क्योंकि यदि ज्वारका दाना मेरी चोंचमें आया होता तो उससे मेरे पेटकी जठराग्नि कुछ शान्त होती पर तू तो बिलकुल निरुपयोगी है। यह कहकर उसने उस मानिकके दानेको लात मारकर दूर फेंक दिया। इसी प्रकार जो साक्षर ज्ञाता, ज्ञानी सज्जन और सत्य-वक्ता पुरुष हैं, समदर्शी स्वभावके हैं, वे ही लोग इस विषयके तत्व और रहस्यको देखेंगे और उसमेंसे राजहंसकी भांति गुणरूपी दूधको स्वीकार करेंगे। फिर उसे जमाकर दधि बनावेंगे फिर दधिको मथकर घृत निकालेंगे और उस घृतका उपयोग करेंगे। तथास्तु—

पहली लहर.

संत समागमका उत्तम फल।

श्लोक—कोऽहंकथमिदं जातंको वै कर्तास्य विद्यते।
उपादानं किमस्तीह विचारः सोऽयमीदृशः॥

मैं (जीव) कौन हूं? यह (जगत्) कैसे उत्पन्न हुआ है? इसका कर्ता कौन है? ऐसे विचारोंका नाम सद्विचार है, अर्थात् जीव, जगत और ईश्वर एवं ब्रह्म विषयक ज्ञानका साधन प्राप्त करनेमे उद्योग करना, इसीको पुरुषार्थ भी कहा जाता है।

शास्त्र दृष्टिर्गुरोर्वाक्यं तृतीयश्चात्म निश्चय।
त्रिधैव यो विजानाति समुक्तो नात्र संशय॥

जिसकी शास्त्रमें दृष्टि है, गुरुके वाक्यमें विश्वास है, और जिसे आत्माका यथार्थ निश्चय है, जो इन तीनोंको यथार्थ जानता है, वह निसन्देह मुक्त है।

पतित पावनी भगवती भागीरथीके तीर, सुरम्य वृक्षलता-ओंसे आच्छादित, हिमालय पर्वतकी कन्दरामें, योगानन्द देवमुनि आनन्द पूर्वक विराजमान थे। उनके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका विक्षेप नहीं था, उनका मुख निरन्तर वाग्विलाससे प्रसन्न रहता था। इन मुनिदेवजीकी शरणमें मुमुक्षु स्थितिको प्राप्त, देवशर्मा नामक शिष्य रहता था। एक दिन उसने पूछा, महाराज! अनेक महात्माओंके श्रीमुखसे सुना है, कि संत

समागमसे उत्तम फल मिलता है। इस विषयका मुझे उपदेश दीजिये, जिससे आनन्द प्राप्त हो। "प्रज्ञानमानन्द ब्रह्म"

शिष्यके नम्र वचन सुनकर योगानन्द मुनि स्नेह पूर्वक उसकी ओर देखकर बोले—हे भाई, इस पृथ्वीपर धीरे धीरे चलनेवाला अल्प शक्तिवाला कीड़ा, जो साधारणतया हाथका स्पर्श करनेसे भी मृत्युको प्राप्त हो सकता है, उसे उठाकर भ्रमर अपने बिलमे ले जाता है। परन्तु सत्संगकी महिमाको देखो, कि वह भ्रमरके सत्संगसे कुछ कालमें पंखोंवाला; श्यामरंगका तेजस्वी बनकर आकाशमें गमन करनेवाला भ्रमर बन जाता है। उसकी पीठ-पर पीला चिन्ह भी बन जाता है।

"कीट भृङ्ग ऐसे उर अन्तर। मन स्वरूप करि देत निरन्तर॥
लोह हेम पारसके परसे। या जगमें यह सरसे दरसे॥"

पीताम्बरधारी श्यामरूप भ्रमरके सत्सङ्गसे यह प्रत्यक्ष उदा-हरण मिलता है। किसी महात्माका वचन है कि "वंशी विभूषित करान्नवनीरदाभात् ।पीताम्बरादरुण बिम्ब फलाधरो-ष्ठात्। पूर्णेन्दु सुन्दर मुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपित-त्वमहं न जाने॥" अब विचारनेकी बात यह है, कि पहले वह कीड़ा था, वह कीडा धरतीपर धूलमें एवं दुर्गन्धित स्थानोंमें पराकाष्ठाकी मन्द गतिसे चलता था और तुरन्त विनाश पाने वाली स्थितिमें था, पर भ्रमरके सतसङ्गसे भ्रमररूप ही नहीं बल्कि भ्रमर ही हो गया। इसी प्रकार "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" परन्तु "सो जाने जिहि देहु जनाई जानत तुमहिं तुमहिं हुई

जाई ॥” भ्रमरका एक पर्याय मधुकर भी है। वह अनेक पुष्पों पर जाकर थोड़ा थोड़ा मधु ग्रहण करता है, पुष्पको कुछ भी पीड़ा नहीं देता, वल्कि अपने मधुर स्वरसे, अपने ही रागमें मस्त गाता हुआ, अनेक प्रकारके पुष्पोका रसपान करता है और अपने आनन्दमें मग्न रहता है। इसी प्रकार ज्ञानी जन, अनेक महात्माओंके विरचित ग्रन्थरूपी रंग-विरंगें पुष्पोका :सार भाव ग्रहण करते हुए, अनहद गुंजारवकी वरु ध्वनिमे, जिसमें १० प्रकारका शब्द होता है। उनमें ‘श्यामकी वंशी ध्वनि’ में अपने मन और इन्द्रियोंको लगाकर आनन्दमें मग्न रहते हैं। इसी सत्सङ्गके प्रभावसे पुष्पोंके मकरन्दमेंसे रस लेनेवाले भ्रमरकी भाँति अथवा अपने तीव्रदन्तोंसे कठिन बांसमे छेदकर उसमें प्रवेश करता है। उसकी जिह्वा कठिन बांसरूपी मलिन विकारोंको छेदकर, उनके दुर्गण अवलोकन करनेकी शक्तिरूप भ्रमर हुआ एवं मजुल खिले हुए कमलमें मग्न होकर निवास करनेवाला हुआ। हे शिष्य! उस कीड़ेके पास कुछ भी साहित्य नहीं था। इसी प्रकार वाल-अवस्थामें हमारे पास भी कुछ साहित्य नहीं होता है। पर सत्पुरुषोंके सत्सङ्गसे भ्रमरको ऐसा फल मिला। इसी प्रकार गुरुजनोंकी सेवा कर, उनके प्रसाद और अपने पुरुषार्थके वलसे साहित्याचार्य वन जायें तो क्या आश्चर्य है। अतएव सद्बोध प्राप्त करनेवाले जिज्ञासुको सत्पुरुषोंकी सेवा करनी चाहिये।

हे शिष्य! तुझको इस दृष्टान्तमें कदाचित् यह शंका हो

कि उस अज्ञानी कीड़ेको सत्पुरुषरूपी भ्रमर उठा ले गया, तब ही वह कीड़ेसे भ्रमर हो सका। इस दृष्टान्तमें उस कीड़ेने अपने हितके लिये कुछ भी पुरुषार्थ नहीं किया। इसका समाधान यह है, कि जो महात्मा सत्पुरुष परम दयालु और परोपकारी होते हैं, वह अपना कल्याण करनेमें अशक्त अज्ञानी जनोंको उत्तम ज्ञान देकर उनका जीवन सुधारते हैं। इस दृष्टान्तमें कीड़ारूप अज्ञानी पुरुष अपना हित नहीं जानता और न सत्सङ्ग करना जानता है। ऐसे अज्ञानी लोगोंको पूर्व संस्कार योगसे भ्रमररूप सत्पुरुष मिल जाते हैं और उन्हें अपने सदृश बना देते हैं।

हे शिष्य! सन्त समागमके परिणाम बतानेवाली एक कथा सुनाता हूँ, चित लगाकर सुन। एक आनन्दमें मग्न रहने वाला महात्मा ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी साधु, वन उपवनोंमें विचरता हुआ श्रीगङ्गाजीके तटकी ओर जाता था। मार्गमें एक वृक्षपर एक मनुष्य कुल्हाड़ीसे एक डाली काट रहा था और जिस डालीको वह काट रहा था, उसीपर खड़ा था। भला "कौन बैठकर डालपर काटे सोई डार" ? ऐसे समयमें उस वृक्षके पास होकर वह ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी साधु आ निकला। उसने विचारा, कि उस डालीके कटते ही यह अज्ञानी पुरुष लकड़ीके साथ ही धरती पर गिरकर चोट खायेगा अथवा मर जायगा या कष्ट भोगेगा। कुछ न कुछ दुःख इसे अवश्य होगा। यह विचारकर उस परोपकारी दयालु साधुने उस लकड़हारेकी ओर देखकर कहा—तू

जिस डालपर वैठा है, उसीको काटता है। इस डालीके साथ ही तू भी धरतीपर गिर पड़ेगा और मरेगा। यदि मरा नहीं तो चोट तो अवश्य ही लगेगी और दुःखी होगा।" साधुका वचन सुनकर उस मूर्खने कहा, कि ऐसा। क्या तू परमेश्वर है, कि भविष्यकी बात पहले हीसे कह देता है। तेरे समान लंगोटिये जोगी बहुत मारे मारे फिरते हैं। मैं तेरी बात नहीं मानता। साधुने उत्तर दिया—क्या तू परमेश्वरको पहचानता है? इसके उत्तरमें मूर्ख लकड़हारेने उत्तर दिया कि नहीं, मैं तो नहीं पहचानता पर अनेक लोगोंके मुखसे यह सुना है कि जो परमेश्वर हो, वही भविष्यवक्ता हो सकता है।

साधुने कहा कि तब तो मैं तुझसे प्रथम ही कह देता हूँ कि तू धरतीपर अवश्य गिर जायगा। लकड़हारेने कहा कि तू कोई परमेश्वर नहीं है जो तेरी बात सच्ची हो जायगी। उसकी जड़ बुद्धि और दुराग्रह देखकर साधु वहांसे आगे चला गया। थोड़ी देर पीछे सचमुच वैसा ही हुआ कि जिस डालीपर वह मूर्ख लकड़हारा खड़ा था, वही डाली कड़कड़ाती हुई धरतीपर गिरी और साथ ही लकड़हारा भी एक तरफ जा गिरा। पर इतनी कुशल हुई कि उसे विशेष चोट नहीं आई। वह झट उठ खड़ा हुआ और अपनी कुल्हाडी और लकड़ी बांधनेकी रस्सी वहीं छोड़कर उस अगम भाषण करनेवाले परमेश्वरको खोजने लगा और बड़ी तेजीसे जिधर वह साधु गया था, उधर ही दौड़ पड़ा। थोड़ी ही देरमें उसने दूरसे उस साधुको जाते हुए देखा। देखते

हो बड़े जोरसे पुकारने लगा, ओ परमेश्वर! ओ परमेश्वर!! ओ परमेश्वर!!! खड़े रहो। खड़े रहो! उस महात्माने पीछेकी ओर देखा तो पहचान लिया कि यह वही लकड़ी काटनेवाला है। दौड़ता और पुकारता हुआ अपने पास चला आता है। तब साधु महाराज शान्त वृत्तिसे एक वृक्षके नीचे खड़े हो गये। इतनेमें वही लकड़हारा समीप आ पहुंचा और उसने उस साधुके चरण कमलोंमें माथा नवाया। दण्डवत प्रणाम कर पृथ्वीपर पड़ा ही रहा। यह देख कर उस दयालु साधुने उसे आज्ञा दी—हे-भाई, अब उठ खड़ा हो और यह बतला कि तू मेरे पीछे क्यों दौड़ता आया है? क्या तुझे मुझसे कुछ काम है?

लकड़हारा बोला—"महाराज! आप तो सचमुच परमेश्वर हो। आपकी बात सच हुई। अब तो मुझे परमेश्वर मिल गये। इस कारण आपको छोड़कर अब घर नहीं जाऊँगा।"

साधु—यह क्या? तेरे स्त्री पुत्र घरपर तेरी वाट देख रहे होंगे। तू जब लकड़ी वेचकर पैसे ले जायगा, तब तेरे परिवारका उदर पालन होगा। इस कारण तेरे गये बिना वे सब व्याकुल और दुःखी होंगे। अतएव तू अपने घरको चला जा।

लकड़हारा—महाराज! हमारे गांवके समीप एक बाबाजी रहते हैं। वह नीचे सिर और ऊपरको पांव किये बारह वर्षसे माला फेरते हैं, तो भी उनको परमेश्वर नहीं मिला है। बल्कि घर घरसे घृत और गुड़ लेकर लड्डू रोज खाते हैं, और अनेक स्त्रियोंको झाड़ा भी करते हैं। उनके तपके प्रभावसे उन्हें सन्तान

हो जाती है, पर उस बाबाको अभीतक परमेश्वर नहीं मिला है और मुझ भाग्यशालीको रास्ता चलते हुए परमेश्वर मिल गया। इस कारण अब मैं तो आपका साथ छोड़नेवाला नहीं हूँ। चाहे आप मुझे मार डालें, चाहे टुकड़े टुकड़े कर डालें, तो भी मैं आपका साथ नहीं छोड़ूंगा।

साधुने दया दृष्टिसे उसकी ओर देखकर कहा—ठीक ठीक, यह तो ठीक है पर तू मेरे साथ रहकर खायगा क्या?

लकड़हारा—महाराज, जो आप खाते होंगे, वही मैं भी खाऊँगा।

साधु—जो तुझे मेरे साथ रहना है, तो मैं जो आज्ञा दूँगा वही तुझे माननी होगी और उसके अनुसार चलना पड़ेगा।

लकड़हारा—हमारे गांवमें एक टीका जोशी रहता था, वह कहा करता था, कि जो परमेश्वरकी आज्ञा नहीं मानता है, उसे नरक मिलता है। इस कारण मैं आपकी सेवा सुश्रूषा और आज्ञा पालन अवश्य करूँगा। उसकी ऐसी दृढ़ श्रद्धा देखकर उस साधुने उसे अपने साथ रहनेकी आज्ञा दे दी।

अब यह शंका उठती है कि ऐसे मूर्खको (अर्थात् जो अज्ञानी है और मुमुक्षुत्वकी स्थितिको अभी नहीं पहुँचा है) उस सत्पुरुषने अपने साथ क्यों रक्खा और यदि रक्खा भी तो उसे ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होगा? इसका समाधान यह है, कि उस ब्रह्मवेत्ता साधुने उसे देखते ही उसकी परीक्षा कर ली, कि यह कितने ज्ञानका अधिकारी है और किस किस साधनका

इसमें कितना कितना अंकुर है। अर्थात् उस लकड़हारेमें शमादि षट् संपत्तिके लक्षण देखे थे।

शम, दम, उपरम, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान ये ६ साधन संपत्ति हैं।

यह लकड़हारा निर्धन था। इसलिये उसके अन्तःकरणमे विषयोंको प्रेरणासे जैसे विचार होते हैं, वैसे उत्पन्न नहीं होते थे। अतएव उसके मनका निग्रह स्वतः ही हो रहा था। इसीको साधुने शम साधन मान लिया था। इसी प्रकार उस निर्धनको, इन्द्रियगण अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंके भोग भी प्राप्त नहीं हो सकते थे और न उनकी इच्छा ही होती थी। अर्थात् नेत्रोंसे उत्तम वस्तु देखता था, पर वे बिना द्रव्यके उसको प्राप्त नहीं हो सकती थीं, कानोंसे मोह उत्पन्न करनेवाली बातें सुनता था पर उनसे लाभ नहीं उठा सकता था। बड़े बड़े बागोंके समीप अच्छे अच्छे पुष्पोंकी सुगन्ध सूँघता था, पर अपना बाग नहीं लगा सकता था। किसी पदार्थको दूरसे देखनेसे क्या अपनी वस्तुके समान उसपर मोह हो सकता है? जीभसे मीठा, खट्टा, कटु, तिक्त, कषायादि रस वह अवश्य चख सकता था, पर वे उसे कहां मिल सकते थे? इस कारण बहिरिन्द्रियाँ तो उसकी स्वतः ही दमन हो चुकी थीं अर्थात् उन्हें रोकनेकी शक्ति उसमें स्वतः प्राप्त थी। यह दम सम्पत्तिका अंश उसमें देखा था।

वह लकड़हारा जिस डालीपर चढ़ा था, उसीको काट रहा

था और इस अज्ञानताके कारण वह डाल गिरते ही मैं गिर जाऊँगा, इस विवेक विचारकी उसमें शक्ति नहीं थी। ऐसे मूर्खको इस साधुने कहा, कि तू इस डालीके साथ ज़मीनपर गिर पड़ेगा। थोड़ी देरमें वैसा ही हुआ। यह लकड़हारा अपनी स्वाभाविक बुद्धि द्वारा यह मानता था कि इस प्रकार भविष्यकी बात परमेश्वरके सिवा दूसरा कोई कह नहीं सकता। यह उसका दृढ़ निश्चय था, और जब वैसा ही हुआ, तो उसने दृढ़ वृत्तिसे साधुको परमेश्वर मान लिया। इसको साधुने श्रद्धा-का अंश निश्चय किया और यह भी अनुमान कर लिया, कि यह श्रद्धा पूर्वक उपदेशको ग्रहण करेगा और इसी श्रद्धासे उसके मनका विक्षेप दूर होगा। इस अनुमानसे वह लकड़हारा समा-धान संपत्तिमें प्रवेश करेगा। वह लकड़हारा भयङ्कर जंगलोंमें, ग्रीष्म-वर्षा तथा हेमन्त ऋतुमें, वर्षा धूप और शीतमें, वस्त्रहीन भावसे रहनेके कारण सब कष्ट सहन करता हुआ काष्ठ काटनेके लिये विचरता था। इस बातपर ध्यान देकर महात्माने उसके शरीरमें तितिक्षा सपत्तिका होना निश्चय किया। फिर वह इस साधुको परमेश्वर मानकर श्रद्धा पूर्वक उसके सम्मुख खड़ा हो कहता था, कि परमेश्वर जो करता है, वह सत्य है। इस कारण उसमें उपराम सम्पति दिखाई पड़ती थी।

यद्यपि उसने विवेक द्वारा अर्थात् जान बूझकर ये छः सम्पत्तियां प्राप्त नहीं की थीं, तथापि निर्धन होनेके कारण, दुःख पूर्वक, मनको मारकर, उसने सभी सहन किया था। अत. यह

सम्पत्ति उसमें मौजूद थी। "जानि अजानि अग्नि जो छूवे वह जारे पै जारे।" इसी प्रकार इन सम्पत्तियोंके मौजूद होनेसे वह सत्पात्र ही सिद्ध हुआ। इसी लिये उस साधुने सोचा, कि जब वह सूर्यकान्त मणि रूपी सद्बोध प्राप्त करेगा, तब अवश्य ही वह सम्पत्तिको पहचानकर, मुमुक्षु पदका अधिकारी होगा। यही विचार कर उस साधुने उस लकड़हारेको अपने साथ रख लिया था। वह लकड़हारा सत्सङ्गसे ब्रह्मज्ञानको समझ सका और यथा समय जीवन्मुक्तकी स्थितिको प्राप्त हुआ। अहाहा! सन्त समागमकी ऐसी ही अनोखी महिमा है।

"शेष सारदा व्यास मुनि, कहत न पावें पार।
सो महिमा सतसङ्गकी, कैसे कहे गँवार।"

दूसरी लहर.

तुममें कौन है ? उसे पुरुषार्थ द्वारा पहचानो ।

परिच्छिन्न इवाज्ञाना तन्नाशे सति केवल ।

स्वयं प्रकाशते ह्यात्मा, मेघापाये शुभांनिव ॥

तात्पर्य यह कि आत्मा अज्ञानसे ढका हुआ है। जब अज्ञान नष्ट होता है, तब वह आप ही प्रकाशित हो जाता है। जिस प्रकार वर्षा ऋतुका बादल फटते ही सूर्यकी उज्वल ज्योति दिखाई देने लगती है, उसी तरह यह अज्ञानताका बादल फट जानेपर सूर्य तुल्य स्वयं-प्रकाशी आत्मा अपने आप प्रकाशित होता है। तात्पर्य यह है, कि आत्मा तो सब जगह प्रकाश है। यद्यपि आत्मा सभी स्थानोंमें प्रकाशित हो रहा है, परन्तु अज्ञानवश हमलोग देव, मनुष्य आदि शरीरोंको आत्मा मान लेते हैं—यही भ्रमका कारण है। इसी भ्रमके कारण आत्मा ढका रहता है। स्पष्ट दिखाई नही देता। परन्तु जब ऐसी अवस्था आ पहुंचती है, कि तत्वमसि प्रभृति महावाक्यों द्वारा यह विश्वास हो जाता है, कि आत्मा और ब्रह्म एक है, तब अज्ञानताके कारण जो मिथ्या भ्रम बना रहता है, वह नाश हो जाता है। और यह विश्वास हो जाता है, कि आत्मा सजातीय और स्वागत इन तीनों भेदोंसे रहित है और केवल स्वयं प्रकाशमान सूर्यके समान ही वह प्रतीत होता है।

एक दिवस एक शिष्यने अपने गुरुसे कहा—महाराज! आप कृपासिन्धु तथा तत्वज्ञ हैं। आपकी दयासे ही मेरी समस्त शंकायें दूर हो सकती हैं। अतः आप कृपाकर मेरे चित्तकी एक शंका दूर कीजिये। मैंने एकबार एक दोहा सुना था :—

सुघर सन्तके दरश हित, कर गिरि-कन्दर गौन।
कृपा पाय पुनि देखले, एर्द तुझमे कौन॥

अर्थात् सद्विचारको जाननेवाले श्रेष्ठ संतोंके दर्शनके लिये बड़ी बड़ी गिरि कन्दराओंमें यात्रा कर, कुछ काल वहाँ निवासकर उन पवित्र महात्माओंकी कृपा प्राप्त कर, उनसे तू निश्चय कर कि तुझमें आनन्द देनेवाला कौन है। हे गुरु! मैं भी अपने पूर्व संस्कार वश आपकी पवित्र सेवा करनेके लिये यहाँ आ पहुंचा हूँ। अब आप दया कर बताइये, कि इस शरीरमें कौन है? और जो है, वह किस प्रकार पहचाना जाता है? क्योंकि भगवद्गीतामें कहा है:—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्व दर्शिनः॥ ४।३४॥

हे अर्जुन, उस आत्मज्ञानको तू ब्रह्मवेत्ता गुरुके आगे दण्डवत् प्रणाम करके तथा प्रश्न और सेवा द्वारा प्राप्त कर, इससे प्रसन्न होकर वे तत्वदर्शी ज्ञानी गुरु तुझे ज्ञानका उपदेश करेंगे।

(१) चिद्घ नानकी टीका—हे अर्जुन! सब शुभ-कर्मोंका फल भूत जो आत्मज्ञान है, उसको तू अवश्य प्राप्त हो और

उसकी प्राप्तिके लिये यह उपाय कर। "आचार्यवान पुरुषो वेद" आचार्यके उपदेशसे ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है। इस कारण तू ब्रह्मवेता आचार्यों के समीप जाकर, प्रथम दण्डवत प्रणाम कर और उनकी सेवाकर तत् पश्चात् हे भगवन्! "कथंवन्धः कथं-मोक्षः काविद्या काचाविद्येति" अर्थात् आत्मा क्या है? मैं कौन हूं? किस प्रकार वन्धनमें वन्धा हुआ हूं, किस प्रकार मोक्ष प्राप्त कर सकता हूँ? इस प्रकार भक्ति श्रद्धा पूर्वक प्रश्न और उनकी सेवा करनेपर वे प्रसन्न होंगे और तत्वदर्शी ज्ञानवान गुरु तुझे उस आत्मज्ञानका उपदेश देंगे जो साक्षात् मोक्षरूप फलका देनेवाला है। इन पदोंके ज्ञानमें जो पुरुष अत्यन्त कुशल हो वह ज्ञानी है, और जिन पुरुषोंका संशय विपरीत भावनासे रहित है, जिन्हें आत्म साक्षात्कार हुआ है, उनका नाम तत्वदर्शी है। ऐसे ज्ञानवान तत्वदर्शी पुरुषोंके उपदेश द्वारा प्राप्त आत्मज्ञान ही मुझे प्राप्त कराता है अर्थात् श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु द्वारा किया हुआ उपदेश मोक्षरूप फलका दाता है। श्रुतिमें भी कहा है (तद्विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत्समि-त्पाणिक श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमिति) अर्थात् उस परमात्मा देवके साक्षात्कारके लिये यह अधिकारी पुरुष यथाशक्ति भेट हाँथमें लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जावे। यहां वहुवचन तत्वदर्शिनः आचार्यकी महानताके लिये कहा है। ऐसे एक ही गुरुसे शिष्यको तत्वज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है। वहु-तेरोंके समीप जानेकी क्या आवश्यकता है? पं० श्रीप्रणवा-

नन्दजीने लिखा है—ज्ञान क्या है, इसके जाननेके तीन उपाय हैं। प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा, यह तीनो स्थूल और सूक्ष्म भेदसे दो प्रकारके हैं। तत्वदर्शी गुरुदेवको भक्ति सहित दण्डवत् प्रणाम, "मोक्ष क्या है, ब्रह्म विद्या क्या है, अविद्या क्या है" इत्यादि प्रश्न और परिचर्या—शुश्रूषादि सेवा करना, इस प्रकार प्रकृति भक्तिके उदय होनेपर ही गुरु प्रसन्न होकर ज्ञानका उपदेश करते हैं। ज्ञान प्राप्त करनेका स्थूल उपाय यह है। और कूटस्थमें गुरुपदको लक्ष्य करके प्राणवायुको एक जगहसे दूसरी जगहमें यथा रीति (प्राणायाम द्वारा) फेंकना। इसके साथ ही साथ मन ही मन आयत स्वरमे प्रणव उच्चारण करना और मन ही मन जाननेका विषय प्रश्न करना। यह सब सूक्ष्म उपाय है। इस प्रकार सूक्ष्म क्रियासे मन विषय-संशय रहित हो जानेपर, गुरु दर्शन देकर, तत्वोंके स्वरूप प्रकाश द्वारा साधकके मनको आकृष्ट करके अन्तर्हित होते हैं। उस समय साधक या तो कोई अशरीरी वाणी सुनकर, नहीं तो कूटस्थमें उज्ज्वल अक्षरमें लिखी हुई भाषा पढ़कर, जाननेका विषय-समूह जान सकते हैं। अथवा अन्तःकरणमें ऐसा ही कोई भावान्तर आ पहुचता है कि जिसमें ज्ञातव्य विषय आप-ही-आप मनमें आकर उदय हो जाता है। इस प्रकार श्रवण, दर्शन, बोधन द्वारा संशय समूह दूर होकर निजबोधरूप ज्ञानावस्थामें वे उपनीत होते हैं। आलोचना पं० श्रीरामदयाल मजुमदार एम० ए० कृत। अर्जुन—ज्ञान प्राप्त होनेका उपाय कहिये।

भगवान—"तद्विज्ञानार्थं—सगुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्म निष्ठम् ॥" इति श्रुतेः। ज्ञानकी प्राप्तिके लिये गुरु आवश्यक है। मातेव हित कारिणी श्रुतिमें यह विधि कही हैं, कि भगवान ही हमारा गुरु है, तव मनुष्य गुरुसे हमें क्या प्रयोजन? और जो यथार्थ वातको शास्त्र दृष्टिसे जान कर भी किसी स्वार्थ सिद्धिके लिये वा साम्प्रदायिकताके लिये श्रुतिका विकृत अर्थ करते हैं, उनको यह जानना उचित है, कि अपना तीर अपनेको नहीं वेध सकता है। इसी प्रकार विना गुरुके उपदेशके तत्वदर्शन हो नहीं सकता। इसी कारण भगवानने गुरुरूपसे ज्ञान उपदेश दिया है। शिष्य श्रीगुरुके वाक्यामृतका पान करते करते जव समान चित्त वृत्तिके सङ्गम जनित सुखको आस्वादन करे तव श्रीगुरुको भगवान अनुभव करके धन्य धन्य कहता हुआ कृत कृत्य हो जाता है।

अर्जुन—किस प्रकारका शिष्य ज्ञानका पात्र है?

भगवान—"कृतकार्य" 'निराकांक्षं' "प्राञ्जलिं प्ररतः स्थितम्" "ज्ञानापेक्षं"—जो समस्त कर्म करता है, पर आकाक्षा कुछ नहीं, सन्मुख हाथ जोड़कर ज्ञानकी इच्छासे खड़ा है—ऐसे पात्रको देखकर श्रीगुरु कहते हैं "निष्कलमषोऽयं" "ज्ञानस्यपात्रं" "नित्य-भक्तिमान" यह शिष्य निष्पाप हुआ है—यह नित्य भक्तिमान है—ऐसा नहीं है, कि एक दिन भक्ति रही, फिर दूसरा भाव हो गया—वही ज्ञानका पात्र है।

अर्जुन—शिष्य! किस भावसे गुरुके समीप कार्य करे?

भगवान—कुशा हाथमें लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप उपस्थित होवे, श्रीगुरुको दण्डवत् और महाराज मैं कौन हूं ? कैसे इस भव-बन्धनको प्राप्त हुआ हूँ ? किस उपायसे हमारा भव-बन्धन छूटेगा ? किस उपायसे अविद्यासे छूटकर मैं अपने रमणीय दर्शनको प्राप्त होऊँगा और निजरूपसे मिल सकूंगा ? शिष्य मृतवत् गुरुकी सेवा करके उन्हें प्रसन्न करे। ऐसे शिष्यको ज्ञान प्राप्त होता है। किन्तु जो शिष्य गुरुके समीप सम्मान चाहे, वह शिष्य नहीं है। वह तो अहं ज्ञानका शिष्य है।

अर्जुन—ज्ञानी किसे कहते हैं ? यह तो आपने बताया, पर तत्वदर्शी क्या होता है ?

भगवान—ज्ञानी ग्रन्थज्ञ। तत्वदर्शी—अनुभवकर्ता। गौरवके लिये बहु-वचनका प्रयोग हुआ है—तात्पर्य यह कि जो गुरु ज्ञानी भी हो और तत्वदर्शी भी हो, वही आत्म साक्षात्कार करा सकता है। केवल शास्त्रज्ञ वा केवल तत्वदर्शी दूसरे शिष्यको साक्षात्-कार नहीं करा सकता। यह मेरा मत है। इससे लाभ क्या होता है। वह गीताके चतुर्थ अध्यायमें विस्तृत रूपसे बताया है।

ज्ञान पाय वह पुनि सखे, यह तोहि मोहि न होय।
मेरे अपने तुल्यतत्व, लखिहो जीवहि जोय ॥ ४। ३२ ॥

सो पापिन सों अधिक तुम, यदि पापिन सरताज।
सकल पापके सिन्धुको, तरिहो ज्ञान जहाज ॥ ३६ ॥

अग्नि करे जस काष्ठको, तुरतहि भस्म समान।
ज्ञान अग्नि सब कर्मको, भस्म करे तस जान ॥ ३७ ॥

संयम श्रद्धा दोउ सों, ज्ञान पाप नर सोय ।
ज्ञान लह्यो जिन मुक्ति तिस, अल्प कालमें होय ॥ ३६ ॥
विशेष भगवद्गीतामें देखिये (अनुवादक)

गुरु—हे मुमुक्षु ! तुमने यह वहुत ही अच्छा प्रश्न किया है कि मुझमें कौन है । तुम्हारे निर्मल अन्तःकरणके कारण ही इस प्रश्नका तुम्हारे मनमें प्रादुर्भाव हुआ हैं। जिसको आत्मज्ञान है, वह इस जगतको मिथ्या समझता है और जगतको मिथ्या जानकर भी ज्ञानी पुरुष जो व्यवहार करता है, उस व्यवहारको मिथ्या समझता हुआ ही आगे पग रखता है। इस विषय पर मैं तुझको एक कथा कहता हूं, ध्यान पूर्वक सुनो !

एक नगरमें किसी ब्राह्मणके दो विद्वान पुत्र थे। उनमेंसे एक प्रारब्ध (भाग्य) वादी था अर्थात् उसका मत था कि जो होन-हार है, वह होकर रहेगी। पुरुषार्थ करनेकी कुछ आवश्य-कता नहीं है, और दूसरा उद्योग (पुरुषार्थ) करनेहीसे फल मिलता है, यह समझता था। इन दोनों भाइयोंमें परस्पर विवाद हुआ करता था। केवल विवाद ही नहीं होता था किन्तु पुरु-षार्थको मुख्य मानने वाला अच्छे अच्छे ग्रन्थोंको अवलोकन करना और वड़े वड़े ज्ञानी गुणी आचार्योंकी शिक्षा मानकर आत्माको पहिचाननेका प्रयत्न करता था पर दूसरा चुप वैठा रहता था। किसी कविने कहा भी है—

छप्पे—गुरु विनु मिले न ज्ञान, भाग्य विनु मिले न सज्जन ।
तप विनु मिले न राज, वाह विनु हटे न दुर्जन ॥ इत्यादि ॥

गुरुके विना ज्ञान नहीं होता। यद्यपि अष्टाङ्ग योगपर, पातञ्जल दर्शन पर बड़े बड़े विस्तारित टीका ग्रन्थ बन चुके हैं। एवं हठ-योगमे नौली, गजकर्म, खेचरी, प्रभृति मुद्राएँ लिखी हुई हैं। पर यदि कोई विना गुरुके, पुस्तक देख कर, इनको करे तो शरीरमें रोग आदि पैदा हो जाते हैं। ऐसे कठिन विषयमें गुरुके विना अनुभव नहीं मिलता। इसी प्रकार पुरुषार्थ वादीने ग्रन्थावलोकन करके तोतारटन्त ज्ञान प्राप्त किया था, सप्रमाण दृष्टान्तकी भाँति उसको अनुभव नहीं हुआ था। पर उसका पूर्व जन्मका पुण्यशाली संस्कार था। इस कारण उसकी वृत्ति आत्मज्ञान सम्पादनमें दृढ़ रहती थी। पर भाग्यमें जो होना होता हैं, वही होता है, जगत अनादि है, आत्माको कोई समझ नहीं सकता। निराकार वस्तुको सादृश्य, सप्रमाण और अनुभवके सिवाय सत्य माना नहीं जा सकता। न इसमें पुरुषार्थ घट सकता है। ऐसी समझवाला उसका जो दूसरा भाई था, इन दोनोका सम्वाद हर समय हुआ करता था। परन्तु कोई किसीका शङ्का समाधान नहीं कर सकता था। अन्तमें पुरुषार्थ वादीने प्रारब्ध और कर्मके ऊपर आधार रखने वालेसे कहा, कि श्रीराम-चन्द्रजीको बोध कराने वाले गुरु वशिष्ठजीके पास चलो। वह हमारे तुम्हारे मतका निर्णय करेंगे। यह निश्चय कर दोनो अयोध्यापुरीमें जा पहुचे। वहां जाकर उन्होंने देखा कि श्रीरामचन्द्रजी गुरु वशिष्ठजीके निकट आत्मज्ञान सुन रहे हैं। उन्हें धनुष विद्याका भी अच्छा अभ्यास है। उन्हीं दिनोंमें

विश्वामित्र ऋषि यज्ञ कर रहे थे। उस यज्ञमें मारीच सुबाहु आदि राक्षस विघ्न करते थे। उस यज्ञकी रक्षा करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजीको राजा दशरथसे मांगनेका विचार निश्चय करके विश्वामित्र ऋषि अयोध्यापुरीमें पधारे थे। जब दरबारमें सूचना की तो राजा दशरथने अपने समीप बुलाकर उनकी यथायोग्य अभ्यर्थना की। सभामें एक तरफ राज-गुरु वशिष्ठजीका उच्च आसन था, उन वशिष्ठजीके नीचे कनकासनपर राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न बैठे हुए थे तथा अनेक तपस्वी ऋषि और मुनि विराजमान थे। आमात्य दीवान-प्रधान-न्यायाधीश कोपरक्षक, सेनापति और अनेक सज्जन अपने अपने स्थान और प्रतिष्ठानुसार बैठे थे, श्रीराम-चन्द्रजी वसिष्ठजीसे जो जो प्रश्न करते थे, उनके उत्तर गुरु वशिष्ठजी सुनाते थे। उत्तरों और गूढ़ विषयोको सुनकर सारी सभा चित्रवत् हो रही थी, सारी सभामे शान्तरूप निर्मल चादर बिछ रही थी। पक्षपात रहित वेद शास्त्रके वचन-रूपी सुधाबिन्दुके छींटें सब लोगोंको लग रहे थे, जिससे आधिव्याधि और उपाधिसे उत्पन्न हुए त्रिविध ताप शान्त हो रहे थे। जिस प्रकार अग्निसे शीतका नाश होता है, जिस प्रकार प्रचण्ड वायुके वेगसे बादल दूर भाग जाते हैं, जिस प्रकार बन्दूककी आवाज सुनते ही पक्षी तुरन्त उड़ जाते हैं; उसी प्रकार सभामें बैठे हुए गुणी और विद्वान पुरुषोंके अन्त.करणमेंसे त्रिपञ्जका नाश हो रहा था। श्रीरामचन्द्रजीकी शान्त कान्ति सबके

अन्तःकरणको शान्त कर रही थी। इसी समय ये दोनों ब्राह्मण कुमार भी सभामें जा पहुचे। उनको देखते ही राजा दशरथने उत्तम सत्कार किया। बैठने योग्य आसन दिया, नियमित समय तक श्रीरामचन्द्रजीको वशिष्ठजीने उपदेश किया; परन्तु चलता हुआ प्रसङ्ग पूर्ण नहीं हुआ था, कि इतनेमें वसिष्ठमुनिने उन विप्रकुमारोंकी ओर देख कर उनसे आनेका कारण पूछा। तब उन दोनोंने अपने अपने विचार मुनिराजसे निवेदन किये। इन दोनोंकी बातें सुनकर सभासहित राजा दशरथको भी आश्चर्य हुआ, कि देखें वशिष्ठ मुनि इनका क्या निर्णय करते हैं और क्या उत्तर देते हैं। वशिष्ठ मुनिने उनसे कहा, कि हे विप्रकुमार! तुम आज तो महान् प्रतापी राजा दशरथके मेहमान हो। इस कारण आज इसका उत्तर नहीं दिया जायगा। कल दो पहर पीछे इसका उत्तर मिलेगा। आज श्रीदरबारकी अतिथिशालामें सुख पूर्वक निवास कीजिये। यह कहकर गुरुवसिष्ठने मन्त्रीकी ओर देखा। तुरन्त ही मन्त्री गुरुजीके सम्मुख उपस्थित हो गया और गुरुजीने जो युक्ति उसको बतलाई उस युक्ति और आज्ञाके अनुसार तुरन्त उनके ठहरनेका प्रबन्ध करा दिया गया। इस समय रातके साढ़े आठ बज गये थे, कृष्णपक्षके कारण अन्धकारका सर्वत्र अधिकार हो रहा था। नित्य नियमके अनुसार सभा विसर्जित हुई और दोनों विप्रकुमार भी ठहरनेके स्थानकी ओर जानेको तयार हुए। एक चपरासी उनको ठहरनेका स्थान बतलाने गया और एक बड़े महलके

पास पहुँचकर इशारेसे बता दिया कि इसमें आप निवास कीजिये। उसमें ताला लगा है, यह उसकी ताली लीजिये। इसके अतिरिक्त मेरे लिये कुछ आज्ञा नहीं है। मैं अब अपने कार्यपर जाता हूं। यह कहकर और तालेकी कुञ्जी देकर चल दिया। उन ब्राह्मणोंने उस महलका ताला खोला, किवाड खोले और अन्दर जाकर देखा तो बिलकुल अन्धेरा पड़ा है, पुरुषार्थवादीने भाग्यवादीसे कहा—"भाई यह क्या? राज दरबारकी अतिथिशाला क्या ऐसी ही होती है? न दीपक है न कुछ। ऐसे स्थानमें अनजान आदमी कैसे प्रवेश कर सकता है?"

भाग्यवादी—भाई! हमारे भाग्यमे आज ऐसे ही स्थानमें ठहरना लिखा होगा।

पुरुषार्थवादी—भला कभी ऐसा हो सकता है! श्रीराम-चन्द्रजीकी सभामें महातत्ववेत्ता ब्रह्मनिष्ठ योगीन्द्र गुरु वशिष्ठ क्या हमारे लिये ऐसा स्थान ठहरनेको बतलाते? कदाचित् कुछ विचार न किया हो!

भाग्यवादी—भावी प्रबल है। देखो कि जो त्रिकालज्ञ हैं, वे भी अपने मिहमानका सत्कार करना भूल गये तो ये वसिष्ठ गुरु त्रिकाल ज्ञानी किस बातके हैं, भावी ही बलवान है।

पुरुषार्थवादी—तो क्या तुमने अँधेरे हीमें पडे रहनेका निश्चय किया है।

जड़वादी—हाँ, इसमें क्या शङ्का है?

जड़वादी तो होनहारपर भरोसा करके अन्धेरेमें भूमिशयन

कर रहा। यह देखकर पुरुषार्थवादीने कहा—अरे भलेमानस! हम प्रातःकालसे यात्रा आरम्भ कर, अबतक भूखे प्यासे हैं। जलके बिना कण्ठ सूख रहा है, अन्नके बिना भूखसे व्याकुल हो रहे हैं, पर तो भी तुम घोर अन्धकारमें लेट गये। मैं तुमसे क्या कहूं? यदि होनहारपर ही विश्वास कर लिया जावे तो उद्योगकी क्या आवश्यकता ही नहीं है? भूख और प्यास मारकर पड़े रहना और भाग्यके नामसे रोना है या इसमें कुछ हेरफेर करना है? भाग्यवादी बोला—"अब तो मैं यहांसे एक कदम भी आगे रखनेवाला नहीं। यह मेरा दृढ़ निश्चय है। पुरुषार्थवादीने अपने साथीका वचन सुना परन्तु उसको रुचिकर नहीं हुआ। उसे चैन नहीं पड़ता था। इतनेमें एक आदमी आया। उसने बाहर के किवाड़ बन्द कर लिये और चला गया। यह देख पुरुषार्थ वादीके मनमें आश्चर्य हुआ, कि बाहरके किवाड़ क्यों बन्द कर दिये गये। वह इसपर विचार करने लगा और मनमें कुछ उदास होने लगा कि अब तो बाहर निकलनेका भी मार्ग नहीं रहा। यदि किसीको पुकारें भी तो कोई न सुन सकेगा। इस बीचकी मञ्जिलमें तो बड़ा अन्धेरा है। इसलिये सीढ़ी टटोलकर, ऊपरकी मञ्जिलमें जाकर, खिड़कियां खोल दूं तो हवा लगने से चित्तको कुछ आनन्द प्राप्त होगा। यह विचारकर पुरुषार्थवादी अँधेरेमें भटकता-भटकता सीढ़ीके पास पहुच गया और सीढ़ी खोजकर धीरे-धीरे ऊपर चढ़, दूसरी मञ्जिलमें जा पहुंचा। टटोलते-टटोलते उसका हाथ एक खिड़कीपर जा पड़ा, उसने

खिड़कीकी सांकल खोल दी और थोड़ी देर खिड़कीपर खड़ा रहा। अव उसने चारों ओर देखा तो उसे ऐसा जान पड़ा कि आस-पास वाग लगे हुए हैं, पर उस वागमें कोई मनुष्य दिखाई भी न पड़ा। इस कारण निराश होकर वह फिर अंधेरे मकानमें घूमने फिरने और टटोलने लगा, पर कुछ हाथ न आया। अन्तमें निराश होकर फिर अंधेरेमें ही मस्तकपर हाथ रखकर एक कोनेमें वैठ रहा। भूख प्याससे व्याकुल होनेके कारण आलस्य आ रहा था। वह मनमे विचार करता था कि रामचन्द्रकी सभामें गुरु वसिष्ठने हमारा सन्मान करनेमें कोई कसर नहीं रक्खी फिर हमको दुःख देनेके लिये यह विना प्रकाश आदिका स्थान ठहरनेके लिये क्यों वतलाया? ऐसा तो कभी हो नहीं सकता था। यह कैसे हुआ! क्या उनका नौकर अविवेकी है, जो उसने हमको इस फन्देमें डाल दिया! शिव शिव शिव! परन्तु जीवको उद्योग किये विना फलकी सिद्धि नहीं होती। यह विचारकर वह फिर खड़ा हो गया और उस मकानकी दीवारपर हाथ फेरता-फेरता घूमने लगा। अव उसे एक खिड़की मिल गई। वह दीवारपर तो नहीं थी, वल्कि जमीनपर पांवके नीचे मालूम पड़ी। उस खिड़कीमें सिर्फ साँकल लगी हुई थी, टटोलकर उसने खिड़की खोली। वह एक जीनेका मार्ग था। उसमें होकर वह तीसरी मञ्जिलमें जा पहुंचा। उसमें भी वड़ा अंधेरा था पर वह निर्भय हो वहां भी चारों ओर टटोलने लगा तो उसे एक कोनेमें एक पीतलकी डिव्वी हाथ लगी। उसे पाकर

उसके मनमें कुछ आशा हुई। उसने डिब्बी खोल डाली। उसमें एक लोहेकी कुञ्जी थी। कुञ्जी पाकर वह विचार करने लगा कि इस डिब्बीमें कुञ्जी रखनेका कुछ कारण अवश्य होना चाहिये। यह विचारकर कुञ्जी हाथमें लेकर वह हरएक दीवारपर फिर हाथ फेरने लगा। अन्तमें दीवारमें एक अलमारी लगी हुई जान पड़ी जिसमे ताला लगा हुआ था। पुरुषार्थवादीने निश्चय किया, कि यह ताली इसी तालेकी होनी चाहिये। यह कल्पना कर उसने उस कुञ्जीसे वह ताला खोल डाला और आलमारी खोली। आलमारीके भीतर हाथ फेरा तो उसमे एक लोहेकी कील हाथ लगी। यह देख उस मनुष्यको धीरे-धीरे हिम्मत आती गई। प्रथम आलमारीकी कुञ्जी हाथ आनेसे आलमारीका भेद मिला था, तो अब इस लोहेकी कीलका भेद इस आलमारी हीमें होना चाहिये। ऐसी कल्पनाकर वह बड़ी सावधानीसे आलमारीमे चारों ओर हाथ फेरने लगा तो उंगलीसे एक छिद्र जान पड़ा। उस छिद्रमें वह लोहेकी कील जा सकती थी—अपनी स्वाभाविक कल्पनासे उसने कील उस छिद्रमे जोरसे दबाई तो आलमारीके भीतर एक खिड़की सी खुल गई और उसमें प्रकाश मालूम होने लगा। जब उसने ध्यानपूर्वक देखा तो उसमें कांचके फानूसमें एक दीपक जलता हुआ जान पड़ा। उलटी ओरसे उसने फानूस हाथमें लिया और खुली हुई आलमारीमे विशेषरूपसे तलाश करने लगा तो जलका घड़ा और चांदीका एक बड़ा

कटोरा हाथ आया और ३।४ कोथली (पोटली) हाथ आईं। इन सबको उसने बाहर निकाला। फानूसके प्रकाशमें तमाम चीजें उसे दिखाई पड़ीं। पोटली खोली तो उसमें मगदके लड्डू और पूरी पकवान, उत्तम-उत्तम प्रकारके पाये। घड़ेमेंसे उसने जल पिया और फानूस हाथमें लेकर चारो ओर तलाश करने लगा। अब उसने तीसरी मञ्जिलके और भी किवाड़ खोले और अन्दर प्रवेश किया। वहाँ जाकर देखा तो दो बड़े-बड़े पलङ्ग बिछे हैं उनपर मोटे-मोटे गद्दे और स्वच्छ चादर बिछी हुई हैं। तकिये लग रहे हैं, शयन करनेका सब सामान वहां मौजूद है। यह देखते ही उसे अपार आनन्द हुआ। तुरन्त हाथमें फानूस लेकर सीढ़ीके मार्गसे उतरकर अपने सोते हुए भाईके पास गया और उसे जगाकर ऊपर मकानमें लिवा ले गया। जिस जिस प्रकार उसने उद्योग किया था, वह सब हकीकत उससे कह सुनाई और साथ बैठकर दोनोंने भोजन किया और आनन्द-पूर्वक पलङ्गपर सो रहे।

प्रातःकाल हुआ तो उस मकानके बाहरी दरवाजेका ताला, जो रातको बन्द कर दिया गया था, उसे खोलकर इन ठहरनेवाले मुसाफिरोंको पुकार कर एक आदमी जोरसे यह कहता हुआ चला गया, कि तुम दोनों विप्रकुमारोंको प्रातःकाल श्रीराम-चन्द्रजी महाराजकी सभामें श्रीवसिष्ठ गुरुजीने बुलाया है।

यह सुनते ही दोनों विप्रकुमार तयार हुए और श्रीरामचन्द्र-जीकी सभामें जा पहुँचे। वहाँपर सत्कार पूर्वक उनको आसन

दिया गया। फिर उन दोनों विप्रकुमारोंकी ओर देखकर वसिष्ट मुनिने कहा कि कल सायँकालके समय जो आपने अपने-अपने प्रश्नका निर्णय कराना चाहा था, कहिये, अब आपको उस विषयमें क्या पूछना है?

विप्रकुमार—हे गुरु! हे महात्मा! आपने ऐसा उत्तम निर्णय कर दिया, कि उस विषयमें अब हम कुछ कह नहीं सकते। कुछ कहनेकी अब आवश्यकता ही नहीं रही।

वसिष्ठ मुनि—आपको अपने ठहरनेके स्थान हीमें उत्तर मिल गया है?

विप्रकुमार—हाँ, यह छिपी हुई वस्तु प्रयत्न करनेपर हमको अपने आप ही खोज करनेसे मिल गई है।

वसिष्ट—आपने समझ लिया कि इसी प्रकार प्रयत्न करके आत्मा पहचाना जाता है।

पुरुषार्थवादी—महाराज! इस भेदको मैं अच्छे प्रकार नहीं समझा हूं, कृपापूर्वक समझाइये।

वसिष्ठ—जो स्थान तुम्हें ठहरनेको दिया गया था, उस स्थानरूप इस अपने स्थूल शरीरको समझो। उस महलमें केवल अन्धकार था। और तेरे शरीरमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अर्थात् नेत्र, कान, जिव्हा, त्वचा और नासिका आदि हैं। अबतक अन्धकारमें वे प्रबल नहीं हुई थीं, परन्तु पुरुषार्थ करनेके लिये उन्हें किसने उत्तेजित किया था! इसका तुम विचार करोगे तो समझमें आ जायगा कि वह पुरुषार्थ करनेका विचार तेरे पूर्वके

संस्कारोंने ही प्रादुर्भाव किया था। उद्योग करनेके लिये तेरे स्थूल शरीरमें पाँच कर्मेन्द्रियां हैं। उनसे तू पुरुषार्थ कर सकता था, परन्तु तिमिररूप अज्ञान होनेके कारण उस अज्ञानकी स्थितिमें तूने उद्योग किया। तब उद्योग करनेसे सन्त समागमरूपी कुञ्जी ताला हाथमें आ गया। उस कुञ्जीसे उत्तम प्रकारके मार्गमें चढ़नेका दरवाजा तुमको मिला, और उस सद्‌बोधरूप कुञ्जीसे उस दरवाजेको तुम खोल सके। यद्यपि दरवाजेको तो तुम खोल सके थे, पर शरीरमें संकल्प विकल्परूप जो आवरण हैं, उस आवरणके कारण तुम्हें विशेष भटकना पड़ा होगा। हे विप्रकुमार! उस संकल्प विकल्परूपी आवरणको दूर करनेके लिये खुली हुई, आलमारीमेंसे एक लोहशलाका हाथ आई थी, उस आवरणरूपी लोहशालाकाको पहचानकर आनन्दपूर्वक उस शलाकाको अपने अधिकारमें करके दीपक (ज्ञान) का द्वार खोल सके थे। ज्ञानरूप दीपकको ढकनेवाली वह परदारूपी अन्धकार माया अर्थात् प्रकृति है। जब गुरुबोधरूपी कुञ्जी मिले तब मायाका आवरणरूप अंधकार यानी परदेको तुम उसी तरह दूर कर सकोगे, जिस तरह फानूसमें तुम्हें जो दीपक दिखाई दिया था और जिसके द्वारा तुम्हारे सब कार्य सिद्ध हुए थे। उसी प्रकार इस शरीरमें आत्माका प्रकाश द्विदल चक्रमें तुम्हें दिखाई पड़ेगा।

दीपकरूप आत्माके आस पास जो स्वच्छ कांचका फानूस था, उसी प्रकार शुद्ध सत्यांश अन्तःकरणकी निर्मल वृत्तियों द्वारा

ही आत्माका प्रकाश प्रतीत होता है, अर्थात् आत्माका चिदा-
भास ज्योतिरूप किरणे फैली हुई प्रत्यक्ष दृष्टि आती हैं, परन्तु
राजसी और तामसी वृत्तियोंमें दिखाई नही पड़ती हैं। हे
कुमार! ये सब बातें तुम्हारे शरीरमें समझनेकी हैं। इसलिये
तुम सद्गुरुकी सेवा करो "जो तुम्हारा अज्ञानरूपी तिमिरान्ध-
कारको ज्ञानाञ्जनकी शलाका द्वारा दूर कर, तेरा ज्ञानरूपी नेत्र
उन्मीलन कर सके" और मुमुक्षु हो, जिससे तेरी सारी वृत्तियाँ
संकल्प विकल्प रहित शुद्ध हो जावें। जब निर्मल बुद्धि रहेगी,
तब तुम आत्माका भेद जाननेमें समर्थ होगे।

पुरुषार्थी—हे महाराज! आपका उत्तर सुनकर मेरा हृदय
अत्यन्त शान्त हुआ है, आपकी अमृत, तुल्यवाणीका लाभ
लेनेके लिये मेरे अन्तःकरणमें पुरुषार्थकी जो प्रेरणा हुई, वह
पूर्वके संचित कर्मों हीके योगसे हुई है। यह मैं अच्छी तरह
समझता हूँ और आपकी शुभ आज्ञा पालनके लिये ब्रह्मवेत्ता सन्त
जनोंका सहवास अवश्य किया करूँगा।

जड़वादी—(वसिष्ठके प्रति) हे प्रभु! इस अपने भाई पुरुषार्थ
वादीके प्रतापसे मुझे आपके दर्शन प्राप्त हुए हैं और मेरे मनकी
सब शंकाएँ दूर हो गई हैं। अब अपने इस परम मित्रके साथ
रहकर मैं भी अपना जीवन सफल करूँगा।

वसिष्ठ—तथास्तु।

दोनों विप्रकुमार—हे गुरु! अब हम अपने नगरको जानेकी
आज्ञा माँगते हैं।

यह कहकर दोनों विप्रकुमार, वसिष्ठजीको सादर प्रणाम कर अपने नगरकी ओर चले गये और सत्संगसे दोनो जीवन्मुक्त स्थितिको प्राप्त हुए।

योगानन्द गुरुने अपने शिष्य देव शर्म्मासे कहा कि हे शिष्य! इस प्रकार पुरुषार्थ करनेसे ही तुममें कौन है, अर्थात् इस प्रश्नका उत्तर वही अचिंत्य अविकारी आत्मा पहचाना जा सकता है। यह आत्मा तुममें है, उसको पुरुषार्थ द्वारा ही पहचान सकेगा। यदि कहो कि पुरुषार्थ क्या है, तो ईश्वरके स्वरूपके जाननेका विषय अर्थात् साधन करना ही पुरुषार्थ है। सत्पुरुषोंके वचनोंपर श्रद्धा रख, उनकी आज्ञापालन करने और सन्मार्गमें चलनेसे तथा इस स्थूल देहमें जो विकार हैं, उन्हें पहचानकर उनपर अधिकार रखने और एकाग्र वृत्ति करनेसे तथा आत्मज्ञान प्राप्त करनेकी जो प्रणाली कही है, तदनुसार अपना व्यवहार करनेपर आत्मस्वरूपका ज्ञान होता है। इसलिये हे शिष्य! ज्ञान वतलावें, उसे श्रवण-मनन और निदिध्यासन करना पुरुषार्थ कहलाता है।

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचरा प्राणाः शरीरं गृहं।
पूजा ते विषयोपभोग रचना निद्रा समाधिस्थितिः॥
संचारः पदयो प्रदक्षिण विधिस्तोत्राणि सर्वागिरा।
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥

तीसरी लहर.

प्रकृति किसे कहते हैं ?

ब्रह्माश्रया सत्वरजतमगुणात्मिका माया अस्ति।

ततः आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुः वायोस्तेजः तेजस आपः अद्भ्यः पृथिवी॥ (तत्वबोधः)

ब्रह्मके सहारे सत्व, रज, तम, ये तीन गुणरूप माया हैं। ये तीनों गुण समान रहना मायाकी साम्य अवस्था है। इसी प्रथम अवस्थाको मूल माया भी कहते हैं। सांख्य शास्त्रवाले इस मायाको जगतका मूल (उपादान) कारण तथा प्रधान अव्याकृत भी कहते हैं। इस मायासे प्रथम आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायु ओर वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथिवी उत्पन्न हुई। इस प्रकार मायासे पांच तत्व उत्पन्न हुए। अथवा समझना चाहिये, कि ब्रह्मके आसरे सत्व, रज, तम तीन गुणरूप माया अभिन्नरूपसे स्थित है। जैसे अग्निमें दाहशक्ति अभिन्नरूपसे स्थित हैं 'अर्थात् दाहशक्ति भिन्न भी नहीं है और अग्निके आसरे भी है उसी प्रकार माया ब्रह्मसे भिन्न भी नहीं और ब्रह्मके आसरे भी है। अर्थात् ब्रह्ममें माया अनिर्वचनीय है। उसी मायासे शब्द तन्मात्रा उत्पन्न हुई। अब शब्दसे आकाश उत्पन्न हुआ, इस कारण आकाशमें शब्द गुण और आकाशसे स्पर्श तन्मात्रा उत्पन्न हुई, स्पर्शसे वायु उत्पन्न हुई, इस कारण वायुमें

शब्दःस्पर्श दोनों गुण हैं। वायुसे रूप तन्मात्रा उत्पन्न हुई, तिस रूपसे अग्नि उत्पन्न हुई। इस कारण अग्निमें शब्द, स्पर्श, रूप ये तीनों गुण हैं। फिर उस अग्निसे रस तन्मात्रा उत्पन्न हुई, उस रससे जल उत्पन्न हुआ, इस कारण जलमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस ये चारो गुण हैं और जलसे गन्ध तन्मात्रा उत्पन्न हुई। गन्धसे पृथिवी उत्पन्न हुई। इस कारण पृथिवीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांचो गुण हैं क्योंकि कार्यमें कारण गुण अवश्य होता है। इस प्रकार मायासे सूक्ष्म तन्मात्रा सहित पांच तत्व उत्पन्न हुए। जैसे माया त्रिगुण रूप हैं, उसी प्रकार पांच तत्व सत् रज तम तीन गुणरूप हैं और इन तीन गुणरूप पांचों तत्वोंसे संपूर्ण संसार उत्पन्न हुआ है।

दोहा।

जिनकी सत्ता ते सभी, जगत नचत अठयाम।
ऐसे माया पतिहिको, हर्षद करत प्रणाम॥

जिसकी सत्तासे सारा जगत नाच रहा है। ऐसा महामायाके पति (भगवान) को हर्षद (आनन्द देनेवाले ज्ञानी पुरुष) प्रणाम करते हैं।

शिष्यने अपने गुरुसे पूछा—हे महाराज! आप कहते हैं कि ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है, तो फिर यह देह भी मिथ्या है। इसी प्रकार जगतको मिथ्या तो मानते हैं पर जगत तो प्रत्यक्ष देखनेमें सच्चा जान पड़ता है, फिर इसे मिथ्या अर्थात् झूठा कैसे कह सकते हैं। और जब जगत सत्य मालूम होता

है, तब इस जगतका उपादान कारण भी कोई वस्तु होनी ही चाहिये। अतः यह जगत किससे उत्पन्न हुआ है? हे गुरो। जब मैं रात्रिमें आकाशको देखता हूं तब असंख्य चमकते हुए तारागण (गोले) दिखाई देते हैं, उन असंख्य तारागणों द्वारा सूर्यका प्रखर तेज इस पृथिवीपर पड़ता है, और चन्द्रमा रातके समय अपनी शीतल किरणोंसे आनन्द देता है। ऐसे अनेक ग्रह आकाशमें दिखाई पड़ते हैं। उन सबका बनानेवाला कौन है? पृथिवीपर की नाना प्रकारकी वनस्पतियां और अनेक प्रकारके जीवोंकी यह अद्भुत रचना, मन और वाणीकी समझमें ही नही आ सकती है, बड़ी गहन जान पड़ती है और उनमेंसे मनुष्य देह सबसे उत्तम जान पडती है। पर उनमें भी उच्च और नीच स्थितिवाले पुरुष देखे जाते हैं। कोई तो आनन्द करते हैं और कोई दु.खसे रोया करते हैं। कोई राज्य करते हैं, और कोई भीख मांगते हैं। अनेक लोग उत्तम पुरुषोंका अवलोकन कर ज्ञानी कहे जाते हैं और कितने ही मूर्ख, शठ, चोर, लबार, व्यभिचारी, दुराग्रही, लम्पट और मिथ्याभिमानी हैं। कितने ही महा ज्ञानी और तत्ववेत्ता हैं और कितने ही क्रोधी पुरुष परस्पर खड्गसे युद्ध करके कटते मरते हैं। कितने ही आशाकी तरङ्गोंमें अपनी देहको कष्टमें डालते हैं, कितने ही सन्तोषी हैं। कितने ही परोप-कार करनेमें अपने हृदयकी निर्मलता दिखाते हैं, कितने मरे हैं, कितने उत्पन्न हुए हैं। हे गुरो! जिस प्रकार स्थिर रहे हुए जलमें अनेक बुदबुदे होते हैं और उसीमें विलीन हो जाते हैं,

उसी प्रकार इस जगतका रङ्ग ढङ्ग दिखाई पड़ता है, वह क्या है? सो कृपा कर कहिये।

गुरु—हे शिष्य! तूने बहुत अच्छा प्रश्न किया है। तेरे उत्तम प्रश्नको सुनकर मुझे अतीव आनन्द प्राप्त हुआ है। तू जिस जगतको देखता है, उसका उपादान कारण प्रकृति (माया) है। वह इस प्रकार है, कि जहांतक जीव जो जो देखता और सुनता है और ब्रह्माण्डका जितना कार्य है, उसका उपादान कारण (जैसे घटका उपादान कारण मिट्टी) प्रकृति है। सत्व, रज और तम इन तीन गुणोंके विस्तार हीको संसार कहते हैं। इन तीनों गुणोंसे मिले हुए साम्य पदार्थका नाम प्रकृति है और जो तत्व (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) और उनका सूक्ष्मरूप यानी तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) इन सबको एकत्र करनेसे जो रूप बने, उसका मूल बीज प्रकृति है, और वह जड है अर्थात् वह अपने और परायेको नहीं जान सकती और न दूसरेके आधार विना रह सकती है। वह स्वतन्त्र है पर तो भी उसमें जड़ताका लक्षण रहता है, ऐसे लक्षणवाली प्रकृति परमात्माके आश्रयमें रहती है। इसी कारण उसे परमात्माकी शक्ति भी कहते हैं। जिस प्रकार पुरुषकी शक्ति पुरुषके विना किसी उपयोगमें नहीं आ सकती है, उसी प्रकार इस जगतका मूल ईश्वरकी शक्ति कहलाती है। कारण यह है कि वह ईश्वरके आधार यानी अधीन रहती है अर्थात् उसका जन्म नहीं है और अनादि है, किसीकी बनाई हुई नहीं

है। रूपान्तर होना उसका स्वभाव है और वह ईश्वरी-अनादि स्वाभाविक नियमानुसार होता है। सूक्ष्मरूपसे स्थूलरूप हो जाती है। उसीका कार्यरूप यह ससार है। कार्यरूप इन्द्रियोंका मूल स्वरूप नहीं जाना जाता है, पर कार्यरूप प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है, उस व्यापक एक रस अखण्ड परमात्माके स्वरूपको किसी प्रकारकी वाधा न देकर यह उसमे रहती है, और बुद्धिमें न आ सकें, ऐसे वड़े वड़े आश्चर्यजनक विचित्र कार्य ईश्वरकी सत्तासे किया करती हैं।* जिनका अन्त नहीं आता। प्रवाहरूपसे वे अनेक नामरूप धारण करते हैं और वह नामरूप नाशको प्राप्त हो जाते हैं।

प्रकृतिका रूप ऐसा आश्चर्यकारक है कि लिखा नहीं जा सकता है। उसी प्रकार इस मायाका स्वरूप भी लिखते और वर्णन करमें नहीं आता है परन्तु ऊपर लिखे लक्षणोंसे विचारशील उसका अनुभव करते हैं।

यथा कृत्रिम नर्तक्या नृत्यन्ति कुहकेच्छया।
त्वदधीनातद्ामाया नर्तकी बहुरुपिणी ॥ १ ॥
एतस्मात् किमिवेन्द्रजालमपरं यद गर्भवास स्थितम्।
रेतश्चेतनिहस्तमस्तकपदं प्रोद्भूतनानाङ्कुरम्।
पर्यायेणशिशुत्व यौवन जरा रोगैरनेकैर्वृ तिं।
पश्यत्यत्ति शृणोति जिघ्रति तथा गच्छत्यथागच्छति ॥२॥

---

* मायाका विस्तार हमारी पुस्तक 'स्वय बोध, में अच्छी तरह समझाया गया है।

विचार पूर्वक देखिये, कि इससे अधिक आश्चर्य और क्या है कि स्त्रीके गर्भाशयमें एक विन्दु वीर्य पड़ा और वह चैतन्यको प्राप्त होकर हाथ, पांव, मस्तक आदि अङ्ग विशिष्ट वन गया। फिर क्रमसे मनुष्याकार होकर मातृ-गर्भसे निकला और वाल्य यौवन और वार्द्धक्य दशाको प्राप्त हुआ। वह देखता है, खाता है, सुनता है, सूंघता हैं, अनेक रोग ग्रसित होता है, आता है, और ऐसे नाना प्रकारके नृत्य करके अन्तमे कहीं चला जाता है। और भी देखिये कि जीवको जन्मसे मृत्यु पर्यन्त क्षुधा होती है, प्यास होती है, शोक होता है, मोह होता है वन्ध होता है, मोक्ष होता है। तव विचार कीजिये, कि ये जन्म मृत्यु आदि किसको होते हैं? क्या चेतन जन्मता और मरता है? क्या चेतनको भूख प्यास लगती है? क्षुधा, पिपासा तो प्राणोका धर्म है, शोक मोह चित्तका धर्म है; वन्धन और मोक्ष तो जो कर्ता वनता है, उसको होता है, नकि चेतनको। शास्त्र इस माफिक इन्द्रजालके तोड़नेको सदा समझाता और स्मरण दिलाता है कि:—

नाहं जातो जन्ममृत्यु कुतोमे नाहं प्राणः क्षुत्पिपासा कुतोमे।
नाहं चित्तं शोक मोहौकुतोमे नाहं कर्ता वन्ध मोक्षौकुतोमे॥

यथेन्द्रजालिकः कश्चित् पाञ्चालीं दारवीं करे।
धृत्वा नर्नयते कामं स्वेच्छया वशवर्त्तिनीम्॥
तथा नर्नयते माया जगत्स्थावर जङ्गमम्।
ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्तं स देवासुर मानुषम्॥

दैवीह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥गीता ७।१४॥

आइनेमें मुखके तीन प्रतिबिम्ब एक साथ पड़ते हैं। वे किस प्रकार पड़ते हैं? और प्रतिबिम्बका उपादान कारण किरणों द्वारा क्या दर्शित होता है! इसका विचार करनेसे, प्रकाश विद्या द्वारा इसका रहस्य जान पड़ता और उससे पुरुष-प्रकृतिके सहवास सम्बन्धकी वृत्ति समझ सकता है। इस प्रकृतिका कार्य देखकर संसारमे अनेक नाम पुकारे जाते हैं। जैसा कि माया, प्रकृति, अजा, कुदरत, नेचर, स्वभाव, शून्य, शक्ति, योनि. सत्ता, अव्याकृत, आद्याशक्ति, प्रधान, पंचतत्व इत्यादि। इसके गुण, आकर्षण, विद्युत, ओरा, किरण, ईथर आदिका यदि विचार किया जावे तो सारी उम्रमें इन विचारोंका अन्त नहीं आ सकता है।

व्यापक, अखण्ड, स्वयंभू, अक्रिय, निर्गुण, कल्पनासे परे, परात्परगम्यसे अगम्य, चेतन, जिसका केन्द्र सर्वस्थलमें माना जा सकता है, ऐसा अनन्त एक रस, अनादि अनन्त एक तत्व-पदार्थ है, उसके आश्रित नाना स्वरूपात्मक (देश, काल, आकर्षण, विद्युत, तैजस, ओरा, ऑक्सिजन, हाईड्रोजन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, शीत, ऊष्ण, प्रकाश, भेद, सम्बन्ध, जाति, तम, अभाव, ईथर, सत्गुण रजोगुण-तमोगुण, पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्रा आदि समूहात्मक) एक प्रकृति नामक वस्तु है। वह अनेक विकारवाली और अनेक आकारवाली है। उस

प्रकृतिका पूर्ण अंश चादर अथवा जालके समान ब्रह्माण्डमें फैला हुआ है, परन्तु वह सर्वत्र समान रूप नहीं है। बल्कि अनेक प्रकारके रूप आकृतिवाला, नाना शक्तिमान और लचकवाली स्थिति (कोमलता-नजाकत) का स्थापक है। उसको सूक्ष्म ईश्वर वा शेषा कहते हैं। वह तत्व पदार्थ एक रस ब्रह्मका आच्छादन किये हैं। इस कारण उसे महाकारण भी कहते हैं।

वह प्रकृति—स्वप्रकाश चेतनके आश्रित होनेसे, उसमें दोनोके सम्बन्धके कारण स्वभावतः गति होती है। जोकि ब्रह्म अक्रिय है, वह अक्रिय चेतन प्रकृतिको गति देता है। समझनेसे भी यह बात कैसे हो सकती है! इसका समाधान उपनिषद ग्रन्थोंका रहस्य भी अपने आप समझमें नहीं आ सकता है।

हे शिष्य! इस स्थूल शरीरमें तीन गुण, पञ्चभूत और पञ्च तन्मात्रा आदिका प्रकृत स्वरूपमें जो समावेश है, वह प्रकृतिरूपसे ही व्याप्त है। उस प्रकृतिको जाननेवाली ज्ञान वृत्ति है, उस ज्ञान वृत्तिके द्वारा जो प्रकृतिके रूपको पहचानता है, वह अपने आत्माको पहचानता है और जबतक प्रकृतिकी सत्ताको नहीं पहचानता, तबतक मायाके जालमे फँसा हुआ पुरुष, जुदे-जुदे रङ्ग-ढङ्गमें भूलता भटकता, चढ़ता उतरता, जन्म मरणके चक्रमें पड़ा रहता है।

उस महाबलवती जन्मा प्रकृतिको जाननेके लिये बड़े बड़े विद्वान् पुरुषोंने नाना प्रकारकी कल्पनाएँ की हैं, अनेक महर्षियोंने मायाको आद्या शक्ति कहा है, कि उस आद्या शक्तिसे

ब्रह्मा, विष्णु और शिव प्रगट हुए हैं, और ब्रह्मको अपने पेटमें रखनेवाली अर्थात् ब्रह्मतत्वको आच्छादन करनेवाली, ऐसी प्रकृतिको आद्या शक्तिरूप कहकर चेतन माना है, जिसके लिये उन्होंने देवी भागवत, चण्डी आदि अनेक ग्रन्थ रचे हैं।

हे शिष्य! तुझको मैंने जो उपदेश दिया है, वह निरपेक्ष वेदान्तका रहस्य बता दिया है। इसे ध्यानसे स्मरण रखना।

ज्ञानी पुरुष ही शुद्ध ज्ञान-वृत्ति द्वारा जीव, ब्रह्म और प्रकृतिको पहचानकर जीवनमुक्तताको प्राप्त करते हैं। कोई विद्वान् भले ही हो जाय, विद्वान कहलावे—आचार्य कहा जावे, चाहे असंख्य मनुष्योंमें कीर्ति पानेवाला हो, तथापि जबतक वह मायाके जालमें फसा हुआ हो, तथा अहं भेदकी उलझनमें अटका हो, तबतक राग, द्वेष, असत्य, प्रपञ्च करनेमें पीछे नहीं हटता। हे शिष्य! ऐसे ही पुरुषोंको सन्त समागमकी आवश्यकता है। ऐसे ही पुरुषोंको यह जानना आवश्यक है, कि प्रकृति क्या है।

हे शिष्य! जो यह माया न होती तो यह जगत कहाँसे बनता। जो यह माया जीवके ऊपर (१ तुर्यापन २ आनन्द-मय कोश ३ व्यापक सूक्ष्म प्रकृति महा कारण शरीरपन ४ तैजसपन ५ सूक्ष्म शरीरपन ६ स्थूल शरीरपन ७ स्थूल तैजसपन इस प्रकार पदस्य ओत पोतपन न होता तो वह जीव द्रष्टा किस प्रकार कहा जाता! और वह द्रष्टा होकर क्या देख सकता! जब मायारूपी जीवके ऊपर ओत प्रेतभाव है तब उस माया-कृति मायारूप पञ्चभूतोंसे ही यह जगत उत्पन्न हुआ है। इसीसे

जगत और आकाशमे अनन्तग्रह उपग्रह बने हैं, इन सबका मूल कारण प्रकृतिको जानना चाहिये।

मायाका आवरण।

इसी मायाके जालमें वह जगत है जो हमें प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। आकाशमें गमन करनेवाले पक्षी अपने घोंसलेमें बैठे हुए बच्चोंके लिये जङ्गलमेंसे चोंचमें दाने लाते हैं। पर कभी कभी दैवयोगसे उड़ता हुआ बाज पक्षी आकर घोंसलेमेंसे चिड़ियोंके बच्चोंको उठा ले जाता है। उस समय उस बच्चेकी मां बाजकी अपेक्षा बिलकुल अशक्त और निर्बल रहनेपर भी अपने बच्चेको बाजके पजोंमें पकड़ा हुआ देखकर जहाँ-जहाँ बाज जाता है, वहां-वहां उसके पीछे चिल्लाती हुई उड़ती रहती है।

कुत्ती जब बच्चे जनती है, तब उनके पास किसीको आने नहीं देती है। वानरी अपने मरे हुए बच्चेको भी कई दिनोंतक नहीं छोड़ती है।

मनुष्योंमें एक दूसरेके साथ प्रेम रहता है, कोई किसीसे वैर करता है, कितने ही लोभसे द्रव्य संचय करते हैं, कितने ही सुख भोगते हैं, कितने ही धनके लिये विदेश जाते हैं, कितने ही युद्ध करके मरते हैं, यह सब प्रकृतिकी सत्ताका बल है। किसी कविने एक दोहा कहा है :—

मन माया वश नचत हैं, कौन बचावनहार ?
सोई बचावनहार है, सोई मिलावनहार ॥

यही माया पुरुषार्थ कराती है, यही सतसङ्गका योग कराती है, यही माया उत्पन्न करती है, यही स्थिर रखती है, यही लय करती है। यही माया विवेक ज्ञान द्वारा चित्तका निरोध कराती है, जिसके द्वारा जीव ब्रह्मकी एकता और मायाके चरित्रका चित्र चित्रित हो जाता है। यह माया अज्ञानी पुरुषोंको वैसा ही रङ्ग-ढङ्ग वता देती है, इस कारण हे शिष्य! इस प्रकार मायाका स्वरूप पहचानकर जीव और ब्रह्मके जाननेके लिये पुरुषार्थ कर।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभि जानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

गीता ७।१३

हे अर्जुन! पूर्व कहे हुए तीन गुणोंके विकार रूप तीन प्रकारके भाव और पदार्थ हैं, उन तीन प्रकारके पदार्थों होने प्राणी भावको मोहित किया है अर्थात् नित्य-अनित्य वस्तुके ज्ञानकी अयोग्यता प्राप्त की हैं। इसी कारण ये प्राणी मुझ परमात्माको नहीं जानते। मैं इन तीन प्रकारके भावोंके परे हूं और उन भावोंकी कल्पनाका अधिष्ठान स्वरूप हूँ तथा उन भावोंसे अत्यन्त विलक्षण हूँ। अव्ययमिति अर्थात् जन्म मरणादिक सर्व विकारोंसे रहित हूँ, इस दृश्य प्रपञ्चसे रहित हूँ, आनन्दघन हूं और अपने स्वयं ज्योतिरूप करके प्रकाशमान हूं तथा सर्व प्राणियोंका आत्मारूप हूं। इतना अत्यन्त समीप होनेपर भी ये प्राणी मुझ परमेश्वरको नहीं जानते हैं। स्थितिसे अभिन्न मुझ परमेश्वरको न जानने हीके कारण, सब प्राणी जन्म मरण-

रूप संसारको प्राप्त होते हैं ? इससे इन अविवेकी जनोंका बड़ा दुर्भाग्य है। सत्वादि गुण भावोने सब प्राणियोंको मोहित कर रक्खा है। यह बात अन्य शास्त्रोंमें भी कही है :—

इन्द्रियाभ्यामजय्याभ्यां द्वाभ्यामेव हतंजगत्।

अहो-उपस्थ जिह्वाभ्यां ब्रह्मादि मशकावधि ॥

अल्प यत्न द्वारा न जीतने योग्य उपस्थ इन्द्री है तथा जिह्वा इन्द्री ने ही ब्रह्मासे लेकर मच्छर पर्यन्त समस्त जगतका हनन किया है, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। यद्यपि अपने अपने विषयोंमें प्रवृत्त नेत्रादि सब इन्द्रियाँ इस पुरुषके अनर्थका हेतु हैं तथापि उन सब इन्द्रियोंमें उपस्थ और जिह्वा ये दो इन्द्रियां अत्यन्त प्रबल हैं, इससे इन्हीं दोनो इन्द्रियोंका यहां ग्रहण किया हैं।

चौथी लहर.

सत्पुरुष-वचन प्रताप।

वसन्त तिलक।

पद्माकरं दिन करो विकची करोति,
चन्द्रोविकासयति कैरव चक्रवालम्।
नाभ्यर्थितो जलधरोपि जलंददाति,
सन्त'स्वयं परहितेषु कृताति योगा॥

(भर्तृहरि)

अर्थात् सूर्य सब कमलोंको प्रफुल्लित करता है और चन्द्र सब कमोदनीके समूहको प्रफुल्लित करता है और मेघ प्रार्थना किये बिना जल देते हैं, इसी प्रकार सत्पुरुष पराया-हित करनेमें स्वार्थ रहित होते हुए उद्योग करते हैं।

शिष्य—हे गुरु! यद्यपि आपके वचनरूपी अमृतका निरन्तर पान करता हूं तथापि उसी तरह मेरी तृप्ति नहीं होती जिस तरह पतित पावनी भगवती भागीरथीके जलपानसे जीवकी तृप्ति नहीं होती है। देखिये—अन्नप्राशन करनेसे उदर तृप्त हो जाता है, शीतल जल पीनेसे तृषाकी शान्ति होती है, अत्यन्त धन मिल जानेपर प्राकृतिक सन्तोष प्राप्त होता है। दीपक दिखाई देनेपर अन्धकारका नाश होजाता है, ये सब नियमित हैं, पर आपके समागमसे आपकी सुखदायक अमृतमयी वाणी

वृत्तिका अत्यन्त अभाव नहीं होता है। हे गुरु! जो सत्पुरुष हैं, उनके अवर्णनीय गुण बार-बार सुननेको मन होता है, धन्य है ऐसे सत्पुरुषोंको जो स्वयं परिश्रम करके लोगोंका कल्याण करते हैं। उनकी अद्भुत महिमा कौन वर्णन कर सकता है? हे गुरो! ऐसे ही सत्पुरुषोंके वचन फली भूत होते हैं, यह बात मैंने सुनी है पर वह किस प्रकार होते हैं सो कृपापूर्वक कहिये।

गुरु—हे शिष्य! तू मुमुक्षु है। तेरा अन्तःकरण अति शुद्ध है। इसी कारण इस प्रकारके उत्तम प्रश्न करनेको तुझे इच्छा होती है। अब मैं सत्पुरुषके वचनके विषयमें तुझसे एक कहानी कहता हूँ उसे सुन—

एक समय नारद मुनि योगीका भेष धारण कर मृत्युलोकमें विचरनेको निकले। घूमते हुए वे पहाड़ी देशके चित्रपुर नामक ग्राममें जा पहुँचे। इस गांवके आस पास बहुत ऊँचे ऊंचे पहाड़ थे और सघन वृक्षोंकी शोभासे चित्रपुर अति रमणीय जान पड़ता था, पर इस गांवमें केवल १५ घर थे और उसमें केवल अनपढ़ अज्ञानी साणी (किसान) लोग, गुजरातमे जिनको कणठवी कहते हैं, रहते थे। वह जैसे अज्ञानी थे वैसे ही भोले भाले और सत्यवक्ता थे। एवं साधु-ब्राह्मणका बड़ा सन्मान करते थे पर उनका मुख्य कर्म कृषि था, इस कारण सत्पुरुषोंके पास बैठनेकी उनको फुर्सत नहीं मिलती थी। वे अपने जङ्गली व्यवहार हीमें सन्तोष पाकर आनन्दमें मग्न रहते थे। वे पहाड़ी जङ्गलमें स्वच्छ हवामें निरोग और शक्तिसम्पन्न थे, उनका विचार

सदा उदर पूर्ण करने मात्रका हुआ करता था, वह सदा उद्योग करनेमें अपना समय व्यतीत करते थे। उस चित्रपुर नगरमें मध्यान्हकालके समय साधु भेषधारी नारद मुनि एक गृहस्थके आंगनमें पीढ़ेपर जाकर बैठ गये। उस समय उस गांवके तमाम किसान अपने अपने खेतोंपर गये थे। केवल एक किसान किसी कारणसे उस समय अपने घरपर मौजूद था। वह अपने घरमें बैठा हुआ हुक्का पीता था, उसे भूख लग रही थी। उसकी स्त्री बाजरेकी रोटी उसके लिये बना रही थी, उस समय उस किसानने अपने आंगनमें एक जोगीको खड़े देखा, जिसके मस्तकपर बड़ी बड़ी जटाएँ थीं, कटिमें वल्कल धारण कर रक्खा था, वह भी कोपीन मात्र ही था, इसके अतिरिक्त सारा शरीर खुला था, जिसपर भस्म रमी हुई थी, उनके दर्शन होते ही किसानने हुक्का पीना बन्द कर दिया और योगीके समीप जाकर कहा—महाराज! तुम कहांसे आये हो?

योगी—(मुस्कुराते हुए) वह सामने पहाड़ है, उसी मार्गसे आया हूं।

किसान—अच्छा! तो कुछ छाछवाछ पियोगे क्या?

योगी—छाछका हमें क्या करना है!

किसान—तो क्या लड्डू खाओगे?

योगी—तेरी श्रद्धा हो तो लड्डू खिला दे!

किसान—तेरा जैसा तडंग बाहरसे लड्डू खाने आवे, क्या रोज लड्डू ही खाते हो। इसमें तुम्हारा कुछ लगता थोड़े ही है।

योगी—जैसी तेरी श्रद्धा हो। छाछ देनी हो तो छाछ ही देदे ; क्योंकि इस समय मुझे भूख सता रही है।

किसान—तो फिर योगी क्यों हुए। पेट तो अपनी भेट छोड़ता ही नहीं, मुफतका खानेके लिये ही योगी बने हो। क्या इसमें कुछ मिहनत करनी पड़ती है, जानते हो हमारे पांव खेतमें रगड़ते रगड़ते घिस जाते हैं।

योगी—हे भाई, तेरे समान श्रद्धावाला जब कोई मिल जाता है, तब क्षुधाकी शान्ति हो जाती है।

किसान—तो फिर घर घर भीख मांगनेसे क्या लाभ है, खेती करो और एक स्त्री रक्खो जो रोटी करके खिलाया करे। और जो तुम्हारी मर्जी हो तो तुम हमारे खेतमें काम करते रहो जिससे नित रोटी और छाछ मिले, क्यों क्या मरजी है!

योगी—भाई! मुझसे मिहनत नहीं हो सकती है!

किसान—तो फिर ऐसा कौन धन्धा है जो तुम्हें रोटी खिलावेगा? शरीर तो खूब मोटा हो रहा है, हरामकी रोटी खानेको सिद्ध बन बैठे हो, जाओ यहांसे! चले जाओ। यहां कुछ नहीं मिलेगा!

योगी—अच्छा भाई! जैसी तेरी मरजी। हम तो नारायणके आसरे यहीं बैठे रहेंगे। बस वही देनेवाला है। इस प्रकार उस योगीने किसानको उत्तर दिया, और पलौथी बांधकर अटल रूप वहींपर बैठ गया। इतनी बातें कहकर वह किसान अपने घरमें चला गया। उधरके किसान बोलनेमें (गंवार) होते हैं

परन्तु व्यवहारमें बहुत सीधे सादे होते हैं। उनका सतसङ्ग न होनेके कारण उन्हें वाणी विवेकका ज्ञान नहीं होता है। इसी लिये, घरमें जानेके बाद उस किसानने विचार किया, कि इस साधुको भोजन तो देना ही चाहिये क्योंकि महात्माओंके आशीर्वादसे लोगोंका भला होता है, इस प्रकार कल्पना कर, उसकी स्त्री जहां रोटी बनाती थी, वहां गया और उससे बोला कि दरवाजेपर साधु बैठा है, उसके लिये दो रोटी खूब लाल सेंककर मुझे दे, जो उसे दे आऊँ। उस समय दो रोटियां तैयार थीं, वह गरम गरम लेकर एक थालीमें तोड़ दीं और हांड़ीमेंसे घीका पात्र लाकर उन रोटियोंपर खूब घी छोड़ दिया और जो शाक बना था, वह भी एक पात्रमें लेकर और एक कटोरेमें भैंसका औटाया हुआ एक सेरके अन्दाज दूध लेकर, उस साधु महात्माके सामने जाकर उसने रख दिया और बोला कि महाराज! अब क्या देखते हो? भोग लगाओ।

योगी–वाह, वाह! तू तो छाछ देता था फिर यह क्या लाया?

किसान—अरे महाराज! छाछ पीनेसे कहीं भूख मिटती है! ऐसी तो हमारी बोलचाल है, पर छाछके बदले दूध लीजिये। अब क्या है महाराज!

योगी–नारायण तेरा भला करे। यह कहकर योगी भोजन करने बैठा। गरम गरम भली भांति सेंकी और घीमें डूबी हुई रोटी, बड़ी स्वादिष्ट और मधुर लगी। उसके साथ दूध था,

इस कारण पकवानसे भी हजार दर्जे बढ़कर स्वादवाला भोजन हुआ। योगीराज तृप्त हो गये, आत्मा प्रसन्न हो गई। पटेल भाईकी उदारता और उसकी साधुओंमे श्रद्धा देखकर सिद्ध महाराजने उस किसानसे कहा कि हे किसान! तूने बहुत अच्छा काम किया। आज मैं तुझपर बहुत प्रसन्न हूँ, जो तेरी इच्छा हो सो वरदान मांग ले।

किसान—(खिलखिलाकर हँसता हुआ) अरे महाराज! तुम ही जब रोटीके टुकड़ोंके लिये घर घर अलख जगाते फिरते हो तब मुझे क्या दोगे! तुम्हारे पास कौड़ी पैसा है नहीं, फिर कहो भाई! तुम क्या दे सकते हो? हमारे तो प्रभुके प्रताप से सब कुछ है, लड़के हैं, स्त्री है, खेत हैं, पशु हैं, बैल हैं, अन्न हैं, बर्तन हैं, और हमें क्या चाहिये! जो तुम ऐसे जबरदस्त हो तो परमेश्वरको बता दोगे, सच सच कहो।

योगी—(मन्द मुसकराते हुए, मनमें विचार करके) क्या, तू परमेश्वरको पहचानता है?

किसान—हां, हमारे गांवमें कभी कभी टीका जोशी आता है। वह कथा वांचता है। उसने विष्णु महाराजका रूप ऐसा बताया है, कि आकाशके रंगका उनका शरीर होता है, और चार हाथ होते हैं, उनमें शंख, चक्र, गदा, और पद्म रहता है। वह विष्णु भगवान् गरुड़पर बैठकर जो सच्चा भक्त होता है, उसे दर्शन देते हैं। उनके माथेपर खड़ा तिलक होता है और पीले रङ्गका पीताम्बर पहने हुए होते हैं, उनके साथ उनकी

स्त्री होती हैं, जिनका नाम लक्ष्मी बाई है। कहो, बात सच्ची है या नहीं।

योगी—तेरी बात तो सच्ची है। फिर क्या उन विष्णु भगवानसे मिलनेकी तेरी इच्छा है?

किसान—हां महाराज! जो तुम सचमुच सिद्ध हो तो विष्णु महाराजसे मिलनेका उपाय बताओ।

योगी—मैं तुझे एक मन्त्र बतलाता हूं। वह मन्त्र दिन रात जप करना, क्षणभर भी भूलना नही। यदि इस प्रकार छः महीने तक जप करेगा तो तुझको छठे महीने, गरुड़पर सवार होकर तेरे पास आकर, विष्णु भगवान मिलेंगे।

किसान—भाई, यह बात तो ठीक है। पर छः महीने तक घरमें बैठकर यदि जप करूँगा तो मैं और मेरे परिवारके मनुष्य खायगे क्या?

योगी—तुम अपना काम करते रहो, पर मन्त्रको निरन्तर जपते रहो।

किसान—तब तो अच्छी बात है, परन्तु बड़ा मन्त्र तो हमको याद नहीं रहेगा, और जो कभी भूल गये तो किससे पूछने जायेंगे। तुम तो कहीं एक जगह रहते नही।

योगी—(मुसकराकर) ओ भाई, तुमको तीन अक्षरका मन्त्र बताऊँ तब तो याद रहेगा न?

किसान—तब तो कुछ चिन्ता नहीं, अच्छा बताओ क्या बतलाते हो!

योगी—गोपाल, गोपाल, गोपाल, गोपाल, यह नाम दिन रात कहते रहो। छठे महीनेमे विष्णु अवश्य मिलेंगे।

किसान—अजी महाराज! जो विष्णु मुझे मिल जावें तो फिर हमें क्या चाहिये! इस कारणे यदि हरि मिल जायंगे तो मैं तुम्हारा बड़ा गुण गाऊँगा। योगीने किसानको गोपाल मन्त्र बतलाया और आप चला गया। अब वह पटेल गोपाल, गोपाल कहता हुआ घरमें गया, भोजनका समय था, घरमें पहुंचते ही स्त्रीने बाजरीकी रोटी, छाछ और मकईका दलिया आदि परोस दिया। जब पटेल भोजन करने बैठा तब स्त्रीसे कहने लगा कि उन सिद्ध महाराजने मुझे मन्त्र दिया है। वह मन्त्र आज नया ही याद किया है, कदाचित् खाते खाते मैं भूल जाऊँ तो तू 'गोपाल' नाम याद रखना। स्त्रीने कहा कि अच्छा आप भोजन कीजिये, मैं यह मन्त्र याद रक्खूंगी। तब वह पटेल खानेको बैठा, इतनेमें २।३ आदमी किसी कामके लिये उसके पास आये। वह उनके साथ खाता खाता बात चीत भी करता जाता था। पटेलने भोजन कर लिया और आये हुए मनुष्य चले गये, तब उसने अपनी स्त्रीसे पूछा—अरी ओह! वह मन्त्र मैं भूल गया हू, तू बता दे कि वह क्या मन्त्र था! पटेलकी बात सुनते ही वह भी घबड़ा गई, क्योंकि वह भी भूल गई थी, पर तो भी उसने यह उत्तर दिया कि 'गुंछाल' ऐसा मन्त्र था। पटेलने कहा, कि ठीक यही था, वह उसी प्रकार जप करने लगा। तब गांवके और किसान उससे कहने लगे कि भाई!

इस 'गुंछाल' के कहनेसे क्या होगा। इसके उत्तरमें वह पटेल किसीको उसका भेद नहीं बतलाता था। कूएपर बैलोंको चलाता जाता है, हल चला रहा है, अथवा अन्य कोई कार्य करता अथवा रास्ता चल रहा है, पर वही 'गुंछाल, गुंछाल' की ध्वनि लग रही है और टीका जोशीके बताये हुए उपरोक्त रूपके ध्यानमें वह तन्मय हो रहा है। प्रति दिन योगीकी बतलाई चमत्कारिक वाणीसे वह विष्णुकी मूर्त्ति अन्तःकरणमे व्याप्त हो रही थी। इस प्रकार करते करते उस किसानको पांच महीने वीत गये। उसको दृढ़ निश्चय था कि ६ महीने पूरे होनेपर विष्णु भगवान मेरे खेतमें अथवा कूएपर मिलेंगे। मन्त्रके प्रतापसे और योगीकी कृपा दृष्टिसे उसके अन्तःकरणमें शुद्ध श्रद्धाने निवास किया था। इस प्रकार वह पटेल भाई गुंछाल नाम जप रहा है। अब आप दूसरी ओर देखिये कि वैकुण्ठमे श्रीविष्णु महाराज पौढ़े हुए लक्ष्मीजीको शंकरकी महिमाका उपदेश करते हैं और लक्ष्मीजी शान्त वृत्तिसे सुन रही हैं। इतनेमें विष्णु एकदम उठ खड़े हुए और गरुड़को आज्ञा दी कि हमको इस समय मृत्युलोकमें अवश्य चलना है। तुम तयार हो जाओ। गरुड़ तयार हुआ, आप शंख, चक्र, गदा और पद्म इत्यादि हाथमें धारण करने लगे। यह देख लक्ष्मीजीने विष्णु भगवानसे पूछा कि—हे देव, इस कलियुगमें ऐसा कौन असुर पैदा हुआ है?

विष्णु—(लक्ष्मीजीसे) असुर नहीं, बल्कि एक नवीन भक्त पैदा हुआ है, जिसने मेरा नया नाम रक्खा है।

लक्ष्मी—यह कैसा भक्त है कि जिसने आपका नया नाम रक्खा है! हे विभु! कृपाकर बतलाइये तो उसने क्या नाम रक्खा है।

विष्णु—(हँसते हँसते) गुंछाल नाम रक्खा है।

लक्ष्मी—हे प्रभो! जो निरन्तर आपका ध्यान धरता है, उसको भी आप नहीं मिल सकते हैं तो गुंछाल नाम धरनेवाला क्या कोई महा पवित्र योगी है?

विष्णु—नहीं नहीं, वह बेचारा तो योग क्रिया जानता भी नहीं। वह अपने गेहूंके खेतमें देनेके लिये कूएपर जल निकालता रहता है, जातका किसान है।

लक्ष्मी—तो क्या वह महाज्ञानी है! क्या उसने आत्माको पहचान लिया है।

विष्णु—हां, उसने मुझे पहचाना है।

लक्ष्मी—तो जब उसने आपको पहचाना है, तो मुझे भी निश्चय ही पहचाना होगा।

विष्णु—क्यों नहीं पहचाना होगा!

लक्ष्मी—कलियुगमें कोई ऐसा भक्त नहीं कि मुझे और आपको पहचान सके! क्योंकि मनका निग्रह होना बड़ा कठिन है, चञ्चल मनको वश करनेके लिये योगी पुरुष हठयोग करते हैं और ज्ञानी पुरुष राजयोग द्वारा अर्थात् ज्ञान मार्गसे मनके धर्म जानकर मनको विवेक द्वारा सत्व गुणमें प्रवेश कराते हैं, हे प्रभु! क्या उदरके निमित्त पशु और जङ्गली लोगोंमें रहनेवाला

वह किसान आपको और मुझको पहचान सकेगा यह सम्भव है ! पर जब आप वहां जानेको आतुर हो रहे हैं तो इसमें कुछ न कुछ कारण अवश्य होगा ।

विष्णु—हे लक्ष्मी ! मेरा नया नाम रखनेवाला नया भक्त हुआ है । इस कारण उससे मुलाकात करना आवश्यक है या नहीं ।

लक्ष्मी—आप समर्थ हैं. पर उसकी परीक्षा तो लेनी चाहिये ।

विष्णु—उसकी परीक्षा किस तरह लेना चाहती हो !

लक्ष्मी—आप एक खड्डेमें छिपकर बैठ रहिये और मैं बुढ़िया बनकर उससे योग्य प्रश्न करूँगी ।

विष्णु—अच्छा, तुम परीक्षा लो, जो हमारा भक्त होगा तो उचित ही उत्तर देगा। इस प्रकार लक्ष्मी और विष्णु भगवान आपसमें परामर्श कर, गरुड़पर सवार हो उस किसानके स्थानके समीप जा पहुंचे, और पूर्वके संकेतके अनुसार विष्णु महाराज तो एक कूएके पास खड्डेमें छिप रहे और लक्ष्मीजीने ठीक बुढ़ियाका स्वरूप धारण कर लिया। हाथोंकी खाल सिमट रही है, नाकसे पानी निकल रहा है मस्तकके ऊपर केश पककर सफेद हो गये हैं, भ्रू और आँखोंके पलकोंके बाल सफेद हो रहे हैं, मानो अवस्थामें सौ वर्षसे अधिक है। इस प्रकार हाथमें लकड़ी पकड़कर चलनेमें भी गिरी पड़ती है थोड़ी दूर चलती और खड़ी हो जाती है, इस प्रकार कांपती और मस्तक हिलाती हुई जहांपर पटेल एकाग्र वृत्तिसे गुंछाल गुंछाल

शब्द बोल रहा था, उसके पास जा पहुंचीं। यह बुढ़िया उसके पास पहुंच गई। पर पटेलका ध्यान उसकी तरफ बिलकुल नहीं था, क्योंकि पटेल इस समय तदाकार बन गया था, उस पटेल-को अपने शरीरका भी भान नही था, तब पास कौन खड़ा है इसे देखता ही कौन है? वह बुढ़िया बडी देरतक खड़ी रही, फिर पुकारकर उस पटेलसे कहने लगी—"हे पटेल!" उसकी आवाज सुनकर पटेलने उस तरफ देखा और कहने लगा—अरे ओ बुढ़िया! तू चुप रह, चुप हो, निकम्मी, मेरे भजनमें भङ्ग करनेको कहांसे आ गई है?

बुढ़िया—अरे भाई! मैं तुझे भजनसे रोकने नहीं आई हूं, केवल दो शब्द कहने आई हूं।

पटेल—जल्दी कह दे—क्या कहेगी!

बुढ़िया—मैं यह पूछती हूं कि तू किसको भजता है?

पटेल—अरे ओ बुड्ढी, हम चाहे जिसको भजते हैं, तुझे क्या पड़ी है, तू अपने मारगपर चली जा (यह कहकर गुंछाल, गुंछाल, गुंछाल कहने लगा)

बुढ़िया—अरे भाई! तूने मेरे प्रश्नका ठीक ठीक उत्तर नही दिया।

पटेल—(क्रोधमें आकर) किसको भजते हैं, बता दूं। तेरे खसमको। अब समझ गई, तेरे मालिकको भजता हूँ, निकम्मी कहींकी, मेरा समय नष्ट करने आई है, जा हट जा! आई है बातें पूछनेको!!

बुढ़िया—अच्छा तो यह भी वतला दे, कि मेरा ख़सम कहां है ?

पटेल—(क्रोधसे) तेरा खसम किसी खड्डेमें पड़ा होगा। क्या अव और कुछ कहेगी ?

इच्छानुसार उत्तर मिलनेसे वह बुढ़ियारूप लक्ष्मी वहांसे क्षणमात्रमें चली गईं । थोड़ी: देर पीछे पटेलके कूपके समीप गरुड़पर सवार—लक्ष्मीजी सहित विष्णु भगवान प्रगट हुए। पर पटेल भाई तो गुंछाल, गुंछालमें लीन था, उसकी दृष्टि जमीनपर थी। वह आस पास कुछ भी नहीं देखता था। विष्णुका स्वरुप जो उसने निर्णय किया था, उस स्वरूपका ध्यान उसके अन्तःकरणमें था और उसीमे उसका ध्यान लग रहा था। यद्यपि विष्णु भगवान उस किसानके सामने खड़े थे, पर वह सामने देखता ही न था।

विष्णु महाराजने लक्ष्मीजोको इशारा किया कि हे देवी! हम इस नये भगतके लिये यहां खड़े हैं पर उसे विलकुल खवर ही नहीं पड़ी है, अर्थात् वह नीचेकी ओर मुख किये मेरा गुंछाल नाम स्मरण करने हीमें लीन हो रहा है। इस प्रकार लक्ष्मी और विष्णुको थोड़ी देर हो गई तव विष्णु भगवान हीने उस पटेल भाईको हांक दी, अव उसने श्रीविष्णुकी ओर नजर फेरी (देखा) तो जो स्वरूप उसके मनमें था, वही स्वरूप उसे वाहर दिखाई दिया। देखते ही कूपका काह वन्द कर वह पटेल भगत श्रीविष्णु भगवान्के चरणोंपर गिर पड़ा।

और बोला कि महाराज! मैं तो महीनोंसे आपका भजन करता हूँ, अब आप मेरे क्षेत्रमें आ पहुँचे, इससे मेरा क्षेत्र पवित्र हो गया। इतना कहकर वह किसान चुप हो गया। उससे आगे कुछ कहा न गया।

विष्णु—(पटेलसे) हे वत्स! जो तेरी इच्छामें आवे सो मांग ले।

पटेल—हे प्रभु! आपके दर्शन हो जानेके बाद फिर और क्या चाहिये! आपके प्रतापसे क्षेत्र, बैल, अन्न, भूसा, भाई बन्धु, स्त्री पुत्र, सब कुछ है। हे प्रभु! आप तो बड़े समर्थ हैं इसलिये दयाकर मेरा स्मरण रखिये, इतनी ही भिक्षा दे जाइये।

विष्णु—तथास्तु—अब हम जाते हैं।

पटेल—खड़े रहो, खड़े रहो, जाते कहां हो, तुम तो हमारे पाहुने हो, इसलिये कृपाकर भोजन कर जाओ।

विष्णु—(हँसते-हँसते) हम तो भोजन करके आये हैं, फिरसे जीमनेकी इच्छा नहीं।

पटेल—तो महाराज! अब एक महीने पीछे चनेके बूंट तयार होंगे। तब होले खाने अवश्य आइये।

विष्णु—(प्रसन्न होते हुए) ठीक है, उस समय देखा जावेगा।

पटेल—खड़े रहो, खड़े, मुझे दूसरी बात याद आ गई।

विष्णु—अच्छा, वह क्या बात है।

पटेल—इस मेरे मनमेंसे कभी खसकना नही और दासको भवसागरसे पार उतार दीजियेगा।

विष्णु—तथास्तु—तू हमारी शरण आवेगा और तेरी सद्-वृत्ति रहेगी।

विष्णु भगवानके स्वरूपका ध्यान मनमें रखकर पटेलने साष्टांग दण्डवत प्रणाम किया और विष्णु भगवान अन्तको चले गये। हे शिष्य! सत्पुरुषोंके वचनका कैसा प्रताप है! सत्पुरुष उत्तम प्रकारके क्षेत्रमें ही अपने वचनरूपी बीजको बोते हैं। उससे पात्रका चित्त ऐसा निर्मल हो जाता है, जैसी कि ममीरा लगानेसे कौएके पंखकी तरह काला कपड़ा भी सफेद हो जाता है। उसी प्रकार सत्पुरुष मलिन अन्तःकरणके अज्ञ पुरुषोंको अपने ज्ञानके प्रतापसे मुमुक्षु बना देते हैं।

शिष्य—इसमें सन्देह नहीं कि यह सत्संगतिका ही प्रताप है! वह किसान जङ्गलमें रहता था? सद्विद्या और ज्ञानका नाम भी उसने न सुना होगा। पर एक महान सत्पुरुष महात्मा नारदजीके प्रतापसे साक्षात् विष्णु भगवानका अपने घर बैठे दर्शन कर सका। अहाहा! धन्य है, ऐसे सत्पुरुषोंको।

गुरु—जो महत्पुरुष हैं उनके अगाध चरित्रोंका पार नहीं होता है।

वहति भुवन श्रेणी शेषः फणाफलकस्थितां।
कमठ पतिना मध्ये पृष्ठं सदा सविधार्यते॥
तमपि कुरुते क्रोडाधिनं पयोधि रनादरा।
दहह महतां निःसीमान चरित्र विभूतयः॥

शेष नाग अपने हजार फणोंके ऊपर सारे भूमण्डलको धारण किये हैं, उन्हें कछुआ (कच्छप) अपनी पीठपर धारण किये हुए हैं और उस कच्छपको समुद्र विना ही मिहनतके उदर-धारण किये रहता है। अहा हा !! कैसा आश्चर्य है कि बड़े पुरुषोंके चरित्रकी अवधि ही नही, सत्पुरुषोंके वचनमें हीं देवका निवास है, सत्पुरुषोंके वचनसे ही ज्ञान प्राप्त होता हैं। इस कारण उनकी सेवामे रहना ही उत्तम है।

पांचवीं लहर।

प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण रूप ।

कर्म क्या क्या कराते हैं ?

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।
तथापि सुधिया भाव्यं सुविचार्यैव कुर्वता ॥

अर्थात् पुरुषको फल मिलता है कर्मके वश और बुद्धि कर्मानुसारिणीहै, तथापि विद्वान पुरुषको विचार पूर्वक कार्य करना चाहिये ।

नेता यस्य वृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः ।
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः किलहरे रैरावती वारणः ॥
हत्यैश्वर्य वलान्वितोऽपिवलभिद्भग्नः परैःसंगरे ।
तद्वक्तं वरमेव दैवशरणं धिग्धिग वृथा पौरुषम् ॥

जिसका मुख्य महा विद्वान गुणज्ञ कारवारी वृहस्पति है, वज्र जिसका शस्त्र है, देवता जिसके सैनिक हैं और स्वर्ग जिसका अजेय किला है, जिसके ऊपर विष्णु भगवानकी कृपा है और ऐरावत जिसका वाहन है। ऐसे ऐश्वर्यवाले इन्द्रको भी युद्धमें शत्रुने जीत लिया, तो जाना जाता है कि प्रारब्ध ही रक्षा करनेवाला है। इसलिये प्रारब्ध रहित पुरुषार्थको धिक्कार है।

शिष्य—हे गुरु ! प्रारब्ध-संचित और क्रियमाणरूप कर्म क्या क्या हैं ? 'उनका क्या स्वरूप है ? यह कृपापूर्वक कहिये ।

गुरु—हे शिष्य सुन, पूर्व जन्मके जिन कृत्योके वदले यह शरीर मिला है, उसके भरण पोषण और दुःख सुखका जो कारण है, उसका नाम प्रारब्ध है। जैसा कि पहले पुरुषार्थ द्वारा प्रारब्धकी उत्पति हुई है, उसी प्रकार अव भी अधपङ्गु न्याय प्रमाण व्यवहार चलता है अर्थात् जो प्रारब्धके नियमसे होनेवाला है, उसी प्रकार शरीर सम्वन्धी सुख-दुःख होनेकी वृत्ति होती है। वह केवल शरीर भागमें समझिये। यदि एक अन्धा और एक लगड़ा दोनों किसी वृक्षके नीचे बैठे हो तो दोनोंकी सत्ताके आधारसे दोनोका पेट भरता है, यही अधपङ्गु न्याय कहलाता है। तत्व वोधमें लिखा है :—

प्रारब्ध कर्मकिमिति चेत्। इदं शरीरमुत्पाद्य इहलोके। एवं सुख-दुःखादि प्रदंयत्कर्म तत्प्रारब्धभोगेन नष्ट भवति॥

प्रश्न—प्रारब्ध कर्म किसको कहते हैं ?

उत्तर—इस शरीरको उत्पन्न करके इस लोकमें सुख दुःखोंका देनेवाला जो कर्म है। उसको प्रारब्ध कहते हैं। प्रारब्ध भोगने हीसे नष्ट होता है, अन्य किसी युक्तिसे नहीं॥ जैसे किसी पुरुषने वहुतसे वाण तरकसमें भर रखे हों और एक वाण हाथमें पकड़ रक्खा हो और एक वाण छोड़ दिया हो तो जैसे वह पुरुष तर्कसके वाणोंको भी रोक सकता है और जो हाथमें पकड़ रक्खा है, उसको भी रोक सकता है, परन्तु जो वाण हाथसे छोड़ दिया गया है, उसको नहीं रोक सकता। [illegible] प्रकार संचित कर्म सव नाश हो सकते हैं और आगामी

कर्म जो हाथमें पकड़ रक्खे हैं वह भी नाश हो सकते हैं, परन्तु जो प्रारब्धरूप वाण हाथसे छूट गया है, वह विना भोगे किसी प्रकार नहीं नाश ह सकता है और वेदमें भी ऐसा लिखा है कि "प्रारब्ध कर्मणा भोगा देवक्षयः" अर्थात् प्रारब्ध कर्म भोगने ही से नाश होता है। इससे यह सिद्ध हुआ, कि और सव कर्म तो नाश हो जाते हैं परन्तु प्रारब्ध कर्म विना भोगे नाश नहीं होता है।

शिष्य—वात तो यथार्थ है कि प्रारब्ध कर्म विना भोगे नाश नहीं होता पर श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीकृष्णजीने ऐसा लिखा है, कि जैसे प्रचण्ड अग्नि सव ईंधनोंको दाह कर देती है उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि सर्व कर्मोंको नाश कर देती है। इन दोनों वाक्योंमें कौन सा वाक्य यथार्थ है सो कहिये—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥४।३७॥

कहो तीनों भुवनोंका जो आकाशमें धुंआं उड़ा देता है? उस प्रलयकालके तूफानके सामने क्या मेघ टिक सकते हैं? अथवा पवनके कोपसे जो पानीको भी जला डालता है, वह प्रलयाग्नि क्या घास और ईंधनसे वुझ सकती है। इति ज्ञानेश्वर!

ऐसा ही प्रश्न, अर्जुनने भी श्रीकृष्ण भगवानसे किया था।

अर्जुन—चाहे करोड़ों वर्ष वीत जायं विना भोग किये कर्मक्षय नहीं होता यह भी शास्त्र वचन है और आप कहते हैं कि ज्ञानसे समस्त कर्मक्षय हो जाते हैं। महाभारतमें कहा

ह कि पूर्वकृत कर्म छायाकी भांति मनुष्यके अनुगामी होते हैं।
शयन करते समय शयन करते हैं, बैठते समय बैठते हैं, गमन
करते समय गमन करते और कार्य आरम्भ करते समय कार्य
करते हैं। सब ही पूर्वकृत कर्मानुसार फल भोगा करते हैं और
कालपुरुष जीवगणोंके कर्मानुसार ही जीवको आकर्षण करते
हैं, जैसे पुष्प इच्छा न रहनेपर भी अपने आप परिपक्व होते हैं
उसी प्रकार पूर्वकृत कर्म फल भी यथा समय परिणत होते रहते
हैं—(शान्तिपर्व १८१) मछली जैसे बहावकी ओर दौडती
है उसी प्रकार जन्मान्तरीय कर्म मनुष्यके निकट आगमन करते
हैं (शा० प० २०१ अ०)

जीवानां तिष्ठतिर्नास्ति स्थिते कर्मणि नारद।
तेन कुर्वन्ति सन्तश्च सततः कर्मणः क्षयम॥

अर्थात्—हे नारद! कर्म रहते जीवकी मोक्ष नहीं है,
इसीलिये साधुजन सतत कर्मक्षयमें लगे रहते हैं।

प्रश्न—ज्ञान द्वारा कर्मोंका क्षय किस प्रकार होगा?

भगवान—श्रुति प्रभृति शास्त्रोंने प्रमाण और युक्ति द्वारा
बताया है कि ज्ञान होनेपर कर्म किस प्रकार क्षय होते हैं। श्रुति
कहती है "भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिन्दन्ते सर्व संशयः। क्षीयन्ते
चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" उस परम पदार्थके देखनेसे
साधककी हृदय ग्रन्थियां खुल जाती हैं, सब संशय दूर हो जाते
हैं और सर्व कर्म क्षय हो जाते हैं। हृदय ग्रन्थि क्या है।
"आत्म सन्निधौ नित्यत्वेन प्रतीयमान आत्मोपाधिः यः तल्लिं

शरीर हृदयग्रन्थिः इत्युच्यते"। लिङ्ग शरीर ही आत्माकी उपाधि है। लिङ्ग शरीरको ही आत्माकी हृदयग्रन्थि कहते हैं। परिपूर्ण आत्मा उपाधि ग्रहण कर अपनेको वद्ध मानता है, यही जीव भाव है। सो यह भानमात्र है, जैसा कि अपरिच्छिन्न महाकाश घटके भीतर घटाकाश कहा जाता है, और वह परिच्छिन्न मानकर अपने स्वरूपको भूलकर। मैं घट हूं ऐसा अभिमान कर लेता है। उसी प्रकार देहमें आत्माभिमान करना ही अज्ञान है। इस अभिमानका त्याग करनेसे ही अपने परिपूर्ण स्वरूपमें स्थिति होती है। अभिमान वा अहंमानके त्यागके लिये ही पहले कर्मयोगका अवलम्बन करना पड़ता है। कर्म तो सव ही करते हैं, किन्तु कर्मको कर्मयोगमें परिणत करनेका कौशल वहुत कम मनुष्य जानते हैं? देख अर्जुन! मैं पुनः पुनः कहता हूं, कि ज्ञान प्राप्त करके कर्म क्षयकर। फिर भी एकवार भलीभांति यह वार्ता समझा देता हूं, मन लगाकर सुन :—

"कपाय पंक्ति. कर्माणि ज्ञानन्तु परमागतिः।
कपाये कर्मभिः पक्वे ततोज्ञाने प्रवर्तते॥"

कर्म समूह पापोंका पाचक (नाशक) है। किन्तु ज्ञान परम गति है। कर्म द्वारा पाप समूह परिपक्व होनेके पश्चात् ज्ञानको उत्पन्न करते हैं, इस कारण पाप नाश करनेके लिये पहले कर्म करना अत्यन्त आवश्यक है। लौकिक कर्म, स्नान, भोजन भ्रमण, कथन इत्यादि अथवा वैदिक कर्म यज्ञ, दान, तपस्यादि कर्म ही क्यों न करे, पर कर्मका उद्देश्य पापक्षय है, कर्मका

उद्देश्य चित्त-शुद्धि है। ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप, सत् वस्तुको पापने ही छिपा रक्खा है। मनुष्योंकी कामना अथवा काम ही पाप है। जो लोग जप-यज्ञमें प्रथम प्रवृत्त होते हैं, उनके इस जप करनेसे पापका क्षय होता है। मान लीजिये, कि ब्राह्म मुहूर्त्तमें उठकर सन्ध्यावन्दन करना होगा, यही भगवदाज्ञा है, तो अत्यन्त शीतकालमें शय्या त्याग करनेमें, तुमको आलस्य और अनिच्छा होती है और प्रातःकृत्य करनेकी इच्छा भी है, यह इच्छा सात्विक है एवं आलस्य और अनिच्छा तामसिक है, प्रथमवाली भगवदिच्छा है और दूसरी बद्ध जीवकी इच्छा है। तुम यदि आलस्य और अनिच्छाके समय मनमें भावना करो कि—हे भगवन्! मैं आपकी आज्ञा अवश्य पालन करना चाहता हूं, परन्तु उसके पालन करनेकी शक्ति न होनेके कारण उसे पालन नहीं कर सकता। मेरी शक्तिसे कोई भी कार्य पूरा नहीं हो सकता है। मैं अपना देव-स्वभाव छोड़कर पशु-स्वभाववत् कार्य करता हूँ, ये तम और रज मुझे नहीं छोड़ते हैं, मैं आपका दास हूं। ये कर्म आप मुझसे कराइये। (करा लीजिये) यह विचार करते ही तुम शीत, आलस्य और अनिच्छारूप पाप त्याग कर नित्य कर्म कर सकोगे। फिर कर्म करते समय जब तुम्हारा मन लय विक्षेपरूप उपाधियोंमें चलायमान होवे, तब भावना करो कि हे भगवन्! मैं सन्ध्या, पूजा, जप, नहीं करने पाता हूं, मेरा मन लय विक्षेप वा तम और रज भावसे अक्रान्त होकर आपके मार्गमें चलने नहीं पाता है,

आप मुझसे यह कार्य करा लीजिये। यह भावना करते करते तुमको शक्ति मिलेगी और इस भावसे कर्म करते करते अपने आप समझ सकोगे, कि पापक्षय हो रहे हैं। हे भगवन्, मैं आपका हुआ। दृढ़ भावसे इस भावना-सहित नित्य कर्म करते करते पाप रहित होने और पापसे छुटकारा पा सकोगे। केवल मुखसे पाप नहीं, ऐसा करनेसे पाप नहीं छूटेंगे, क्योंकि विना कर्मके पापक्षय नहीं होते हैं?

जो विषयी हैं, पापी हैं, उनको कर्म करनेमें 'अहं कर्ता' यह अभिमान होता है। मैंने किया है, मेरे द्वारा यह सब कार्य हुआ है, ऐसा पापियोंका कथन रहता है, और जो भक्त है, वह कहते हैं कि आपका कर्म आप हीने किया है। लोग कहते हैं, मैंने किया है, मैं करता हूं। जो सब कामोंको भगवानका कर्म एकदम नहीं कह सकते हैं, वह भगवानकी प्रीतिके लिये उसके कर्म करे। यह साधनकी प्रथम अवस्था है। प्रथम अवस्थामें भगवत्प्रीतिके लिये हम कर्म करते हैं, दूसरी अवस्थामें हमारा कर्म नहीं है। भगवानका कर्म है। भगवानने हमारे द्वारा कराया है—यह अनुभव किया जाता है अर्थात् अपने अहंको भगवन् अहं में मिला देना होता है। तीसरी अवस्थामें अहं अभिमानसे पृथक् होकर अपनेको सच्चिदानन्द स्वरूपमें अवस्थान करना पड़ता है, यही अहं नाशका क्रम है। देखिये, कर्मयोगके द्वारा क्या क्या करना होता है।

(१) भगवत्प्रीतिके लिये कर्म करना।

(२) मैं करनेवाला हूँ यह अभिमान बिलकुल त्याग देना।

(३) पूर्णभावसे फलाकांक्षा त्याग करना।

जब सब कर्म इस प्रकार भगवानमे अर्पित होते हैं, फलाकांक्षा वर्जित कर दी जाती है, एवं मैं करनेवाला हूं, यह अभिमान नहीं रहता है, तब ही उसे कर्मयोग कहते हैं। उस कर्मयोगमें भक्तियोग और ज्ञानयोग मिला हुआ है। प्रथम योगी होना पड़ेगा। परन्तु योगियोंमे भी जो मद्गत चित्त होकर श्रद्धापूर्वक हमारा भजन करता है, वही युक्ततम है। योगीके कर्म चित्तकी शुद्धिके लिये हैं अर्थात् केवल पापक्षयके लिये हैं, जो युक्ततम हैं, जो भक्त हैं उनका भजनादि कर्म अपने आनन्दभावकी प्राप्तिके लिये है। अन्तमें जो ज्ञानयोगी और ध्यानयोगी हैं उनको नित्य आनन्द समाधिमें स्थिति है। अब विचार कीजिये कि निष्काम कर्मयोगका विस्तार कितनी दूरतक है। निष्काम कमके कर्मांश द्वारा अपना पापक्षय एवं जगच्चक्र परिचालन होगा, और निष्काम अंश द्वारा भक्ति और ज्ञान प्राप्त होगा। गीता शास्त्रमें मैंने यही शिक्षा दी है—कि तुम कर्म द्वारा पाप क्षय करो और भक्तियोग द्वारा आत्मामें आनन्दभाव जागृत करो एवं ज्ञान और ध्यानयोग द्वारा सत् और चित् भावमें नित्य स्थिति प्राप्त करो। इसीलिये योग, भक्ति और ज्ञानका तुमको अभ्यास साथ साथ ही करना होगा। प्रति दिनके कर्म, सन्ध्या पूजा जपादिमें श्रद्धा, और साथ ही साथ कुम्भकादि प्राणायाम एवं सत्सङ्ग और सतशास्त्रमें आनन्द तथा ज्ञान

विकाशका यत्न करना चाहिये। लौकिक कर्म और श्रीभगवानका नाम न भूलना चाहिये। मन-ही-मन कर्मफल अर्थात् जो सुख दुःखादि हैं, उनका त्याग और मनसे कर्मका त्याग भी रहना चाहिये ; क्योंकि आत्माके आनन्द और ज्ञानस्वरूपमें कर्म नहीं है। मन ही मन त्याग रहनेपर, कार्यतः त्याग न होनेपर भी, तुम अपनेको निःसङ्गभावसे रख सकोगे। यही त्याग है और इस प्रकार वर्तनेवाला ही त्यागी है। इस प्रकार अनासक्त-भावसे सर्वदा अवस्थान करनेपर भी लौकिक कर्म करते जाओ और अन्तमें भक्ति और ज्ञान प्राप्त कर जनन मरणको भी, अपने भीष्म पितामहवत्, अधीन कर सकोगे। अव समझ गये, कि कर्मक्षय किस प्रकार होता है ?

अर्जुन—अच्छा कर्म त्याग देनेपर क्या देह वनी रहेगी ?

भगवान—सञ्चित, प्रारब्ध, क्रियमाण भेदसे कर्म तीन प्रकारके हैं। ज्ञान प्राप्त होनेसे सञ्चित कर्म निःशेष होता है, क्रियमाण कर्म पद्मपत्रस्थ जलकी भांति आत्माको बांध ही नहीं सकता तव केवल प्रारब्ध कर्ममात्र शेष रहता है। सो प्रारब्ध कर्म भोगके विना समाप्त नहीं होता। प्रारब्ध द्वारा ही शरीर यात्राका निर्वाह होता है। शरीर प्राप्तिके समयसे, जो फलाफलकी सूचना है, वही प्रारब्ध कर्म है। शरीरके विनाश न होने तक वह पूर्ण नहीं हो सकता है। अर्थात् जिस कर्मके द्वारा यह शरीर आरम्भ हुआ है, वह-ज्ञान प्राप्त होनेपर भी कुम्भकारके चाककी भांति अपने आप चलता रहता है। घट

बन गया है, परन्तु तो भी चक्कीका वेग शेष न होनेतक वह घूमता ही रहता है। उस गतिके स्थिर होते ही शरीरका पतन हो जायगा। ज्ञानीका देह-पतन ही मुक्ति है। सञ्चित और क्रियमाणकर्म भुने हुए बीज (दाने) की तरह कोई फल उत्पन्न किये बिना ही नष्ट हो जाते हैं। अब समझ लीजिये, कि जब मन-ही-मन कर्मका त्याग हो गया तब देहात्माभिमान भी नहीं है। यही निरभिमानिता मोक्षका हेतु है, कर्मयोग कर्मात्मक है, ज्ञान होनेसे कर्म रहता नहीं। यही ब्रह्मपद है, यही प्रकृतिसे पुरुषकी मुक्ति है (शान्तिपर्व २०१ अ०)। इसीलिये आगेके श्लोकमें कहा है कि---

न हि ज्ञानेन सदृशंपवित्रमिहविद्यते।
तत् स्वयं योग संसिद्धः कलिनात्मनिविन्दति॥ ३८॥

उत्तर—यह दोनों ही वाक्य यथार्थ हैं क्योकि कर्मों का करना ,और सुख दुःखका भोगना, यह शरीरका धर्म है, आत्माका नहीं। जो पुरुष कर्मको अपनेमे आरोपण करता है, वह परम अज्ञानी है तथा जिस पुरुषको यह ज्ञान हो गया कि मैं न कर्ता हूं और न भोगता हूं, यह तो शरीरका धर्म है। शरीर भले ही भोगे, मैं तो शुद्ध हूं, इस प्रकार ज्ञानवानका प्रारब्ध कर्म भी निवृत्त हो जाता है। क्योंकि जिस किसी पुरुषकी पदार्थों में आसक्ति होती है, उसी पुरुषको पदार्थोंके नाश होने बननेसे सुख दु.ख होता है। और जिसकी पदार्थों में आसक्ति नहीं होती, उसको सुख दुःख नहीं होता। इससे यह सिद्ध हुआ, कि

आसक्ति ही सुख दुःखका हेतु है। जैसे चौपड़के खेलनेवाले पुरुष काष्ठकी नर्दमें आसक्ति कर लेते हैं और खेलते-खेलते जिस पुरुषकी नर्द मारी जाती है, उसी पुरुषको दुःख होता है और जिस पुरुषकी वह नर्द (गोटी) नहीं होती उसको दुःख नहीं होता। अब देखिये कि काष्ठकी नर्द तो मारी जाती है परन्तु आसक्ति होनेसे दुःख उस पुरुषको होता है। इसी प्रकार जिस पुरुषकी जिसमें आसक्ति होती है उसीके संयोग वियोगमें उसको सुख दु ख होता है। इसके विपरीत ज्ञानवानोंकी किसी पदार्थमें आसक्ति होती ही नहीं, इस वास्ते ज्ञानवानका प्रारब्ध कर्म भी निवृत हो जाता है। वेदका भी यही तात्पर्य है कि सूक्ष्म शरीर कर्मोंको करता है। इस कारण उसीको अवश्य भोगना पड़ता है किन्तु आत्माको नहीं भोगना पड़ता है! सूक्ष्म शरीरका लक्षण इस प्रकार है :—

अपंचीकृत पंचमहाभूतैः कृतं सत्कर्म जन्यं सुख दुःखादि भोग साधनं पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्चकर्मेंद्रियाणि, पञ्चप्राणादयः मनश्चैकं बुद्धिश्चैका एवं सप्तदश कलाभिः सह यत्तिष्ठति तत् सूक्ष्म शरीरम्।

अथ संचित कर्म वर्णन।

अनन्त कोटि जन्मनां बीजभूतं सत् यत्कर्मजातं पूर्वोर्जितं तिष्ठति तत्संचितं ज्ञेयम्॥

करोड़ों पूर्व जन्मोंका किया हुआ जो कर्मरूपी शुभाशुभ फल स्थित है, उसको सञ्चित कर्म कहते हैं, जिनका फल इस जन्ममें

अथवा आगेके जन्ममें भी मिलता है और पुरुषार्थसे जिसका क्षय हो सकता है। प्राणोंमें कोई वासना उठे और पुरुषार्थ करनेपर भी सिद्ध न हो अथवा पुरुषार्थ बिना भी अनिच्छासे पदार्थ प्राप्त हो, वह सञ्चित कार्यका फल जानो। इस कर्मका योग शरीरके दुःख सुखमें नहीं गिनना चाहिये, इससे वह भिन्न है।

सञ्चितं कर्म ब्रह्मैवाह मिति निश्चयात्मक ज्ञानेन नश्यति।

मैं ब्रह्म हूं, ऐसे निश्चयात्मक ज्ञानसे संचित कर्म नाश हो जाते हैं।

अथ आगामी कर्म वर्णन।

ज्ञानोतपत्यनन्तरं ज्ञानिदेहकृतं पुण्यपापरूपं कर्मयदस्ति तदागामीत्यभिधीयते॥

ज्ञानकी उत्पत्तिके पश्चात् ज्ञानीके शरीरसे जो पुण्य पाप रूप कर्म हो अर्थात् ज्ञानीसे जो सर्व पुरुषोंको उपदेश होता है, वह तो पुण्यरूप कर्म है और ज्ञानीके शरीरसे स्वाभाविक जो हिंसा होती है, उस पुण्य पापरूप कर्मको आगामि कहते हैं, अथवा और जो सर्व पुरुष इस समय पुण्य पापरूप कर्म करते हैं, उनको आगामी कर्म कहते हैं। इसीको कोई क्रियमाण कहते हैं, कि इस जन्ममें अपनी इच्छासे जो कर्म किये हैं और जो पुरुषार्थसे पूरे होते हैं, उन्हें क्रियमाण कर्म कहते हैं, पर इनमेंसे जिसका फल प्राप्त नहीं हुआ होगा। वही आगे जाकर संचित और प्रारब्धरूप हो जायगा।

आगामि कर्म अपि ज्ञानेन नश्यति । किंच आगामि कर्मणां नलिनीदल गत जलवत् ज्ञानिनां सम्बन्धोनास्ति ।

ये आगामी कर्म भी ज्ञानसे नष्ट हो जाते हैं और आगामी कर्मोंका ज्ञानीसे सम्बन्ध नहीं, क्योंकि ज्ञानीके शरीरसे जो क्रिया होती है, सो सब स्वाभाविक ही होती है । आसक्तिसे नहीं होती है । जैसे पत्ता वृक्षसे टूटकर रससे रहित हो जाता है और उसको जिस तरफ वायु ले जाये, उसी तरफ चला जाता है, परन्तु अपनी इच्छासे कहीं नहीं जाता, उसी प्रकार ज्ञानवानका शरीर कर्मरूपी वृक्षसे टूटकर इच्छारूपी रससे रहित हो जाता है और शरीरका प्रारब्धरूपी वायु उसे जिस तरफ ले जाता है, ज्ञानवानका शरीर उसी तरफ चला जाता है, परन्तु अपनी इच्छासे किसी क्रियामें भी नहीं प्रवृत्त होता । इस वास्ते ज्ञानीको आगामी कर्मोंका बन्धन परित्याग नहीं होता । जिस तरह कमलका पत्ता जलमें ही रहता है, परन्तु जल उसको स्पर्श नहीं करता, उसी तरह ज्ञानीके शरीरसे स्वाभाविक भले ही शुभाशुभरूप कर्म होवें, परन्तु उन कर्मोंका सम्बन्ध ज्ञानीसे नहीं रहता ।

किंच ये ज्ञानिनं स्तुवंति भजंति अर्चयन्ति तान्प्रतिज्ञानि-कृतम् आगामि पुण्यम् गच्छति, ये ज्ञानिनं निदंति द्विषंति दुःख प्रदानं कुर्वन्ति तान्प्रति ज्ञानिकृतं सर्वं आगामि क्रियमाणं इह वाच्यं कर्म पापात्मकं तद्गच्छति ।

जो पुरुष ज्ञानीकी स्तुति करता है, और पूजन करता है,

सेवा करता है, और उनके वाक्योंको मानता है, उस पुरुषको ज्ञानीके आगामी पुण्यरूप कर्म प्राप्त होते हैं। जो पुरुष ज्ञानीको दुःख देता है, निन्दा करता है, द्वेष रखता है, उस पुरुषको ज्ञानीके आगामी पापरूप कर्म प्राप्त होते हैं। इस प्रकार ज्ञानीका आगामी कर्मों से सम्बन्ध नहीं होता। इस वास्ते ज्ञानीका फिर जन्म भी नही होता, क्योंकि जन्मका हेतु पुण्य पापरूप कर्म है जो ज्ञानीके नाश हो जाते हैं।

(तत्वबोध)

अव उक्त तीनों कर्मों के विभिन्न विभागोका समझाना और जानना एक प्रकारसे असम्भव है, वल्कि सच पूछिये तो यह वात केवल नियन्ता ही जानता है। जैसा कि किसीने अपघात किया अथवा किसी देनदारने पावनेदारके हजारों रुपये खर्च कर दिये-पर वह जीवित न रहा। किसीने मित्रको धोखा दिया, किसीके अनजाने कर्मसे कोई निरपराधी बिना कारण मारा गया, किसीने जान-बूझकर किसीको मार डाला वा दुःख दिया, किसी समय किसीकी अच्छी बुद्धि होनेपर भी बुरी और बुरी होनेपर भी अच्छी हो जाती है। और अच्छे कर्मका बुरा और बुरे कर्मका अच्छा फल मिलता है, इत्यादिक कर्म किंवा फल संचित वा प्रारब्धरूप हैं। अथवा वर्तमानका पुरुषार्थरूप है, इसका यथार्थ निर्णय होना अशक्य है, इसीलिये कहा जाता है, "कर्मणा गहना गति." गीतामें कहा है :---

एवं ज्ञात्वा कृतंकर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।

कुरुकर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ ४।१५ ॥
किंकर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥
कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणोगतिः ॥ १७ ॥
कर्मण्यकर्म यःपश्येदकर्माणिच कर्म यः ।
सबुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्न कर्मकृत् ॥ १८ ॥
(इत्यादि)

मान लीजिये, कि कदाचित् किसी समय कोई योगी जान सके, किंवा अनुमानसे कुछ निर्णय हो सके, तो भी सर्वांशमें सर्व कर्मका निर्णय मनुष्य नहीं कर सकता। ऐसी विकट अवस्था होनेपर शरीर सम्बन्धी दुःख सुख अकस्मात् और रोकने पर भी बलात्कार, जिनका विकास होता है और वासना प्रबल हो उठती हैं, वह यथार्थमें प्रारब्ध और संचितके ही परिणामका वेग है। पुरुषार्थसे ही प्रारब्ध और संचित बनता है, और इसी अवस्थामें दुःख-सुखरूप फल होता है।

साधन और ज्ञान ये दोनो होनेपर भी, जो अपना कर्त्तव्य पालन न करे, उस कर्ताको अपनी अज्ञानता, प्रमाद और भ्रमका फल अवश्य मिलेगा, उससे कोई बच नही सकता।

और जब योग्य साधन और योग्य बुद्धि ज्ञान न हो (जैसे सिंह और बालक) ऐसी अवस्थामें जो कर्म होता है, वह भोग्य रूप कहलाता है जैसा कि सिंह गायको मारता है अथवा

छोटा बालक कुछ कर्म करता है इत्यादि। प्रकृतिकी दृष्टिमें जो बुरा कर्म है, उसका फल बुरा मिलता है। मसल मशहूर है "जैसी करणी वैसी भरणी।" इत्यादि।

कितनी ही बातें संशय-रहित निश्चय हैं। उनमे अपनेको जितना साधन और ज्ञान हो, उसके अनुसार कर्त्तव्य पालन करना और योग्यता बढ़ाते हुए पुरुषार्थ करना उचित है। और वह भी निष्काम हो तो सर्वोत्तम है, पर यदि यह न बन सके तो उत्तम सकाम कर्म बिना व्यक्तिमात्रका जीवन अथवा क्षणभर भी निर्वाह नहीं हो सकता है।

संचित अथवा प्रारब्धके आधारपर आलसी होकर बैठे रहना, अज्ञानता है। कदाचित कोई यह समझता हो, कि वर्त्तमानमें जो कुछ होता है, वह प्रारब्धके अनुसार ही होता है और पूर्वका कोई संचित कर्म है ही नहीं, तो यह सिद्धान्त भ्रमपूर्ण है।

वर्त्तमानके पूर्व जन्ममें भी कोई कर्म नही किया है, इसके सिद्ध हुए बिना प्रारब्ध और उसका भोग ही सिद्ध न होगा। यही नहीं, बल्कि पैदा होते ही जो बालक मर जाता है अथवा उसे कोई मार डालता है तो उसके उत्तर जन्मका अभाव हो जायगा और मुक्तिको प्राप्त हो जायगा।

और जो क्रियमाण न मानें तो प्रारब्धकी ही सिद्धि न होगी, इत्यादि विषय विचारने योग्य हैं। इस कारण पूर्व जन्मके क्रियमाणके कारण प्रारब्ध और सञ्चित दोनों हैं। यद्यपि जो

कर्म आप पूर्वमे कर चुके हैं, वही प्रारब्ध और संचित हैं तथापि उसका फल मिलना आपके हाथमें नही हैं। ऐसा क्यों किया और उसका क्या फल होगा, क्या न होगा आदि। यद्यपि आप जान नहीं सकते हैं, तथापि इतना तो अवश्य जान सकते हैं कि प्रारब्ध और संचित हमारे किये हुए हैं अर्थात् ये हमारे पूर्व पुरुषार्थरूप हैं। इस कारण सर्वदा पुरुषार्थमे लगे रहना चाहिये, साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये, कि इष्ट कार्य न हो, उसे अपने प्रारब्धका संचित फल मानकर सन्तोष रखो। सारांश यह है, कि प्रारब्ध और संचितके भरोसेपर क्रियमाण पुरुषार्थको न छोड़ देना चाहिये।

शिष्य—हे गुरु! आपका किया हुआ। यह उपदेश अभी हमारे चित्तमें नहीं समाता है।

गुरु—तुम्हारा ऐसा ही प्रारब्ध वा संचित है कि इस प्रकार से आलसी और दरिद्री रहते हुए दुःख भोगते हो। तिसपर भी पुरुपार्थको नहीं मानते हो। ऐसे हठीलेको बड़े वन्दोवस्तके साथ कोठरीमें वन्द कर दिया जावे और फिर वहाँ अपने आप खानेको नित्य मिले तो जानना कि प्रारब्ध सच्चा है। पर ऐसा तो होता नहीं। मुंह चलाये विना भोजन गलेसे नीचे नहीं उतरता। रसोई वनाये विना भोजन तयार नहीं होता। इन सब दृष्टान्तोंसे सिद्ध होता है, कि मुख्य वात पुरुषार्थ है। आजकल जो प्रारब्ध और पुरुषार्थ सम्वन्धी विवाद चलता है, वह व्यर्थका समय गँवाना है। यह निश्चय समझ लो, कि प्राण निकलने तक

पुरुषार्थ करना ही पड़ता है। हां, यह बात अवश्य है कि अच्छा पुरुषार्थ करोगे तो इस जन्म और दूसरे जन्ममे सब प्रकारसे सुख मिलेगा और ज्ञान प्राप्त होकर मोक्ष मिलेगी, नहीं तो उसके विरुद्ध दुःख मिलेगा। इसलिये सदैव सत पुरुषार्थ करते रहो, यही तुम्हारे प्रश्नका उत्तर है।

मैं चाहूं सुमिरन करन, आलस उठन न देत।
याते आप बचाइके क्यों, न शरणमें लेत?

छठी लहर.

भ्रम दर्शन ।

मन प्रबोध ।

एतस्माद्विरमेन्द्रियार्थ गहना दायासकादाश्रय ।
श्रेयो मार्गमशेष दुःख शमन व्यापार दक्षं क्षणात् ॥
शान्तं भावमुपैहि संत्यज निजां कल्लोल लोलांगति ।
माभूयोभजभंगुरां भवरतिं चेन्तः प्रसीदा धुना ॥

हे चित्त, तू अत्यन्त परिश्रम करानेवाले विषयोंसे विराग कर, और सर्व दुःखोंके दूर करनेमें समर्थ कल्याणके मार्गका आश्रय कर, स्वयं स्वरूप आत्माको प्राप्त हो। जल तरंगके समान चञ्चल बुद्धि और क्षणभंगुर संसारसे प्रीतिको त्यागकर प्रसन्न हो।

शिष्य—हे गुरु! मन स्थिर न रहनेसे बारम्बार भ्रम होता है, इसका क्या कारण है? घड़ीभर भी एक विचार स्थिर नहीं रहता, क्षणभरमें एक, तो क्षणभर बाद ही दूसरा, वह भी पूरा न होने पाया, कि फिर तीसरा, इस प्रकार विचार स्थिर नहीं रहते। खरी वस्तु खोटी जान पड़ती है, खोटी वस्तु खरी जैसी जान पड़ती है, इसका कारण क्या है?

गुरु—हे शिष्य! जिसने मनको वशमें किया है, उसने सबको वश किया है। यद्यपि जो भ्रम होता है, वह केवल अज्ञान-

से ही होता है। पर जब दृढ़ चित्तके साथ उत्तम ज्ञानका निवास होता है, तब उस अचल वृत्तिवाले मनुष्यको भ्रम नहीं होता।

मैं भ्रमके विषयमें तुझसे दो बातें कहता हूं, सो सुन। जिससे तू यह समझ जावेगा, कि भ्रम होनेमें विचारका मिलाप किस प्रकार होता है।

एक गांवमें रामचन्द्र नामक किसान रहता था। वह उस गांवका मुखिया था। उसके यहां दयालचन्द नामक एक दूसरा आदमी मिहमान आया। वह दो पहर बाद आया था। अतः मुख्य पटेलने उसका भलीभांति सत्कार किया। जब रात्रि हुई तो उस मिहमानके सोनेका एक उत्तम गृहमें प्रवन्ध कर दिया। यह कोठरी अच्छी साफ सुथरी थी, उस मुखियाके घरमें जो पांच सात कोठरियाँ थीं, उसमें यह सबसे अच्छी थी। प्रायः गांवोंमें किसानोंके घर छतवाले नहीं होते, बल्कि छप्पर छाये हुए होते हैं, और उसमें भीतर जानेका एक ही दरवाजा होता है, इससे उसमें उजाला या प्रकाश और पवन अन्य किसी मार्गसे आ नही सकता, पर दयालचन्दवाली कोठरीमें एक छोटी खिड़की थी। दयालचन्द उस कोठरीमें जाकर चारपाईपर सो रहा। थका हुआ तो था ही तुरन्त निद्रा आ गई। रातके दो बजे, उसकी आंख खुली। जाड़ेके दिन थे, रजाई ओढ़कर सोया था, अपने मुँहपरसे रजाई हटाकर सहजही वह बाहरकी ओर देखने लगा, तो उसने अपनी चारपाईके दायीं ओर दीवारपर क्या देखा कि काले मुँहवाला एक मनुष्य

मैले कपड़े पहने हुए दोनों हाथ फैलाये, विकराल रूप धारण किये खड़ा है। उसे देख दयालचन्द एकदम भयभीत हो गया। उसने जो देखा था, वह वडा भयङ्कररूप जान पड़ा था। भयके कारण उसने रजाई फिर मुँहपर डाल ली और विना बोलेचाले, चुपचाप रजाईसे मुँह ढांके पड़ा रहा। पर भयके मारे उसे नींद न आई। शरीर कांपने लगा, दिल धड़कने लगा, मानों छातीपर किसीने वड़ा भारी बोझ लाद दिया हो। उसपर भयका ऐसा बोझ हो गया, कि वह घबड़ा उठा और सोचने लगा कि यदि मैं चिल्लाता हूं तो यह दीवारके सहारे खड़ा हुआ भूत मेरी गर्दन मरोड़, मुझे मार डालेगा। यह विचारकर वह कुछ न बोल सका। थोड़ी देर बाद फिर थोड़ी रजाई उठाकर देखने लगा तो वैसा ही भयानकरूप फिर दिखाई पड़ा। तब तो उसे निश्चय हो गया कि या तो यह भूत है या ब्रह्म राक्षस है। क्योंकि दीवारके समीप अधर खडे होनेकी शक्ति मनुष्यमें होती ही नहीं और देवता और भूतादिके पांव धरतीपर नहीं लगते हैं, आँखोंकी पलकें नहीं गिरती हैं, छाया नहीं होती है, पर यह हिलता डोलता नहीं है। इसका कुछ न कुछ कारण है। रजाईमें मुँह छिपाये हुए, वह ऐसे अनेक विचार कर रहा था, और विशेष विचारके लिये कभी कभी थोड़ी रजाई उठाकर देख भी लिया करता था। खिड़कीसे चन्द्रमाकी चांदनीका प्रकाश उस ब्रमराक्षसके ऊपर पड़ता था। इससे वह ठीक ठीक मनुष्य जैसा जान पड़ता था। दयालचन्दने सोचा, कि यदि मैं अधिक

देरतक यहां पड़ा रहूंगा तो यह ब्रह्म राक्षस प्रातःकाल तक मुझे अवश्य मार डालेगा। इससे किवाड़ खोलकर बाहर जाकर शोर मचा दूँ तो अच्छा है। अड़ोसी पड़ोसी भी जाग्रत हो जायँगे। यह विचारकर एकदम चारपाईपरसे उठ खड़ा हुआ और झटपट किवाड़ खोलकर बाहर आकर चिल्लाया। सुनते ही घरके मालिक रामचन्द्र हाथमें लाठी और तलवार लेकर पड़ोसियों सहित वहां आया और बोला कि क्या है ? क्यों चिल्लाये ? क्या कोई चोर है ? इसके उत्तरमें कांपते हुए शरीरसे दयालचन्दने कहा कि भाई मैं तो आज मरते मरते बच गया। इस घरमें ब्रह्मराक्षस खड़ा है, यदि मैं अधिक देरतक बिना चिल्लाये पड़ा रहता तो सवेरे मरा हुआ मिलता। दयालचंदकी बात सुनकर मुख्य पटेल आदि कहने लगे कि नहीं नहीं, इस घरमें तो कोई ऐसी बाधा नहीं है। हमारे बाल बच्चे हर वक्त आते जाते रहते हैं पर कभी कुछ नहीं देखा भाला है। चलो देखें, क्या है ? यह कहकर पाँच सात आदमी हथियार लेकर उस घरके भीतर गये और दयालचंदको भी साथ लिया। सब लोग घरमें पहुँच गये तब दयालचंदने अपनी चारपाईपर बैठकर उङ्गलीसे बताया कि देख लो वह काला मुँह दिखाई दे रहा है। यह सुनकर उन लोगोंने रौशनी लेकर दीवारके पास जाकर देखा तो मालूम हुआ, कि दीवारकी खूंटीपर एक पकी हुई काली मिट्टीकी हांडी टँगी हुई है और उसके नीचे फटा हुआ बेकाम पुराना अङ्गरखा मरम्मत कराकर इस ढंगसे रखा है कि डोरीपर

उसके दोनों हाथ फैले हैं। उस हांड़ीपर चन्द्रमाका प्रकाश पड़ता था। इससे वह काला सिर सा जान पड़ता था और उसके दो हाथ इस तरह जान पड़ते थे, कि आस पासकी दो खूटियोंपर सुतलीसे वन्धी हुई उसकी आस्तीन (वांहें) फैली हुई थीं। जव सव लोगोंने उसके पास जाकर निश्चय कर लिया, तव तो दयालचंदके सामने सभी खिलखिलाकर हँस पड़े, और दयालचंद वड़ा लज्जित हुआ। उसने सिर नीचा कर लिया और कोई उत्तर न दे सका। वह लज्जित होकर क्षमा मांगने लगा।

हे शिष्य! ज्ञानेन्द्रिय द्वारा जिस विषयका स्फुरण होता है, वह वृत्ति सव विषयोंके साथ सम्वन्ध रखने-वाली है, भय, शोक, मोह, ईर्षा आदि पृथक् पृथक् विषयोंके विभागमेंसे जव जिसका जोश दूधकी भांति उफनता है, तव उस विषयके साथ ही वृत्ति भी आगे वढ़ती है। दयालचंदके अन्त.करणमें जव भयका निवास था, तव उस भयके द्वारा भयकी सारी वृत्तियां प्रगट हुई थीं। यद्यपि नेत्र ज्ञानेन्द्रिय है, पर उसमें जितनी देखनेकी शक्ति थी, उसने उतना ही देखा था। उस नेत्रसे आकृति सिद्ध हुई थी, पर जो आकृति नेत्रोंसे चित्रित हुई थी, वह आकृति सप्रमाण स्वानुभवमें आई है वा ठीक ठीक अनुभवमें न आकर भ्रम पूर्ण है। यह वात शुद्ध अन्तःकरण-के दृढ़ निर्मल ज्ञानके विना नहीं हो सकती है और जवतक यह न हो, तवतक नेत्र आकृतिको ही दिखा देता है और उसके साथ यदि कुछ भ्रम हो तो उसका निवारण नेत्र नहीं कर सकते।

नेत्र इन्द्रिय अज्ञानका नाश नहीं कर सकती, वल्कि वह नेत्र अपना ही विषय दरसाता है। पर ज्ञान द्वारा जब नेत्रोंका उपयोग किया जाय, तब जिस प्रकार अँधेरेमें पड़ी हुई रस्सी सर्प जान पड़ती है, उसे जब ज्ञान द्वारा देखते हैं, तो रस्सीका निश्चय हो जाता है। हे शिष्य, इसी प्रकार इस संसारको तू जान ले, तू अव इस स्थूल नेत्रोंसे जिस जिस आकृतिका जगत और आकाशमे अनन्तग्रह देखता है, उन सबको रज्जु सर्पवत जान ले, भ्रमसे जैसे रस्सीका सर्प देखनेमें आया था, वैसे ही भ्रमसे यह जगत देखनेमें आता है, आत्मवोधमें कहा है।

ससार स्वप्न तुल्योहि रागद्वेषादिसङ्कुलम्।
स्वकाले सत्यवद्भाति प्रवोधे सत्यसद्भवेत्॥

रागद्वेप इत्यादिकसे व्याप्त हुआ यह संसार (जगत) स्वप्नतुल्य है। स्वप्न-समयकी अवस्था स्वप्नमें ही सच्ची जान पड़ती है पर जव जाग्रत अवस्था होती है, तव प्रवोधसे अर्थात् ज्ञानसे आत्मा और ब्रह्मकी एकता ज्ञानसे, वह स्वप्न असत्य भासता है। इसलिये मिथ्या जगतसे आत्माके अद्वैतमें कुछ हानि नहीं होती। हे शिष्य! उस भ्रमका नाश होनेके लिये और उत्तम ज्ञानके लिये पुरुषार्थ कर।

सातवीं लहर।

कर्मोपासना सिद्धि।

या साधूञ्श्चखलान्करोति विदुषो मूर्खान्हितान्द्वेषिणः।
प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात्॥
तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वांछितं।
हे साधो व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्था वृथामाकृथा॥

हे मनुष्यो! यदि मनवांछित फल भोगनेकी इच्छा हो, तो सत्कर्म करो। इससे दुराचारी भी सत्पुरुष वन जाते हैं। मूर्ख विद्वान हो जाते हैं, और शत्रु मित्र हो जाते हैं। परोक्ष वस्तु प्रत्यक्ष हो जाती है, विष अमृत हो जाता है, सत्कर्ममें ऐसा ही सामर्थ हैं।

शिष्य—हे गुरु! कर्म और उपासना किसे कहते हैं? इसका मुझे कृपा पूर्वक उपदेश दीजिये।

गुरु—पंच महायज्ञ, मनुस्मृति, धर्म, मीमांसा और पातंजल योग दर्शन, गीता, ये ग्रन्थ गुरुकी सहायतासे ध्यानपूर्वक मनन करो तो कर्म और उपासनाकी सारी विधियाँ समझमें आ जायँगी।

गति ही कर्म है (परन्तु परमार्थ विषयमें गति क्रिया विशेषका नाम कर्म है, जैसा कि ईश्वरका नाम स्मरण—यज्ञ करना आदि) और जिसका ज्ञान प्राप्त करना है, उसके समीप, उसके साथ जुड़ना ही उपासना कही जाती है।

घटादिके साथ वृत्तिका जोड़ना अर्थात् उसकी प्रतीति होना ही ज्ञान प्रतीति है, यह मालूम हो जाता है, कि यह घट है। फिर उसका ग्रहण वा त्याग यह उपयोग हुआ, भला है या वुरा है, प्रवृत्ति वा निवृत्ति व्यवहारमात्र है। कर्म उपासना और ज्ञानके बिना नहीं होते हैं। खाना पीना, शौच आदि तथा दृष्टि प्राप्ति प्रसंग मात्रपर विचार करोगे तो यह बात सहज ही समझमें आ जायगी।

शिष्य—पञ्च महायज्ञ किसे कहते हैं।

गुरु—ब्रह्म यज्ञ, देव यज्ञ, पितृ यज्ञ, श्राद्ध-तर्पण, अतिथि यज्ञ और भूत यज्ञ ये पांच महायज्ञ हैं, इनमेसे ब्रह्मयज्ञ उसे कहते हैं, कि नैष्ठिक वा गृहस्थ ब्रह्मचर्य-पूर्वक आचार्यकी सेवा करे और अनेक प्रकारकी विद्याका अनुभव करे कराये, तथा संध्यावंदनादि करे, इनको ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। इस यज्ञके करनेसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्रप्ति होती है।

१ देव-यज्ञ—अग्निहोत्र करना (कस्तूरी-केसर मिला हुआ घी, गुग्गुल, मिष्ठान्न-धूप आदि सुगंधित पदार्थ नित्य धूम रहित अग्निमें हवन करना) और भोजन करते समय बलि-वैश्वदेव करना, इस देव यज्ञके करनेसे बुद्धि, वीर्य, पराक्रम, आरोग्यता और कान्ति आदिकी प्राप्ति और वृद्धि होती है, मीठा मिला अन्न पृथ्वीपर वा अग्निमें चढ़ानेको बलिवैश्वदेव कहा जाता है।

२ पितृ यज्ञ—अपने माता पिताकी श्रद्धापूर्वक सेवा करना, अत्यन्त सेवा कर उनसे आशीर्वाद प्राप्त करना, माता पिताके

ऊपर इष्ट देवके तुल्य भाव रखना, इसे पितृ-यज्ञ कहते हैं। इस यज्ञके करनेसे ज्ञान, सद्‌गुण-सच्चे अर्थ-पदार्थोंका निर्णय और कृतघ्नतासे हीनता आदि फल मिलता है तथा मृत पित्रोंके लिये श्राद्ध तर्पण करना। पितृ एक प्रकारकी देवयोनि है। मनुष्य जन्मसे ही देव-ऋषि और पितरोंका ऋणी होता है। उसका चुकाना सन्तानका कर्त्तव्य है। विशेष विधि शास्त्रोंमें विस्तार पूर्वक कही गई है।

३—अतिथि यज्ञ—अतिथि जब आवे तब सत्कार पूर्वक आसन देकर उसकी अन्न और वस्त्र द्वारा सेवा करनी, उसके साथ नम्रता पूर्वक संभाषण आदि सत्सङ्ग करना। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ज्ञान विज्ञान आदिकी व्यवस्था सुननी। इस यज्ञके करनेसे अज्ञान निवृत्ति होकर दोनों लोकोंमें सुख प्राप्त होगा। पाखंड नाश होगा, भ्रान्ति दूर होगी, और अधर्माचरणका भी नाश होगा।

४—भूत यज्ञ—गाय-कुत्ता आदि जीवोंको तृण जल अन्नादि यथाशक्ति देना—इस प्रकार दया दृष्टिसे वेचारे जीवोंका संरक्षण करना, इसे भूत यज्ञ कहते हैं। ऐसा करनेसे परोपकार, पशु-रक्षा, उदारता, करुणा, दया, क्षमा आदि उत्तम गुणोंकी प्राप्ति होती है।

हे शिष्य! कर्म उपासनासे चित्त पवित्र होता है, जिस प्रकार स्नान करनेसे शरीर स्वच्छ होता है, जिस प्रकार हरड़ सेवन करनेसे उदर स्वच्छ रहता है, जिस प्रकार जल पीनेसे

तृषा मिटती है, जिस प्रकार उषःपान अर्थात् प्रातःकालमें सेर भर जल पीनेसे वात पित्त कफादिकी शान्ति होती है। उसी प्रकार कर्म उपासनासे चित्तकी दृढ़ताके साथ अन्तःकरण की मलिनता नाश होती है, इसपर एक गूढ़ वार्ता है। वह मैं तुझसे कहता हूं, जिससे कर्म उपासना करनेवालेकी कैसी दृढ़ वृत्ति होती है, उसे तू समझ सकेगा।

महा विकट पर्वतों और उसके जङ्गलोंमें झोपड़ी वनाकर रहनेवाले भील लोगोंके समुदायमेंसे एक भील अपने कन्धेपर धनुष और तरकशमें वाण भरकर मृगोंके शिकारके लिये घने जङ्गलोंमें घूमता फिरता था। पेट भरनेके लिये दो तीन खरगोश मारकर लटकाये हुए वह एक दिन घरको आ रहा था, लौटते समय राहमें पत्थरके वने हुए मकानका एक खंड़हर रास्तेमें मिला। वह कौतूहलवश उस खण्डहरमें घुस गया। वहाँ उसे एक महादेवजीका लिंग दिखाई दिया। उसपर किरणें चमक रही थीं। अव उसने विचारा कि यह लम्वा गोल पत्थर ऐसी विचित्र आकृतिका कैसा है और किस काममें आता होगा! यह विचारकर उसने उसे उठाकर पास रख लिया और यह भी निर्णय किया, कि किसी तप करनेवाले साधु वा योगीसे पूछूंगा। वह इसका पूर्ण भेद वतलावेगा। यह निश्चय कर शङ्करका वाणलिङ्ग लेकर वह चल दिया। भावी वश उसे मार्गमें एक तपस्वी मिला। उसे देख यह भील खड़ा हो गया और उसे शङ्करका वाण दिखाकर पूछने लगा कि महा-

राज ! यह क्या है ? और किस काम आता है ? यह सुन, उस तपस्वीने विचार किया, कि इस हिंसा करनेवाले क्रूर अज्ञानीके हाथमें परम पवित्र शङ्करका वाण पड़ गया है। यह ईश्वरकी गहन इच्छा है।पर यह मूर्ख भील इस वाणकी यदि पूजा करे तो इसकी मुक्ति हो जायगी। पर इस अज्ञानीसे भला पूजन कैसे वन सकता है ? फिर ऐसे अज्ञानीके साथ माथा पच्ची करना भी व्यर्थ है क्योंकि वह ज्ञानका रहस्य समझनेका विलकुल ही अधिकारी नहीं है। तो भी इसको कुछ उत्तर तो देना ही चाहिये। यह विचारकर उस तपस्वीने उससे ठठोल (मसख़री) में कहा—"अरे भील! तू इस वातका भेद क्या जाने! इसका भेद वड़े वड़े योगीश्वर भी नहीं जानते हैं।"

भीलने मनमें यह समझा, कि इसमें कोई चमत्कार अवश्य है तव तो वड़े वड़े योगी भी इसका भेद नहीं जानते हैं। यह वात यह तपस्वी कहता है। यह झूठ न कहता होगा। यह विचारकर वह भील तपस्वीसे वोला—हे महाराज! इस वात-का भेद कृपाकर मुझे वताइये।

तपस्वी—भाई, यह तो महादेवजीका वाणलिङ्ग है। इसकी जो कोई श्रद्धा भक्ति पूर्वक पूजा करता है, नैवेद्य चढ़ाता है, वेल-पत्र चढ़ाता है, उनके सन्मुख आनन्दसे नाचता है, और पञ्चा-क्षरी मन्त्र इस वाणके आगे वैठकर नित्य दश माला जपता है, उसका दरिद्र दूर हो जाता है और शिवजीका साक्षात् दर्शन होता है। पर तू क्या यह कर सकेगा ?

भील—अजी महाराज ! यह तो मैं भी कर सकता हूँ !

तपस्वी—(हँसकर) तो क्या तू जले हुए मुर्देकी चितामेंसे लाकर भस्म भी हर रोज़ चढ़ा सकेगा ?

भील—अजी महाराज ! यह कौनसी कठिन बात है ! एक वार इस भस्मसे घड़ा भरकर रख लूँगा, वह पूरा हो जायगा तो फिर किसी नगरके श्मशानसे ले आऊँगा। इसमें मुझे कुछ भी दिक्कत नहीं पड़ेगी। इसलिये हे देव ! मुझे कृपा करके पञ्चाक्षरी मन्त्र वताइये।

तपस्वी–(भीलसे) ले सुन, पञ्चाक्षरी मन्त्र, 'ॐ नमः शिवाय' यह है। इसी मन्त्रकी माला फेरनी होगी। समझ लिया ?

इतना कहकर वह तपस्वी चला गया। पूर्व संस्कारवश उस भीलकी वृत्ति शङ्कर वाणकी पूजा करनेमें दृढ़ होने लगी। उसने परिश्रम करके श्मशानसे चिता भस्मका घड़ा भर लिया और उस शङ्करके वाणकी वह प्रति दिवस एक निष्ठासे पूजा करने लगा। उस भीलकी स्त्रीका नाम सुमुखी था। वह वड़ी रूपवती, गुणवती एवं पतिव्रता तथा धर्मपरायणा थी। अपने पतिकी वृत्ति शंकर पूजनमें लीन हुई देख, वह भी पूजनमें सहायता देने लगी। प्रात.काल पहले उठकर नये नये विकसित प्रफुल्ल पुष्प और वेलपत्र टोकरी भरकर चुन लाती थी, नैवेद्यके लिये ठीक समयपर थाल भरकर स्वामीके पास रख देती थी, थाल रख देनेके वाद थोड़ी देरतक शंकरके आगे वह भील, पैरोंमें घुँघरू बाँधकर नृत्य करता था, इस प्रकार हर रोज शंकर पूजामें

मग्न रहता था। एक दिन उसने देखा, कि घड़ेमें चिताकी भस्म बिलकुल नहीं है। यह देख, अति चिन्तातुर हो, श्मशानमें भस्म लेनेके लिये जा पहुंचा, परन्तु संयोगवश कई श्मशानोंमें पांच पांच कोश चारों ओर घूमनेपर भी, कहीं चिता भस्म नहीं मिली। सारा परिश्रम निष्फल हुआ। शङ्करका पूजन किये बिना, वह भील अन्न जल ग्रहण नहीं करता था। इस कारण क्षुधा और तृषासे अत्यन्त व्याकुल हो रहा था। अन्तमें घूमता-घामता थककर अपने घर लौट आया और उसने दीर्घ निश्वास लिया, नेत्रोंसे आंसुओंकी धारा बहने लगी। बोला—"अरे आज चिता-भस्मके बिना शङ्करकी पूजा क्या वृथा ही चली जायगी। अब मैं क्या करूँ?" यह कहकर अपनी स्त्रीसे कहने लगा—"हे मानिनी! तू यहाँपर लकड़ीकी चिता तैयार कर दे। मैं उसपर लेट जाऊंगा, तब तू अग्नि संस्कार कर देना और जब मैं भस्म हो जाऊंगा तब अपने हाथसे शङ्करजीकी पूजा कर वह भस्म चढ़ा देना।"

अपने स्वामीका वचन सुनकर उस स्त्री सुमुखीने उत्तर दिया—"हे प्राणपति! धर्म विरुद्ध कभी न होना चाहिये। यह आपकी दासी किस उपयोगके लिये है? मेरा ऐसा भाग्य कहां है, जो इस देहकी भस्म शङ्करजीपर चढ़े। मैं जलनेके लिये तैयार होती हूँ, आप मेरी भस्म सुख पूर्वक शङ्करजीपर चढ़ाइये!"

भील बोला—"हे सुन्दरी! अभी तू तरुण है! अभी तेरे

सांसारिक मनोरथ पूर्ण नही हुए हैं। इसलिये ऐसा साहस करनेकी तुझे जरूरत नहीं।"

सुमुखी—नाथ! जव आप अपनी देह ही अग्निको अर्पण करेंगे तो फिर मुझे किसका सुख भोगना है? तुम ही मेरे इष्ट देव हो, तुम्हारी सेवाको ही अपना एकमात्र धर्म मानती हूं। हे नाथ! आपके अतिरिक्त कोई भी पदार्थ मैं नहीं चाहती। अतएव अव विलम्ब न कर शङ्करकी पूजामे सावधान हूजिये। अव मैं अपना शरीर शंकरको अर्पण करती हू। यह कहकर वह अपने घरमे घुस गई। उसमें पशुओंके लिये घास भरी थी, उसमें उसने वैठकर आग लगा ली। इससे तमाम घरकी झोपड़ी और घास जल गई और वह भील देखता ही रह गया। अग्निकी ज्वाला वहुत ऊँची उठने लगी। उसकी स्त्री शिव पूजनके लिये घासमें जल मरी। उसका शोक उसके हृदयमें विलकुल न हुआ, वल्कि उलटा आनन्द प्राप्त हुआ। वह सोचने लगा, आज सर्व श्रेष्ठ पूजन होगा।

थोड़ी देर वाद, उसने अपनी स्त्रीके शव (चिता) की सव राख इकट्ठी करके एक वर्तनमें भर ली। उस दिन सोमवार और प्रदोष-का दिन था, जिस दिन यह सव कार्य हुआ था और वह भस्मके लिये दिन भर भूखा रहा था। सायंकाल होते ही, वह शिव-पूजनमें वैठ गया। उत्तम जलसे शिवजीको स्नान कराया, फिर चन्दन, अक्षत आदि चढ़ाकर विल्वपत्र चढ़ाये और पद्मासनसे वैठकर शंकरका ध्यान करके माला जपने लगा। मानो वह नित्य

नियमानुसार ही पूजा करता हो। इसके वाद उसके ध्यानमें तदाकार हो गया। जिस समय शिवजीके आगे नैवेद्य रखनेका समय हुआ तो उस समय अपनी स्त्रीको नित्य नियमानुसार पुकार कर उसने कहा—"अरी ओ! शिवजीके लिये थाल तैयार करके लेती आ, देर न कर!" यह कहकर फिर शिवजीके ध्यानमें लीन हो गया। थोड़ी देर पीछे अनेक प्रकारके सुशोभित अलंकार धारण कर, उसकी स्त्री एक थालमे मिष्टान्न आदिक पदार्थ भरकर नित्य नियमानुसार लाई और अपने पतिसे कहने लगी—"हे स्वामिन्! स्वस्थ हूजिये। यह थाल सदाशिवजीके लिये लाई हूँ।", उस भीलने उधर देखा तो उसे याद आया, कि मेरी स्त्रीने तो अपना शरीर शङ्कर-पूजाकी भस्मके लिये अर्पण कर दिया था। यह स्त्री कहांसे आई? उसने अत्यन्त आनन्दके आवेशमें सदाशिवको थाल भेंट किया और फिर नाचने लगा। पूजन पूर्ण हो गया। साक्षात् सदाशिव प्रगट हुए। शंकरका स्वरूप देखकर भील वारम्वार स्तुति करने लगा और उसके साथ ही उसकी स्त्री भी स्तुति करने लगी :—

तौद्धौ शंख कपाल भूषित करौ मालास्थि मालाधरौ।
देवौद्वारवती स्मशान निलयौ नागादि गो-वाहनौ॥
दिव्यक्षौ वलि दक्ष यज्ञ मथनौ श्रीशैलजा वल्लभौ।
पापंमे हरतां विभौ हरिहरौ श्रीवत्स गङ्गाधरौ॥ १॥

अव उस भीलसे शंकरजी वोले—हे भक्त! तू अयोध्यामें जा और आत्मज्ञान प्राप्तकर जीवन्मुक्त पदवीको प्राप्त हो। अब तू

कर्म उपासनासे मुक्त हो गया है। कर्म उपासना अन्तःकरण शुद्ध होनेके लिये करते हैं। सो अब तेरा हृदय शुद्ध हो गया, अबतक जिस प्रकार तूने मेरे स्वरूपमे तदाकार वृत्ति रक्खी थी, वैसे ही तू मेरे स्वरूपपर अपने शरीरमें तदाकार वृत्ति रख। मैं तेरे अन्तःकरणहीमें निवास करूंगा। श्रीभगवानने गीतामें कहा है कि :—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानिमायया॥ १८।६१॥
इन्द्रियाणिपराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परावुद्धिर्योवुद्धे. परतस्तुसः॥ ३।४२॥
आश्चर्यावत्पश्यतिकश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैवचान्यः
आश्चर्यवच्चैन मन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥
(गीता २।२६)

इसलिये, अब तू कर्म उपासनासे दूर हो, और निरन्तर आनन्दमें मग्न रहकर तू मेरी (अपनी) ओर देखाकर कि मैं कौन हूं। इसलिये तू आत्मज्ञान प्राप्तिके लिये श्रीवसिष्ठ गुरुके पास जा और जीवन्मुक्त हो। यह कहकर शंकरजी अन्तर्द्धान हो गये। शंकरजीकी आज्ञानुसार वह भील श्रीवसिष्ठजीके पास गया। उस भीलको देखते ही वसिष्ट मुनीने कहा—क्यों! तुमको क्या सदाशिवजीने भेजा है? श्रीवसिष्ठजीका यह वचन सुनकर भीलको बड़ा आनन्द हुआ। वसिष्ठजीने उसे ब्रह्मज्ञानका बोध कराया। जिससे वह जीवन्मुक्त हो गया।

हे शिष्य! तात्पर्य यह है, कि उस भीलने कर्म उपासना करके मनको दृढ़ कर रक्खा था। चिता भस्म न मिलनेसे जब वह निराश हो गया था, तब देवांगना सदृश अपनी सती स्त्रीको भी जला दिया। चिता-भस्मके लिये अपने स्वामीका चित्त व्यग्र देख, उसकी स्त्री जल मरी और उसने उसे जल जाने दिया। यह उसके हृदयकी दृढ़ भक्तिका चिह्न है। जब मन वशमें होता है, जब एकाग्र वृत्ति होती है, जब जिस कार्यका आरम्भ किया हो, उसकी उपासनापर अटल प्रेम होता है, तब ही वह मुमुक्षु स्थितिमें आनेके योग्य होता है, और फिर आत्मज्ञान प्राप्त करनेका अधिकारी गिना जाता है। कर्म उपासना रहित हो जाता है।
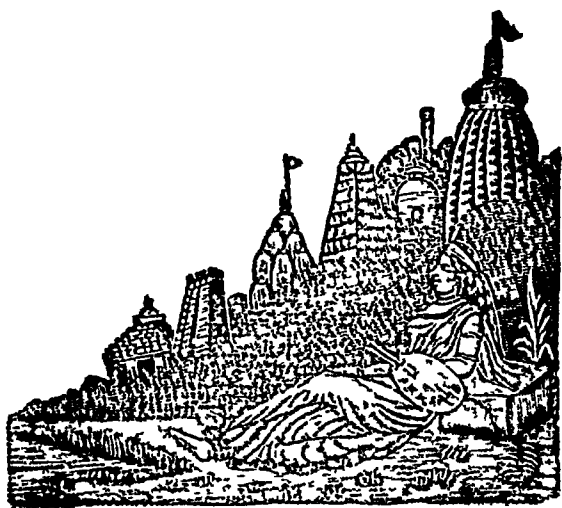
आठवीं लहर।

सुसंग सिद्धि।

वाञ्छा सज्जन संगमे परगुणोप्रीतिर्गुरौ नम्रता।
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम्॥
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्ग मुक्तिः खलै
रेतेयेषु वसन्ति निर्मल गुणास्तेभ्यो नरेभ्योनमः॥
(भर्तृहरि)

भावार्थ—सज्जनोंके समागममें इच्छा, दूसरोंके गुणमें प्रेम गुरुजनोंमें नम्रता, विद्याका व्यसन, अपनी वनिता स्त्रीपर रति, लोकमें निन्दाका भय, शंकरके ऊपर भक्ति, मनको वश रखनेकी सवल शक्ति, खलपुरुषोंके सहवासका त्याग, ऐसे निर्मल गुण जिन पुरुषोंमें हों, वह पुरुष पूज्य गिना जाता है।

शिष्य—हे गुरु! बड़े बड़े विद्वान् पण्डित लोग सुसङ्गकी बड़ी प्रशंसा कर गये हैं। सुसङ्गसे चमत्कारिक सिद्धि प्राप्त होती है, इस कारण कृपाकर यह भेद मुझे बताइये। हे परम कृपालु! आप जगतका कल्याण करनेवाले हैं। इससे मैं बारम्बार प्रश्न करता हूँ, मुझपर क्रोधित न होकर, प्रसन्न चित्तसे, दृष्टान्त देकर मेरे मनका समाधान करिये। मैं बड़ा उपकार मानूंगा।

गुरु—हे शिष्य! सुसंग करनेमें भी पुरुषार्थकी आवश्यकता है। जो मनुष्य प्रयल [illegible] पुरुषोंके साथ सहवास

करता है, वही विद्वान होता है। क्रिया करके ही विद्वान् पुरुष दूधमेंसे घी निकालते हैं, क्रिया करके पत्थरोंमें मिले हुए मणि निकाले जाते हैं और हीरोंकी परीक्षा करके जौहरी लोग उसे संग्रह करते हैं। प्रयत्न द्वारा विद्वान मनुष्य खलोंको वशमें करते हैं, प्रयत्न करनेसे क्रूर हिंसक पशु सिंह भी मनुष्यके वश हो जाता है, यद्यपि उस क्रूर प्राणीका स्वभाव वदलता नहीं, तो भी विद्वान पुरुष अपने वुद्धिवलसे उसे वश कर सकते हैं। जिसका पूर्वका अच्छा संस्कार हो और वह पुरुषार्थ करे तो उसे अच्छा फल मिलता है। सुसंगसे नीची वस्तुकी कीमत भी वढ़ जाती है और कुसङ्गसे घट जाती है। जैसे सुवर्णकी अँगूठी में कांचका टुकड़ा जड़ा हो, और उसे कोई सार्वभौम राजा हाथमें पहने हुए हो, तो उस अँगूठीमें जो कांचका टुकड़ा है, उसे दूरसे देखकर जौहरी लोग हजार रुपयेकी कीमत देंगे। कारण यही है कि उस कांचको सुवर्ण तथा राजाका सुसङ्ग है। कहा भी है :—

"कंचन संगति कांच ज्यों, मरकत मणि द्युति होय।
त्यों ही सन्तन साथते, मूरख पण्डित होय।"

इससे वह कांच नीच होनेपर भी मूल्यवान गिना जाता है! और इसके विपरीत मुलम्मेकी अँगूठीमें सच्चा कीमती हीरा जड़ा हो और वह अँगूठी लकड़हारे भीलके अथवा किसी जुलाहेके हाथमें हो तो उसे देखकर साधारण मनुष्य उसकी कीमत कुछ भी न वतलावेगा। यद्यपि वह वस्तु सच्ची है और वह

कीचड़में पड़ी हो तो उसका जो परीक्षक हैं, वही कीमत जान सकेगा। जङ्गली अज्ञानी मनुष्योंकी टोलीमें विद्वान पुरुषकी परीक्षा नहीं होती, गूँगे बहरे मनुष्योंकी मण्डलीमे सांगीत कुशल मनुष्योंकी परीक्षा नहीं होती, अँधोंकी टोलीमें नाटक करने-वालोंकी क़दर नहीं होती, इसी प्रकार विद्वान पुरुषकी क़दर साक्षरजन ही कर सकते और करते हैं। हे शिष्य! ऐसे विद्वान पुरुषका सङ्ग बुद्धिको उत्तेजन देता है। इसपर एक बड़ी रोचक कथा कहता हूँ सो सुन :—

धारा नगरीमें राजा भोजके पास कालिदास नामक आशु कवि थे, उनपर राजा भोजका अपूर्व प्रेम था, इसके अतिरिक्त और भी बड़े बड़े विद्वान कवि कालिदास, भवभूति, बल्लमिश्र, माघ, मल्लिनाथ, वररुचि, सुबंधु, बाणभट्ट, मयूर, रामदेव, हरि-वंव, शंकर, दण्डी, कर्पूर, विनायक, मदन, विद्याविनोद, कोकिल, तारीढ़ प्रभृति कविशेखर रामेश्वर, शुकदेव, भास्कर, शांडिल्य इत्यादि १४०० कवि थे। वे भी उत्तम काव्य रचनेवाले थे। समय समयपर उन पण्डितोंकी सभा हुआ करती थी। भोज राजा काव्यके रसका मर्म जाननेवाला था। इस कारण विद्वान कवि पण्डितोंको आदर पूर्वक अपने पास रखता था और हरएक कविको अत्यन्त प्रतिष्ठा पूर्वक नगरमें रखता था।

क्षिप्रानदीके किनारे संस्कृत साहित्यके अभ्यासके लिये राजा भोजने एक विद्यालय बनवाया था। उसमें कालिदास विद्यागुरुकी भांति नियुक्त थे। कालिदास प्रातःकाल चार घड़ी

अभ्यास कराकर अपने मकानपर चले आते थे। क्षिप्रानदीकी ओर जहां विद्यालय था, वहां लोगोंकी वस्ती समीपमें नहीं थी। वह एकान्त स्थानमें था। वहांका जल वायु बड़ा स्वच्छ था। उस विद्यालयसे थोड़ी दूर महा कालेश्वर महादेवका मन्दिर था। धारा नगरीसे वाहर वह स्थान मानो केवल विद्यार्थियोंकी ही आनन्द भूमि थी। कालिदास प्रातःकाल उस पाठशालामें आते थे। उस समय सव विद्यार्थी हाजिर रहते थे, कोई न्याय पढ़ता था, कोई व्याकरण पढ़ता था, कोई काव्य, कोई वेद श्रुति पढ़ता था। जो जिस विपयको पढ़ता था, उसे वही विपय कालिदासजी पढ़ाते थे। उस शालाके आस पास वाली खिड़कियोंके पीछे पीछे एक चाण्डाल मल मूत्र साफ किया करता था। उस समय जो विद्यार्थी, जो विपय घोखता था, और समझता था, उस विपयके समझनेमें वह चाण्डाल खूव ध्यान देता था। इस तरह वह चाण्डाल वारह वर्ष तक हरएक विपय ध्यान पूर्वक सुनता रहा। इस तरह वह वहुश्रुत हो गया। उसको संस्कृत भाषाका पूरा पूरा ज्ञान हो गया। उसने अपने घर संस्कृत अक्षर पढ़ लेनेका अभ्यास किया था। फिर उसने कितनी ही युक्तियाँ लिखकर पुस्तकें संग्रह की थीं। जो जो सुनता था, वह मनन करके पुस्तकमें देखकर घर आकर स्मरण करके पक्की रीतिसे समझता था। उससे उसकी वुद्धि निर्मल हो गई। यह चाण्डाल श्रवण द्वारा मनन स्थितिमें प्रवेश कर गया और ऐसा वहुश्रुत और ज्ञानी हुआ कि कालिदासको भी ऐसा होनेकी

कदापि सम्भावना नही थी ; क्योंकि वह खिड़कियोंके पीछे छिपा वैठा रहता था। कभी कभी किसी किसी विद्यार्थीके पीछेकी ओर वैठा रहता था। पर यह चाण्डाल पाठ सुनता है, और ज्ञान प्राप्त करता है, यह किसीको भी शङ्का नहीं थी। उस चाण्डालमें कविता करनेकी भी शक्ति हो गई थी।

एक दिन रातके दस वजेके समय राजा भोज अपने महलके छतपर कालिदासके साथ वैठे थे। वार्तालाप हो रहा था। प्रश्न यह था कि हितेच्छु कौन है? कालिदासने राजाके इस प्रश्नका यह उत्तर दिया कि ईश्वरकी कुछ कुदरत ऐसी है, कि सारे गुण एक आदमीमें नहीं होते हैं अर्थात् जो वुद्धिमान होता है वह हितेच्छु नहीं होता है और जो हितेच्छु होता है वह वुद्धिमान नही होता है। कोई रोगी हो तो उसे हितकर और स्वादिष्ट ओषधि भाग्यसे ही मिलती हैं। वैसे ही वुद्धिमान और हितेच्छु मिलना दुर्लभ है।

कालीदासका वचन सुनकर राजा भोजने कहा कि आपका कहना यथार्थ है पर इस समय इस विषयपर कोई श्लोक वनाया जाय तो ठीक है, पर यह कीजिये कि एक पद आप वनाइये और दूसरा मैं वनाऊँ। फिर तीसरा पद आप वनावें और चौथे पदकी पूर्त्ति मैं करूँ।

कालिदासने कहा, कि आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। यदि ऐसा ही आपका विचार है तो प्रथम पद मैं कहता हूँ। यह कहकर कालिदासने प्रथम पद कहा :—

कालिदास—मनीषिण. सन्ति न ते हितैषिणो।

भोज—हितैषिणो सन्ति न ते मनीषिणः।

कालिदास—सुहृच्चविद्वानपि दुर्लभोनृणां।

अब चौथा पद पूरा करनेकी राजा भोजकी बारी आई। दूसरा पद तो राजाने कहा था पर अब चौथे पदके लिये विचारमें पड़ गये। पद और अर्थ भी मिल जाय और छंदोभङ्गभी न हो, इसका विचार करने लगे। इतनेमें राजमहलके नीचे सड़कपर एकाएक आवाज़ हुई और किसीने चौथा पद नीचे लिखे अनुसार पूरा किया :—

यथोपधं स्वादु हितेच दुर्लभं।

राजा भोज यह वाक्य सुनकर चौंक पड़े और सोचने लगे कि हमारी सभामें अनेक पण्डित हैं, उनमेंसे कोई रास्तेमें चला जाता होगा, उसीने यह पद पूर्ति कर दी होगी, पर वह कौन है! यह विचार कर छज्जेपरसे अपने सिपाहीसे कहा, कि महलके नीचेसे किसीने एक श्लोक कहा है। उसे तलाश कर खबर दो कि वह कौन आदमी है?

राजा भोजकी आज्ञा पाते ही, तुरन्त सिपाही नीचे गया और पता लगाया तो उसे एक गरीब आदमी दिखाई दिया। उस चपरासीने उससे पूछा, कि तू कौन है? उसने जवाब दिया, कि मैं चाण्डाल हूं। चपरासीने कहा—अभी श्लोक किसने कहा, तू जानता है?

चाण्डाल—हां-जानता हूं, उससे आपको क्या काम है?

चपरासी—हमारे महाराजने उसकी खोज करनेके लिये

मुझे भेजा है। इस कारण तू जल्दी बतला दे, कि वह कहां गया ?

चाण्डाल—जिसकी आप तालाश करते हैं, वह तो मैं आपके सामने खड़ा हूं।

चपरासी—क्या तू चाण्डाल है ?

चाण्डाल—हां, मैं चाण्डाल हूं।

चपरासी—हमारे राज राजेन्द्रश्रीने जिसकी तालाश करनेको मुझे भेजा है, क्या तू वही है ?

चाण्डाल—हां, मैं वही हूं।

चपरासी—तू यहीं खड़ा रह, मैं ऊपर जाकर ख़बर देता हूं, मेरे आने तक तू यहांसे कहीं मत जाना—अच्छा !

चाण्डाल—बहुत अच्छा, मैं खड़ा हूं।

इस प्रकार चपरासीने नीचे आकर खोज की और बड़ी शीघ्रतासे छज्जेपर राजाके पास जा पहुँचा और खबर दी कि एक चाण्डाल खड़ा है।

भोज—क्या उसीने श्लोकका चरण कहा था ?

चपरासी—हां श्रीमहाराज !

भोज—मेरी समझमें यह बात नहीं आती कि उस चाण्डालने कहा होगा।

चपरासी—महाराज ! उसीने कहा है। उसने स्वीकार किया है।

राजा भोज—तू फिर जा, और उससे यह पूछ आ, कि तूने

चौथा चरण कहा था ? यदि वह फिरसे हमारे श्लोकका चौथा चरण कहेगा, तो मुझे विश्वास हो जावेगा।

चपरासी राजा भोजकी आज्ञानुसार नीचे गया और राजा भोज और कवि कालिदास दोनों छज्जेपर खड़े होकर, सड़कपर जो चाण्डाल खड़ा था, उसकी ओर देखने लगे। इधर वह सिपाही चाण्डालके पास जा पहुँचा और कहने लगा कि राजेन्द्रराज श्रीभोजजीका हुक्म है कि जो वाक्य तूने पहले कहा है, वही फिरसे, इतने जोरसे कह, कि श्रीहुजूर साहिब फिर सुन लेवें।

इस प्रकार चपरासीकी बात सुनकर उस चाण्डालने नीचे लिखे अनुसार उसी प्रकार चौथा चरण श्लोकका फिर कह सुनाया :—

यथोपधंस्वाद्‌ हितंच दुर्लभं।

चाण्डालके मुखसे चौथा चरण प्रत्यक्षरूपसे राजा भोज और कालिदासने सुना तो उन दोनोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने उस चाण्डालको आज्ञा दी कि कल प्रातःकाल सभामें हाजिर होना।

चाण्डालने जो चौथा चरण कहा था, वह राजाको पसन्द आया था। थोड़ी देर तक उस चाण्डालकी अवर्णनीय शक्तिपर राजा भोज और कवि कालिदासमें बात चीत हुई। फिर कालिदासजी अपने घर चले गये और राजा भोज अपने सुख विलास भवनमें चले गये।

प्रातःकाल हुआ। उस समय राजा भोजकी सभामे बड़े बड़े विद्वान उपस्थित होकर सभाकी शोभाको बढ़ा रहे थे। उस वक्त वह चाण्डाल फटे कपड़े पहना हुआ मैदानमें दूर खड़ा था। उसके शरीरका रङ्ग श्याम था। केवल उसके नेत्र निर्मल थे। उसने राजा भोजको संस्कृत श्लोकमें आशीर्वाद दिया। उसकी प्रासादिक निर्मल वाणी सुनकर, सब कविजन आनन्दित हुए। राजा भोजकी उस चाण्डालपर बड़ी कृपा हुई। राजाने उस चाण्डालसे पूछा—अरे चाण्डाल! तूने संस्कृतका अभ्यास किसके पास किया था?

इसके उत्तरमें चाण्डालने प्रत्युत्तर दिया, कि हे राजेन्द्र! आपकी सभामें महाकवि पण्डित कालिदास, जो विद्यारूपी अमूल्य रत्न हैं, उनकी कृपासे उनके हृदयमें निवास करनेवाले गीर्वाण विद्यारूप समुद्रमें मैंने सिर्फ चोंच ही डाली है—हे पृथ्वीनाथ! मैं तो अज्ञ और मूढ़ हूं।

राजा भोज—अरे तूने चाण्डाल होकर पण्डित कालिदासके पास किस प्रकार विद्याभ्यास किया था?

चाण्डाल—क्षिप्रानदीके तटपर, विद्यालयके पिछली ओर, मैं बैठा रहता था। इस कारण कालिदासजीने तो मुझे बिलकुल ही नहीं जाना, पर जब वे छात्रोंको पढ़ाते थे, तब उनके मुखसे निकले हुए वचन सुन सुनकर बारह वर्षमें मुझे भी कुछ कुछ ज्ञान हो गया है।

राजा भोज—शाबाश-शाबाश। तू चाण्डाल होकर भी

गीर्वाण विद्याको प्राप्त कर पवित्र हुआ है। इससे मुझे बड़ा आनन्द होता है।

चाण्डाल—हे प्रभु ! जो चाण्डाल कर्म इस शरीरको पूर्व संस्कारसे लगा हुआ था, वह श्रीकालिदासजीके द्वारा प्राप्त विद्याके योगसे नष्ट हो गया है। मैं प्रातःकाल स्नानकर शुद्धता पूर्वक, एकाग्र वृत्तिसे, अपने घरमें, एकान्त स्थानमें बैठकर परमात्माका ध्यान करता हूं। अपनी जातिके चाण्डाल लोगोंके साथ नीच कर्म नहीं करता हूं। इस देहको सार्थक करनेके लिये मैंने कर्म और उपासना आरम्भ की है। जबसे कर्म उपासना करता हूं, तबसे मेरा अन्तःकरण पवित्र रहता है। जितने चाण्डाल कर्म, भ्रष्ट और नष्ट व्यवहार हैं जो कि शारीरिक सम्पत्तिमें व्याधि उत्पन्न करनेवाले, तथा मन और अन्त.करणको मलिन करनेवाले और अनेक प्रकारके विषयोंके साथ मिलकर आत्मापर आवरणको प्रकट करनेवाले हैं, उन व्यवहारोंके साथ मैंने संसर्ग नहीं रक्खा है। चाण्डाल कर्म और चाण्डालजनोंके साथ संसर्ग न रखकर, एकान्तवासमें रहकर मनको निग्रह करनेकी कल्पनाके साथ जो पुरुषार्थका उदय हुआ है, वह श्रीमन्महाकवि श्रीकालिदासजीका ही प्रताप समझता हूं। उन्हींकी कृपासे मेरा मन शान्त रहता है, सुख और दुःखका वास्तविक स्वरूप देखनेमें आता है। उनके पवित्र अन्त.करणमेंसे जो जो शब्द विद्यार्थियोंके अन्तःकरणमें प्रेरित हुए थे, उन शब्दोंको सुनकर मेरे अन्तःकरणमें भी प्रेरणा हुई थी। मेरा अन्त.करणरूपी पात्र

कुपात्र था, उस कुपात्रको उनके पवित्र शब्दोंने, जैसे पारसमणि के स्पर्शसे लोहा सुवर्ण हो जाता है, उसी प्रकार मेरे हृदयको सुपात्र (शुद्ध) किया है। इसलिये मैं उनको अभिवन्दन करता हूं।

राजा भोज—(कालिदासकी ओर देखकर) हे कवीश्वर, इस चाण्डालमें किसी विचित्र बुद्धिने निवास किया है।

कालिदास—हे राजन्! इसका पूर्व जन्मका संस्कार और पूर्वका पुरुषार्थ श्रेष्ठ है। इस कारण इसकी विद्वत्ताके अनुसार इसका उपकार करना चाहिये।

राजा भोज—(प्रधानसे) हे प्रधानजी! इस विद्वान सुपात्रको एक लाख रुपया दीजिये और इसके रहनेका घर अच्छा बनवा दीजिये।

चाण्डाल राजाकी आज्ञा सुनकर बोला—हे राजेन्द्र! मुझे लाख रुपयेकी इच्छा नहीं और न बडे महलकी इच्छा है। क्योंकि महात्मा भर्तृहरिका वचन है:—

न संसारोत्पन्नं चरित मनु पश्यामि कुशलं।
विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः॥
महद्भिः पुण्योघैश्चिर परिगृहीताश्चविषय।
महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम्॥

(भर्तृहरि)

हे राजन्—संसारमें उत्पन्न हुआ कोई भी कर्म मुझे सुखदायक प्रतीत नहीं होता है। जब विचार दृष्टिसे देखता हूँ, तो पुण्य भी

परिणाममें भय उत्पन्न करता हैं। क्योकि अति पुण्यके संचयसे प्रकट हुए और चिरकालसे भोगे हुए विषय भी विषय भोगनेवाले पुरुषोंको अत्यन्त दुःखके कारण वन जाते हैं, अर्थात् ऐसी दु.खदायक तृष्णा है, कि जव तृष्णाका अंकुर फूटता है, तब वह वड़ा वृक्ष होनेके वाद, उससे मोहरूपी फल प्रगट होता है, मोह होनेसे द्रव्य संचय करनेकी लालसा रहती है, द्रव्य संचय होनेके वाद अनेक प्रकारका सुख भोगनेकी इच्छा होती है, और अनेक प्रकारका सुख भोगनेसे प्रमाद, अभिमान, श्रेष्ठत्वकी ममता, गर्व, ईर्ष्या, आत्मश्लाघा इत्यादि विकार धीरे धीरे शरीरमें प्रवेश करते हैं। जव ऐसा होता है, तव मन चञ्चल रहता है, और जव मन चञ्चल हो गया तव फिर सुख कहां! सुख और दु:ख माननेवाला मन है। जिसका मन वशमें है, वही परम सुखी है। हे राजन्! मैं आपकी पवित्र भूमिपर आनन्द पूर्वक रहता हू। आप सज्जन और गुणी मनुष्योके सुखके लिये प्रयत्न करते हैं। यह आपका अवर्णनीय पुण्य-प्रताप है।

राजा भोज—(चाण्डालसे) तव क्या तू त्यागी होना चाहता है?

चाण्डाल—हे राजन्! त्यागी भी कैसे हो सकता हूं? जन्म होते ही जीवको कर्म लग जाते हैं, उन कर्मोंका किसने त्याग किया है?

तुरन्त उत्पन्न हुआ वालक माताके स्तनोंसे दूध पीता है उसे पेटमे उतारता है—यह उसे किसने सिखलाया हैं? शौच

जाता है, पानी पीता है, निद्रा आती है, पांच ज्ञानेन्द्रियां अपने अपने धर्ममें वर्तती हैं? पञ्चकर्मेन्द्रियोंसे कर्म होता है। ऐसा सभी व्यवहार करते हैं। इन सव कर्मोंका त्याग जवतक नहीं होता, तवतक कोई भी त्यागी नहीं कहा जा सकता। फिर त्याग किसका करना चाहिये जव यह विचारते हैं तव सद्गुरुके द्वारा सद्ज्ञान और उत्तम शिक्षा प्राप्त होनेके वाद जो विवेकका सदुपयोग करता है, वह अन्तरकी वासनाको देखता है और वही ज्ञानी पुरुष कहलाता है वही असल त्याग है। हे राजन्! पेटके लिये मुझे जो कुछ अन्न चाहिये, वह आपकी प्रजामेंसे कोई भी मनुष्य मुझे दे सकता है, इसी कारण मैं विशेष लोभ नहीं रखता हूं।

राजा भोज—हे गुणी! अव तू चाण्डाल नहीं है। तेरा शरीर श्रेष्ठ पुरुषोंका जैसा है। इस शरीरमे तेरी चाण्डाल बुद्धि और चाण्डाल कर्म नही रहा है। इसलिये तुझको धन्यवाद देता हूं। तू चाण्डालोंके पुत्रोंको विद्या पढ़ाया कर, पाठशालाके लिये मकान वनवानेके वास्ते मैं मन्त्रीको आज्ञा देता हूं। अपने खान पानके प्रवन्धके लिये जैसे आदमी पसन्द हों, वह रक्खो और उसका खर्च सरकारी खजानेसे मिलेगा। राजा भोजने जव विद्या वृद्धिके लिये, इस प्रकार आज्ञा दी तव चाण्डाल अपना मस्तक राजाके आगे झुकाकर घरको चला गया। उसके चले जानेपर राजा भोज तथा दरवारी सव कवियोंने उस चाण्डालकी बहुत तारीफ की।

हे शिष्य ! सुसङ्गसे इस प्रकार सिद्धि प्राप्त होती है। सत शास्त्र अवलोकन करनेसे उत्तम उपदेश तत्व मिलता है। जब उस उपदेशका असर होता है, तब मनुष्य ठीक सन्मार्गपर चलते हैं। वास्तवमे सतसङ्ग करना ही उत्तम पुरुषार्थ है।

नवीं लहर.

ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं ?

तश्चेतस्मिन् वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यंदिनं सवनमनुसंतनुतेति माहं प्राणानां वसूनो मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्पगदोहं भवति ॥२॥

(छान्दोग्य० प्रपा० ३ खं० १६)

हे मनुष्यो ! तुम इस प्रकार सुखसे अपना विस्तार करो कि मैं ब्रह्मचर्यको भंग न करता हुआ २४ वर्ष पीछे गृहस्थाश्रम करूँ । इससे निश्चय होता है, कि मैं व्याधि रहित रहूँगा और मेरी आयु ७०—८० वर्ष की होगी।

शिष्य—हे गुरु! ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं और उस स्थितिमे किस प्रकारके कर्म करने चाहियें ?

गुरु—जो पुरुष उत्तम पुरुषार्थ प्राप्त करनेकी इच्छा करता है। उसे प्रथम ब्रह्मचर्य पालना करना चाहिये । जिसने ब्रह्मचर्य नहीं जाना, उसने कुछ भी नहीं जाना। जिस प्रकार सुवर्णके घटमें विष भरा हुआ होता है, उसी प्रकार जिसने ब्रह्मचर्य सेवन या पालन नहीं किया है, उसे ऊपरसे सफेद पक्षीकी तरह जान लेना चाहिये।

शिष्य – हे कृपासिन्धु ! इस विषयका जानना आवश्यक

है। अतएव कृपा कर इसका उपदेश कीजिये और यह भी सम-झाइये, कि ब्रह्मचर्यका नियम स्त्री-पुरुष दोनोंके लिये क्या क्या है।

गुरु— जो पुरुष २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य नियम पालन करे तो स्त्रीको १६ वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये, और जो पुरुष ३० वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करे तो स्त्रीको १७ वर्ष तक, और जो पुरुष ३६ वर्ष तक पालन करे तो स्त्रीको १८ वर्ष तक, जो पुरुष ४० वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करता रहे तो स्त्रीको २० वर्ष तक पालन करना चाहिये और जो पुरुष ४८ वर्ष तक पालन करे तो स्त्री २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य पाले। जिस पुरुषने जिस स्त्रीके साथ विवाह किया हो, उन दोनोंको ब्रह्मचर्य पालन की जब शुद्ध वृत्ति हो, तब इस प्रकारका नियम अच्छी तरह चल सकता है। उनमेंसे यदि पुरुष कदाचित् १०० वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करे तो वह अपने सबल ज्ञानकी सत्तापर है परन्तु इतनी उम्रतक जो पूर्ण विद्वान्, जितेन्द्रिय और निर्दोषी योगी हो वही स्त्री वा पुरुष ब्रह्मचर्य पालन कर सकता है। कामदेवके वेगको रोककर सदसद् विवेक द्वारा इन्द्रियोंको वश रखना, यह ज्ञानी पुरुषका ही काम है।

हे शिष्य! ब्रह्मचर्य व्रतधारीको किस प्रकार रहना चाहिये, तैत्तिरीयोपनिषद्में इसके बारह प्रकार बताये हैं जैसा कि :—

ऋतं—परिपूर्ण अच्छे आचरणसे, अभ्यास करे।

सत्यं—सत्याचारसे, सत्य विद्या पढ़े और पढ़ाये।

तपः—तपस्वी हो अर्थात् धर्मका अनुष्ठान करके वेद शास्त्र पढे और पढ़ावे।

दमः—वाह्येन्द्रियोंके वेगको रोके।

शमः—मनको निवृत्तिपूर्वक वशमें रक्खे।

अग्नयः—अग्नि आदि विद्युत्को जाने तथा उसके तत्वका चिंतन करे।

अग्निहोत्र—अग्निहोत्र करे!

अतिथयः—अतिथियोंकी सेवा करे और सद्विद्याका अभ्यास करे।

मानुषं—मनुष्य सम्बन्धी धर्मको जाने!

प्रजा—सन्तान और राज्यका पालन करता हुआ पढे और पढ़ावे।

पूजन—वीर्यकी रक्षा और वृद्धि करे और अभ्यास करे।

प्रजाती—अपने शिष्योंका पालन करे और पढ़ावे, पढ़े।

हे शिष्य! साधनपाद योगसूत्रमें कहा है कि अहिंसा अर्थात् वैर तथा हिंसाका त्याग करना, सत्य अर्थात् सच बोलना। अस्तेय वचन और कर्मसे चोरी न करना। ब्रह्मचर्य—उपस्थेन्द्रियका संयम करना। अपरिग्रह अर्थात् अत्यन्त लोलुपताका त्याग करके स्वत्वाभिमान रहित होना, इस प्रकारके ५ नियम ब्रह्मचारीको पालन करने चाहियें।

शिष्य—हे महाराज! ब्रह्मचर्य पालनमें तो बड़ी कठिनाई

जान पड़ती है। धन्य उनको है, जो इस अमूल्य रत्न ब्रह्मचर्यका सेवन साधन करते हैं।

गुरु—हे शिष्य ! और सुनो। योगसूत्रमें भी कहा है :—

"शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानिनियमाः।"

शौच अर्थात् स्नानसे पवित्र रहना। सन्तोष अर्थात् प्रसन्नवृत्तिसे रहना, जितना हो सके उतना पुरुषार्थ करना, हानि वा लोभमें शोक वा हर्ष न करना। तपका अर्थ कष्ट सहन करके धर्मयुक्त सत्कर्मोंका अनुष्ठान करना। स्वाध्याय अर्थात् पढ़ना और पढ़ाना। ईश्वर प्रणिधान अर्थात् ईश्वरकी भक्तिमें आत्माको अर्पण करना, इस प्रकार ब्रह्मचर्यके पांच नियम हैं।

हे शिष्य ! मनुस्मृतिमें कहा है कि अत्यन्त कामातुर और निष्कामता दोनों ही श्रेष्ठ नहीं। क्योंकि यदि कामना न की जायगी तो वेदोंका ज्ञान और वेद विहित कर्मादि उत्तम कर्म किसीसे नहीं हो सकेंगे, इसलिये मनुस्मृति अध्याय २ के २८ वें श्लोकमें कहा है कि :—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ;
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥

स्वाध्याय अर्थात् सब विद्याओंको पढ़ना और पढ़ाना।

व्रत—अर्थात् ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण करनेका नियम पालन करना।

होम—अग्निहोत्रादिक और सत्यका ग्रहण करना और असत्यका त्याग करना तथा सत्य विद्याका दान करना।

त्रैविद्येन—अर्थात् वेदकी आज्ञानुसार कर्म उपासना करना और तत्सम्बन्धी तथा तत्वज्ञान विद्याको ग्रहण करना।

इज्यया—यज्ञ करनेमें ध्यान रखना। इष्टा पूर्व इत्यादि।

सुतैः—सुसन्तानोत्पत्ति करना।

महायज्ञ—अर्थात् ब्रह्मदेव, पितृ और वैश्वदेव तथा अतिथियोंका सेवनरूप पंच महायज्ञ करना।

यज्ञैः—अर्थात् अग्निष्टोम आदि तथा शिल्प विद्या विज्ञानादि यज्ञोंके सेवनसे इस शरीरको ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वरकी भक्तिका आधाररूप ब्राह्मणका शरीर बनाया है। इसलिये हे शिष्य! इन साधनोंके विना ब्राह्मण शरीर बन नहीं सकता है। हे शिष्य! सुन, जिस तरह बुद्धिमान् सारथी घोड़ोंको कब्जेमें रखता है, वैसे ही मन और आत्माको अनुचित कामोंके अन्दर खींचनेवाली विषयोंमें प्रवेश करनेवाली इन्द्रियोंका निग्रह करनेमें प्रयत्न करना चाहिये।

जीवात्मा जब इन्द्रियोंके वशमें होती हैं, तब ही मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है। हे शिष्य! मैं तुझसे वेदका वचन कहता हूं सुन :—

तैत्तिरीयके प्रपाठक ७ अनु० ११ की कं० १—२—३—४ में यह लिखा है, कि तू निरन्तर सच बोल, उत्साहसे धर्माचरण कर, आलस्य रहित होकर पढ़ और सत् शास्त्रका अभ्यास कर। पूर्ण ब्रह्मचर्यसे समस्त विद्याओंको ग्रहण कर, आचार्यको धन देकर विवाह करके सन्तानोत्पत्ति कर, तू अपने प्रमादसे सत्यको मत

छोड़, धर्मका त्याग न कर। प्रमादसे आरोग्य और चतुराईका त्याग न कर। प्रमादसे पढ़ना, पढ़ाना मत छोड़ तथा देव और माता पिताकी सेवामें प्रमाद न कर। जिस तरह विद्वानोंका सत्कार करता है, उसी प्रकार माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा निरन्तर कर और जो अनिन्दित धर्म युक्त कर्म हैं, वह सत्य भाषणादि पालन किया कर। इसके विरुद्ध आचरण मत किया कर। अपनी वयके जो उत्तम विद्वान् ब्राह्मण हैं, उनके समीप तू बैठ और उन्हींका विश्वास कर। श्रद्धासे देना और अश्रद्धासे भी देना, शोभासे भी देना और लज्जासे भी देना, भयसे भी देना और प्रतिज्ञासे भी देना चाहिये। जो तुझे कर्म और उपासनामें संशय हो, तो विचारशील पक्षपात-रहित योगी अयोगी आर्द्र चित धर्मकी कामना करनेवाले धर्मात्मा जनोंकी भांति तू भी धर्ममार्गमें कार्य करता जा। यही आज्ञा और यही वेद उपनिषद् तथा शास्त्रोंकी शिक्षा है। इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद्में कहा है।

प्राचीन समयमें इस आज्ञाका पालन इस प्रकार होता था कि सामान्य रीतिसे ८-६ वर्षकी अवस्थामे ब्राह्मणका, ११ वर्षकी अवस्थामे क्षत्रियका और १२ मे वैश्यका यज्ञोपवीत होता था। इससे पीछे नहीं। यज्ञोपवीतसे पहले भी लड़का कुछ पढ़ लेता था, यज्ञोपवीत लेनेके लिये वह गुरुके पास जाता था। गुरु उसको यज्ञोपवीतके साथ गायत्री मन्त्रका उपदेश देते थे और वह उनके पास ब्रह्मचारी होकर दण्ड, मृगचर्म, अजिन, मेखला धारण

करता था। नित्य स्नान करके देवताओं, ऋषियों और पितरोंका तर्पण करता था, देवताओंके अर्थ होम करता था, गुरु सेवामें तत्पर रहता था, गुरुकी आज्ञा पाकर वेदाध्ययन करता था, जितेन्द्रिय हो, भोगोको त्यागकर, वल-सम्पादन करता था, भिक्षाटनसे निर्वाह करता था। गुरुकी सेवामें अपने प्राणतक दे देता था। माता पिता और गुरुको ही तीनों लोक, तीनों आश्रम, तीनो अग्नि और तीनों वेद जानता था। इनकी सेवा ही परम धर्म समझता था। जिसने इनकी सेवा की, उसने इस लोक परलोक और सब धर्मोंको जीत लिया। जिसने ऐसा नहीं किया, उसकी सब क्रिया निष्फल है, यही समझता था। शास्त्रमें कहा है, कि पहले समयके ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य, इस मर्यादा-को पालन करते थे और उनमें धर्म और विद्या दोनोंकी वृद्धि थी। इसीलिये वे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक वल सम्पन्न होते थे। यह ब्रह्मचर्याश्रम १२ वर्षसे लेकर ३६ वर्ष तक हो सकता है, इसमें ब्रह्मचारी एक दो तीन वा चारों वेद और सब शास्त्र पढ़ लेता था। शुक, सनत्कुमार, वामदेव जैसे कोई कोई आयु-पर्यन्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी होकर रहते थे।

वर्तमान समयमें भी मुख्य मुख्य बातोंमें ब्रह्मचर्यका पालन हो सकता है। समयके परिवर्तनसे, शिक्षा प्रणालीके सर्वथा विदेशी भाषामें विदेशी रीतिसे होनेकेकारण, विवाहकी मर्यादा पलट जानेसे, न वैसे गुरु हैं, न ब्रह्मचारी हैं, न उस रीतिसे कोई विद्या पढ़ता है, न वैसी गुरुकी सेवा बन सकती है, न भिक्षा-

उनसे सब ब्रह्मचारी अपना निर्वाह कर सकते हैं, परन्तु नीचे लिखे हुए नियम अब भी पालन हो सकते हैं।

(१) जबतक लड़के शिक्षा पावें, तबतक उनका विवाह कदापि न किया जावे। कमसे कम १८ वर्षसे पहले किसीका विवाह न हो (२) यज्ञोपवीत शास्त्र मर्यादासे हो (३) जितेन्द्रिय रहना, भोगोंका त्याग करना, वृथा वाद-विवादसे बचना, सिवाय विद्योपार्जनके और किसी वस्तुमें ध्यान न रखना, व्यवहारिक और राजकीय कामोंमें कदापि न पड़ना, यह सब बातें जैसी पहले होती थीं, अब भी हो सकती हैं और होनी चाहियें। गुरु, वृद्धों और माता पिताकी सेवा पूरी पूरी अब भी बन सकती है। (४) हरएक हिन्दू बालकको संस्कृत अथवा भाषा द्वारा अपने धर्म कर्ममें प्रारम्भसे शिक्षा दी जावे। (५) जबतक लड़के माता पिताके पास रहें, उनको माता पिता शिक्षा दें, फिर पाठशालामें शिक्षा दी जावे (६) सायं प्रातः संध्या और ईश्वराराधन सबसे कराया जाये, परन्तु जबतक माता पिता और गुरु आदि आप स्वयं धर्मका सेवन न करेंगे—उनका उपदेश व्यर्थ होगा। लड़कोंको बराबर व्यायाम कराया जाये और शुद्ध वायुमें चलने फिरनेका अभ्यास कराया जावे। अश्लील बोलचालसे रोका जावे, प्राचीन महानुभावोंके चरित्र याद कराये जावे और प्रारम्भसे ही उच्च लक्ष्य रखना सिखाया जावे।

ब्रह्मचर्यके बिना अनेक हानियां हैं। हिन्दुओंकी संख्यामें कमी और अवनतिका यही मूल है। विद्याकी अवनति, बल

पौरुष, स्वास्थ्यका नाश, आयु:पर्यन्त दु:ख, ये सब जो देखते हैं इसी आश्रमके यथावत् न पालनेसे हुए हैं। लड़के शिक्षाके बोझके नीचे दबे जाते हैं, मदरसे व कालिजसे बिना स्वास्थ्य खोये कोई नही निकलता है और जब बालक कालेजसे निकलता है, तब उनमेंसे बहुतसे किसी काम करनेके योग्य नहीं रहते। इसलिये इसका यथावत पालन करना, सारी उन्नतिका मूल है। लड़कोको पतञ्जलि महर्षिका यह सूत्र याद रखना चाहिये "ब्रह्मचर्य्याद्वीर्य लाभः" ब्रह्मचर्यसे वीर्यका लाभ होता है।

ब्रह्मचर्यकी समाप्तिपर समावर्तन होना चाहिये अर्थात्-अध्ययन समाप्तिपर गुरु दक्षिणा देकर और गुरुकी आज्ञा पाकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेका नाम समावर्तन है। इस समय गुरु शिष्यको इस प्रकार उपदेश करता है—सत्यबोलो, धर्मका आचरण करो, देव और पितृ कार्यमें कदापि प्रमाद मत करो। 'तुम्हारे माता, पिता और अतिथि तुम्हारे देवता हों। जो कुछ दान करो, लज्जा पूर्वक करो, हमारे शुद्धाचरणोंका ही अनुकरण करो, औरोंका नही।' यदि किसी धर्म अथवा वृत्तिके विषयमें संशय हो, तो जैसे और सज्जन विद्वान उस विषयमें कार्य करते हों, वैसे तुम भी करो।

फिर विवाह करके गृहस्थ हो। विद्योपार्जन करके योग्य कुलकी कन्याके साथ, जो पढ़ी-लिखी, रूपवती और गुणवती हो, विवाह किया जावे। छल कपट झूठसे बचकर शुद्ध रीतिसे वृत्ति उपार्जन की जावे, एक पत्नीव्रत रक्खा जावे और गृहस्थीमें

रहकर भी भोगोंमें लिप्त न होना चाहिये, पञ्च महायज्ञ द्वारा देवताओं, ऋषियों, पित्रों, मनुष्यों और भूतमात्रकी सेवा की जावे। दीन दुःखियोंपर दया की जावे, सदा उत्साही रहे, सदाचारसे कभी न हटे—सब कुटुम्बको खिला पिलाकर आप भोजन करे। यदि किसी इष्ट मित्र बन्धु आदिसे कोई अपराध या अपमान भी हो जावे तो उसे सहे, पात्र कुपात्रको विचार कर दान दे, कूप बावड़ी बनवावे, वृक्ष लगावे, विद्यालय स्थापन करे, सर्व साधारण के उपकारार्थ यत्न करे, मनुष्य जन्मके परम लक्ष्यको कदापि न भूले। यह शास्त्रकी आज्ञा है। यही सद्गृहस्थके लक्षण हैं। ब्रह्मचर्यका यथावत् पालन न करनेसे शरीर व्यवस्थाहीन हो जाता है। रोग बढ़ते जाते हैं। अकाल मृत्यु होती है। विद्याकी कमीसे मिथ्या दृष्टि इतनी बढ़ गई है, कि सदसद्का विचार नहीं होता। खान पानकी व्यवस्था बिलकुल ठीक नहीं रही, मनुष्य संख्याकी वृद्धिके साथ द्रव्योपार्जनके द्वार नहीं खुलते। इसी कारणसे जैसे हो सके, धनोपार्जन करनेमें ही लोग तत्पर होते हैं, आगा पीछा नहीं देखते। जुआ, फाटका, झूठ, छल, कपट, कूटसाक्षी आदि सभी दोष बढ़ते जाते हैं। धनाढ्य दीन दुनिया और अनाथोंकी ओर कम ध्यान देते हैं और अपने भोगोंमें मग्न हैं। यह दशा आजकल बहुतसे गृहस्थोंकी है।

समाहित चित्तवाले गृहस्थकी गृहस्थी मोक्षदायक हो सकती है, इसी आश्रमसे वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको और कृष्ण भगवानने अर्जुनको मोक्षका मार्ग दिखाया था, अब भी कोई कोई

गृहस्थ अपने सत्कर्म, सद्विचार और धारणासे जीवन्मुक्त होकर मोक्षधाम पहुंच गये हैं और इनमें ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य शूद्र सब जातियोंके लोग हुए हैं। मोक्ष मार्ग किसीके लिये बन्द नहीं है।

मोक्ष शास्त्र उपनिषदादि पढ़ने सुननेका अधिकार सबको है, चाहे गृहस्थ हो चाहे साधु, जिसके चित्तमें विषयोंसे वैराग्य और नित्य अनित्यका विवेक और मोक्षकी इच्छा है, वह चाहे कोई हो, मोक्ष शास्त्र पढ़ने और सुननेका अधिकारी है। मोक्ष शास्त्रोंके कर्ता जैसे वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, श्रीकृष्ण, भीष्मादि सब गृहस्थ ही हुए हैं। भीष्मजीने कहा है, कि दमपरायण पुरुषको वनमें जानेसे क्या, जहां शान्त पुरुष रहे, वही वन है, वही आश्रम है। जब शरीर वृद्ध और दुर्बल हो जावे और पुत्रके भी पुत्र हो जावें और पुत्र वृत्तिसे लग जावें, तब अकेला अथवा स्त्री-सहित वनको जावे, वहां शाकाहारी वा समाहित चित्त होकर शीतोष्ण वर्षा तपादि द्वारा सहन शक्तिको बढ़ावे, फल मूलादिसे देव, पितृ और अतिथिकी पूजा करे, शास्त्र विचार जप ध्यान परायण हो, भूमिपर शयन करे, एक बार खावे और क्रमश. चित्तको भोगोंसे हटाकर आयुके चतुर्थ भागमें संन्यास द्वारा मोक्षका अधिकारी बने। पूर्वकालमे राजा ययातिने भोगोंको भोगकर वनमें जाकर आत्मज्ञान सम्पादन किया, ऋषि याज्ञवल्क्यने अपना सारा धन छोड़कर विद्वत् संन्यास लिया। धृतराष्ट्र, विदुर, युधिष्ठिरादि गृहस्थोको त्यागकर वनको

गये। पर आजकलके वलहीन, मिथ्या विश्वासी लोग, जैसे प्रायः अव देखनेमें आते हैं, वे भोगोंको कैसे छोड़ सकते हैं?

संन्यास—जव चित्त तप द्वारा शुद्ध हो जावे, परम वैराग्य उत्पन्न होकर मोक्षकी इच्छा प्रवल हो, भोगोंमें सर्वथा अनासक्त हो जाय, तो शिखा, सूत्र त्याग, सव भूतोंको अभयदान देकर, संन्यास आश्रममें प्रवेश करे और आयुके चतुर्थ भागको मोक्ष मार्गमें लगावे।

ग्रामसे वाहर किसी निर्जन स्थानमे रहना, नियत समयपर एक वार भोजन करना, सव सङ्गोंका त्याग करना, किसी वस्तुको अपने पास न रखना, इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाना, यथा प्राप्तमें सन्तुष्ट और सदा समबुद्धि रहना, प्राणीमात्रपर दया करना, और सवके हितमें परायण रहना और अपने लक्ष्यको कभी न भूलना अर्थात् इस संसारसे छूटना यही संन्यासीका कर्त्तव्य है। वाहरके चिह्नोंसे कोई सच्चा संन्यासी नहीं होता। किन्तु प्रत्यय अर्थात् ज्ञानकी प्राप्ति ही मोक्षका लक्षण है। राजा जनकने सुलभासे कहा है:—

कषाय धारणं मौण्ड्यं त्रिविष्टब्धं कमंडलुम्।
लिङ्गान्युत्पथभूतानि न मोक्षायेति मे मतिः॥

कषाय वस्त्र धारण करना, सिर मुड़ाना, त्रिदण्ड और कमण्डल धारण करना, यह चिह्न वाहिरके परिचयार्थ हैं, मोक्षके सम्पादनार्थ नहीं, ऐसा मेरा निश्चय है (महा० भा० मोक्ष धर्म अ० ३२१ श्लो० ४७)

संन्यासीके लिये अपनी मोक्ष-साधनाके साथ दूसरोको सदु-पदेश देना, मोक्ष-मार्ग दिखलाना और सदा परोपकारमें तत्पर रहना, परम कर्त्तव्य है। किसी साधुको अपने घरमें न ठहराना चाहिये। सात्विकी भोजन देना चाहिये। भङ्ग, चरस आदिके लिये पैसा न देना चाहिये।

वर्त्तमान कालकी वर्णाश्रमकी भेद-व्यवस्थाने हिन्दुओंकी अवनति की। जबतक एक जातिके अवान्तर भेद, जैसे ब्राह्मणोंमें गौड़ सनाढ्य आदि, क्षत्रियोंमें प्रमार चौहान आदि वैश्यों अग्रवाल माथुर आदि भेद भाव दूर करके आपसका खान प सम्बन्ध न होगा तबतक ऐक्य और सुधार दोनों ही कठिन है

हे शिष्य! इस प्रकार ब्रह्मचर्यादि आश्रमोंका पालन क चाहिये।

दसवीं लहर।

ईश्वर प्राप्तिके अधिकारी कैसे हो ?

येत्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्र गमचिन्त्यंच कूटस्थ मचलं ध्रुवम् ॥ १२।३
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्रसमबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूत हितेरताः ॥४॥ गीता ॥

किन्तु सर्वत्र समबुद्धि युक्त जो व्यक्ति इन्द्रिय समूहको विषयोंसे विमुख करके, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वत्रग, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, ध्रुव, अक्षरकी उपासना करते हैं, सर्व प्राणियोंके हित परायण हैं, वे सव व्यक्ति भी मुक्तिको प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

आलोचना ।

अर्जुन—इन दोनों श्लोकोंमें निर्गुण उपासनाकी उपास्य कौन वस्तु है और किस प्रकार निर्गुण उपासना की जाती है, इसकी कथा कही है। इसका आभास पूर्वमें आप दे चुके हैं, क्या अव यहां कुछ विशेष भावसे कहना है ?

कृष्ण—हां ।

अर्जुन—जो निर्गुण उपासकोंका उपास्य है, वही तो अक्षर पुरुष है, अव्यक्त निर्विशेष ब्रह्म है ।

भगवान—निर्गुण उपासकोंकी उपास्य वस्तुको आठ विशेषण दिये हैं।

(१) वह अक्षर है--यत्रक्षीयते क्षरतीति चाक्षरं—जिसका क्षय नही है, एवं क्षरण नहीं, है वही परमात्मा अक्षर है अर्थात् निरुपाधि ब्रह्म है। श्रुति कहती है "एतद्वै तदक्षरं गार्गि!" "ब्राह्मणा अभिवदन्त्य स्थूलमनण्व ह्रस्वमदीर्घम्" इत्यादि।

जगतमें ओत प्रोत भावसे जो आकाश द्वारा व्याप्त है, उस आकाश में भी जो ओत प्रोत भावसे व्याप्त है, हे गार्गि! वही यह अक्षर है। ब्रह्मज्ञ लोग कहते हैं कि वह स्थूल नहीं है, सूक्ष्म भी नहीं है, ह्रस्व भी नही और दीर्घ भी नहीं है, अग्निवत् लाल रंगका भी नहीं है। जलवत् द्रव पदार्थ भी नहीं है' न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन। वह कुछ भोजन भी नहीं करता और किसीके द्वारा भुक्त भी नहीं होता है। इस अक्षर पुरुषकी आज्ञा उल्लङ्घन करनेकी पृथिवी और द्युलोकमें किसीकी सामर्थ्य नहीं। श्रुतिमें कहा है।

एतस्यवा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि!—सूर्याचंद्रमसौ
" विधृतौ तिष्ठत द्यावा पृथिव्यौ विद्धते
" तिष्ठत। निमेषा मुहूर्ता अहोरात्रा-
ण्यर्द्धमासा।

माता ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ते। तस्य वा अक्षरस्य प्रशासनेगार्गि॥ प्राच्योऽन्यानद्यः स्पन्दन्तेश्वेतेभ्यः। पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्यायां यान्चदिशमन्वेतस्य वा क्षरस्य प्रशा-

सत्येगार्गि ! ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरो-ऽन्वायत्ता. ॥ ६ ॥

हे गार्गि ! इस अक्षर हीके प्रकृष्ट शासनसे चन्द्र और सूर्य अपने अपने स्थानपर नियत रहते हैं। इसीके शासनसे निमिष और मुहूर्त्त, दिवा और रात्रि, अर्द्धयाम और मास, ऋतु और वर्ष, अपने अपने समयपर परिभ्रमण करते हैं और श्वेत पर्वत समूहसे पूर्व देशीय सब नदियां पूर्वकी ओर वहती हैं, पश्चिम देशकी नदियां पश्चिमको वहती हैं। इसी अक्षरकी वक्ता लोग प्रशंसा किया करते हैं और देवगण यजमानोंके अनुगत रहते हैं एवं पितृगण भी अनुगत ही रहते हैं।

अर्जुन—यह अक्षर ही क्या पुरुषोत्तम है ?

भगवान—क्षर और अक्षर पुरुषकी अपेक्षा भी परमात्मा उत्तम पुरुष कहा गया है।

पन्द्रहवें अध्यायमें भी गीतामें कहा है कि :—

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। योलोक त्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

निर्गुण ब्रह्म दो प्रकारका है। परमात्मा और कूटस्थ। इसीलिये कूटस्थको भी अव्यय अक्षर कहा है। तात्पर्य यह है, कि सगुण अवस्था मायाका अध्यास मात्र है और ब्रह्म सदा ही निर्गुण है। क्षर, अक्षर और परमात्मा इनके सम्बन्धमें यहां इतना ही समझ लीजिये, कि जो अविद्याके अनेक शरीरोंमें चैतन्य

अवस्थित है, वही क्षर जीव है और मायाकी एक मूर्तिमें जो चैतन्य अवस्थित है वही अक्षर, ईश्वर एवं मायातीत और परब्रह्म हैं। अन्तर्यामी, क्षेत्रज्ञ, अक्षर इत्यादि समस्त ही वह आत्मा है। यहां जो भेद कल्पना किया है, वह उपाधिकृत है। नहीं तो स्वभावतः इसमें कुछ भेद नहीं है। केवल सैन्धव घनकी भांति वाहिर और भीतर सर्वत्र ही एकमात्र परिपूर्ण आनन्दघन है। यही अक्षरका स्वाभाविक भाव है। इसीलिये श्रुति कहती है, कि यह अक्षर, अपूर्व, अनपर, अनन्तर और अवाह्य है अर्थात् इसका पूर्व कोई कारण नहीं और यह स्वयं भी कारण नहीं है, वाहिर और भीतर सर्वत्र विद्यमान है, उपाधिकृत इति क्रमो न स्वतएषां भेदऽभेदोवा सैन्धवघनवत् प्रज्ञानघनैकरस स्वाभाव्यात्।

क्षर, अक्षर और परम पुरुष, अन्तर्यामी, क्षेत्रज्ञ, इनके विषयमें अनेक मतभेद हैं, तत्रकेचिदाचक्षते—परस्य महा समुद्र स्थानीय स्य ब्रह्मणो अक्षरस्या प्रचलित स्वरूपस्येषत् प्रचलितावस्थान्तर्यामी, अत्यन्त प्रचलितावस्था क्षेत्रज्ञो यस्तं वेदान्तर्यामिनम्। तथान्याः पञ्चावस्थाः परिकल्पयन्ति, तथा अष्टावस्था ब्रह्मणो भवन्तीति, (च) वदन्त्यन्येऽक्षरस्य शक्तय एताइति वदन्त्यनन्त शक्ति मक्षरमिति च।

कोई कोई कहते हैं, कि महासमुद्र स्थानीय ब्रह्मका जो चलन रहित स्वभाव है, वही अक्षर है, ईषत् चलनयुक्त अवस्था ही अन्तर्यामी वा ईश्वर है। अत्यन्त चञ्चलावस्था ही क्षेत्रज्ञ

वा जीव है। "यस्तं न वेदान्तर्यामिनम्"। अव कहा जाता है, कि क्षेत्रज्ञ वा जीव अन्तर्यामीको नहीं जानता हैं। कोई कोई पर-ब्रह्मकी पांच अवस्थाएँ कल्पना करते हैं, कोई कोई आठ अवस्थाएं स्वीकार करते हैं, कोई कहता है, कि ब्रह्मकी पांच वा आठ अवस्था नहीं हैं; किन्तु उसकी शक्तिमात्र है, कारण कि श्रुति ब्रह्मको अनन्त शक्ति कहकर निर्देश करती है (अवस्था वा मूर्तिसे शक्ति पृथक् है) कोई कहता है, कि ये सब अक्षरके विकार मात्र हैं।

इन सब मतोंके विरुद्ध यह कहा जाता है।

अवस्था शक्ति तावन्नोत्पद्यते। अक्षरस्याशनायादि संसार धर्मातीत्व श्रुते. नह्यशनायाद्यतीतत्व मनानाय, द्विधर्मवद वस्थावत्वं चैकस्य न युगपदुपपद्यते। तथा शक्तिमत्त्वंच, विकारावयवत्वेदोषाः प्रदर्शिताश्चतुर्थे। तस्मादेता असत्याः सर्वा.कल्पनाः। ब्रह्मकी अवस्था ब्रह्मकी शक्ति यह समस्त संगत नहीं है। कारण कि श्रुति आप ही इस अक्षरको—इसी निर्गुण ब्रह्मको अशनायादि संसार धर्म रहित कहता है। अब यदि ब्रह्मको अशनायादि धर्म सहित फिर कहा जाया तो अशनायादि धर्म राहित्य एवं अवस्थाविशिष्ट वह इन दोनोंके विरुद्ध धर्मका एकत्र समावेश है। यह युक्ति विरुद्ध है। फिर अशनायादि सर्व विध संसार धर्म रहित सन्धिनी, ह्लादिनी, सम्विद आदि शक्तियुक्त उसको किस प्रकार कहा जाता है? तात्पर्य यह कि ब्रह्म सवदा ही निर्गुण हैं—वह सर्वदा स्वस्वरूपमें रहनेपर भी

उपाधि योगसे नाना प्रकार नामरूपमें गिना जाता है। यह पहले ही कहा जा चुका है।

अब अन्य विशेषणोंकी कथा सुनिये।

(२) अनिर्देश्य—यह इस प्रकारका है। जिसका निर्देश नहीं किया जाता है, वही वस्तु अनिर्देश्य है। निर्देश करनेका अर्थ है बताना कि वस्तु किस जातिकी है, मनुष्य जाति वा पशु जाति विशिष्ट। कौन गुणविशिष्ट है, नीली वा लाल, मीठी वा कड़वी इत्यादि। कौन क्रिया विशिष्ट है—गमनशील वा स्थितिशील इत्यादि। कौन सम्बन्ध विशिष्ट है अर्थात् पिता वा पुत्र, स्वामी वा स्त्री इत्यादि। जिसका जाति गुण, क्रिया सम्बन्ध कुछ भी निर्देश नहीं किया जाता, वही अनिर्देश्य है। वह शरीरधारी नहीं है, देवतादि शब्दसे उसका निर्देश नहीं होता क्यों ?

(३) अव्यक्त—जो इन्द्रियोंका अविषय है, जो प्रपञ्चातीत है, जिसको किसीके द्वारा प्रकाश नहीं किया जाता है, वही अव्यक्त है। जैसे आकाश। अवकाश देना ही आकाशका धर्म है। किन्तु आकाश शून्यमात्र है। इस शून्यके सम्बन्धमें क्या कहा जायगा ? यह शून्य आकाश तो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डको ओत प्रोत भावसे घेर रहा है, एक ही शून्य सबके अन्तर बाहिर है, यह शून्य ही जब एक प्रकार अव्यक्त है, तब जो अति सूक्ष्म, निराकार, निर्विकार महा शून्यस्वरूप अधिष्ठान चैतन्य है, जो इसी आकाश और इसी शून्यमें ओत प्रोत भावसे छाया हुआ है, उसे व्यक्त कौन

कहेगा ? जिसका निर्देश पाया जाता ही नहीं, वह किस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है। इसीलिये अव्यक्तको अक्षर कहा गया है।

(४) सर्वत्रग—स्थूल दृष्टिसे तो शून्यको ही सर्वव्यापी कहते हैं।

शून्यको, जो अन्तर और वाहिरमें परिवेष्टन किये हैं और शून्य भी जिस महा शून्यरूप अधिष्ठान चैतन्यके ऊपर ठहरा हुआ है, ऐसा जो सर्वव्यापी है, उसके सर्वत्रग होनेमें सन्देह क्या है ? अक्षर ही सर्वव्यापी है। यह ब्रह्माण्ड उसकी इन्द्रजालवत् माया शक्तिसे उत्पन्न है।

(५) अचिन्त्य—जिसकी सीमा हो, उसकी चिंता की जा सकती है, परन्तु जो देशकाल द्वारा परिच्छिन्न नहीं है, इस देशमें वा इस कालमें है। ऐसे भावमें जिसे सीमावद्ध वा परिच्छिन्न नहीं किया जाता, उस सर्वदा सीमा रहित परमात्माकी चिन्ता कौन करेगा ? "यतो वाचानिवर्तन्ते अप्राप्य मनसासह" जिस वाक्यकी मन चिन्ता करता है, उसीको वाणी प्रकाश करती है परन्तु मन और वाक्य जहाँ पहुच नहीं सकते, उसके सम्वन्धमें कुछ वात कही जाय, वह वृथा है, जो कुछ जिसकी समझमें आया, वही कह देते हैं।

(६) कूटस्थ—कूट, अज्ञान, अविद्या या मायाके उस कार्यको कहते हैं जो इस जगत् प्रपञ्चका, जो मिथ्याभूत मायिक जगत्का, अधिष्ठानरूप है, वही कूटस्थ है। जो वस्तु

भीतरसे दोषयुक्त और बाहरसे गुणयुक्त है, वही सूयमान गुण विशिष्ट एवं अन्तर्दोषयुक्त कूट है। इसी कारण दृश्य प्रपञ्चको कूट कहा जाता है। और वह कूट जिस चैतन्यमें अधिष्ठित है, वह चैतन्य ही कूटस्थ है।

जो वस्तु मिथ्या होनेपर भी सत्य प्रतीत हो, उसीको कूट कहते हैं। उसमें अधिष्ठित होनेके कारण चैतन्यको कूटस्थ कहते हैं।

(७) अचल—जिसमें कोई चलनशक्ति नहीं, किसी प्रकारका विकार नहीं, क्योंकि विकार जहाँ देखा जाता है, वह मायाका कार्य्य है। चैतन्य सदा विकार शून्य है।

(८) वह ध्रुव है—जिसमें चलित शक्ति नहीं, कोई विकार नहीं, वही स्थिर सत्य है, और वही ध्रुव है।

इस सम्बन्धमें अर्जुनने पूछा था :—हे भगवन्! निर्गुणके उपासक उपास्य सम्बन्धमें यह कहते हैं, कि अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त है। इससे तो एक महा शून्यके सिवा और किसीकी धारणा नहीं होती है। जैसे आकाश शून्य है, उस शून्यको भी ओत प्रोत भावसे जो वेष्टन किये हुए हैं, वह शून्यसे भी शून्य है। वही महाशून्य है तो उस महाशून्यकी उपासना किस प्रकार होगी?

भगवान बोले—अव्यक्त अक्षर ब्रह्म है। उसको शास्त्रकी सहायतासे अवगत होकर, प्रथम बार उसीका अभ्यास करे कि परमात्मा निःसङ्ग है, किसी वस्तुके साथ उसका कोई

सम्पर्क नहीं, कोई उपाधि उसमें नहीं, वह निरुपाधि है, उसे छोड़कर और जो कुछ है, वह मायिक इन्द्रजाल है। है कहनेसे उसीका बोध होता है। पहले यही धारणा करनी होगी।

अर्जुन—इतना बड़ा एक विशाल जगत जो दृष्टिसे ऊपर दिखाई पड़ता है, उसको तो झूठा कहा जाता है कि वह है नहीं, एकमात्र ब्रह्म है, वह निःसङ्ग है, किसीको वह ज्ञात नहीं है, ऐसे पदार्थकी धारणा किस प्रकार होगी ?

भगवान—निद्राकालमें जो स्वप्न देखा जाता है, वह जाग्रत होनेपर मिथ्या कहा जा सकता है। अविद्यारूप निद्रामें यह संसाररूपी स्वप्न देखा जाता है, उसे ज्ञानी लोग मिथ्या कहते हैं। वार वार यही सुनते हैं कि जगत स्वप्न है, यह दृश्य-प्रपञ्च एक स्वप्न देखते हैं—इसीका सर्वदा विचार करो, दूसरी ओर अभ्यास और वैराग्य रक्खो। तव ही कार्य सिद्ध होगा। इसीसे कहा जाता है कि अव्यक्तकी उपासना सवके लिये नहीं है। यह वोध दृढ़ करके मनसे दृश्य जगतका जो मार्जन कर सकता है, वही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जैसे आकाशमें नीलिमा नहीं है, इसी प्रकार जगतकी वास्तविक संज्ञा भी नहीं है। किन्तु ब्रह्ममें जगत् भ्रम है, वही भ्रान्त जगत कभी मनमें न आवे, इसीका नाम ज्ञान है। जगत नहीं है, मन नहीं है, एकमात्र आत्मा ही परिपूर्ण आनन्दमय है, ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाना अक्षरोपासकोंका कार्य है, श्रुति कहती है "देहो देवालय प्रोक्तः स जीवः केवल. शिवः। त्यजेत अज्ञान निर्माल्यं सोऽहं

भावेन पूजयेत्। अभेद दर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः। स्नानं मनोमल त्यागः शौचमिन्द्रिय निग्रहः॥ इत्यादि।

अर्जुन—देह और इन्द्रियको भूलकर क्या इस प्रकारकी स्थिति प्राप्त की जा सकती है ?

भगवान—अवश्य, किन्तु सब नहीं कर सकते हैं। जो कर सकते हैं, उनके विचारोंकी दो एक बात यहाँ कहता हूँ, श्रवण कर।

(१) विश्व क्या है ? कुछ नहीं। यह दर्पणमें दिखाई देनेवाली नगरी तुल्य है। दर्पणके भीतर जैसे समीपकी वस्तुकी प्रतिकृति दिखाई पड़ती है, इसी प्रकार यह देह वा जगत एक दर्पणके भीतर है। दर्पणमे दृश्यमान वस्तुकी प्रतिकृति आँखोसे देखी जाती है परन्तु अन्य इन्द्रियसे ग्राह्य नहीं है, माया दर्पणमें यह विश्व समस्त इन्द्रियों द्वारा दिखाई देता है। यही मायाका अद्भुत कौशल है।

यह विश्वके बाहर नही, देहके बाहर नहीं, किन्तु भीतर वैसे ही है, जैसे स्वप्नकालमें मनके भीतर स्वप्नकी कल्पना मूर्ति खेलनेके समय ऐसा जान पड़ता है, कि यह लीला सब बाहर हो रही है। जो इस प्रकार देखना जानते हैं वे ही देखते हैं "य.पश्यति स पश्यति" एक महामनके भीतर संकल्प विकल्प उठनेकी तरह जागतिक समस्त व्यापार घटते हैं।

जो वस्तु भीतर है और बाहर देखी जाती है, इसी कारण आत्म माया कहलाती है।

"पश्यन्नात्मनि मायया वहिरि वोद्भुतं यथा निद्रया"

आत्मा देहसे पृथक् है, मनसे पृथक् है, मायासे भी पृथक् है, इसका विचार करनेमें वही समर्थ है, जो जगतको इन्द्रजाल समझ सकता है, जो पूर्ण भावसे जगतका अस्थायित्व और क्षणध्वंसित्व देखकर परम वैराग्यका आश्रय लेता है। जिसके मनमे परम वैराग्य है, उसके मनमें कोई वासना नहीं उठती, भोगेच्छा जागृत नहीं होती। जगत-भोग वा देह-भोग जिसके निकट नितान्त अस्थिर पदार्थ हैं, अत्यन्त भ्रान्त मनुष्यके प्रलापवत् हैं, आहार निद्रादि व्यापार भी भ्रममय हैं, वास्तविक आत्माको कोई भोगेच्छा नहीं है, कोई वासना नहीं, और निद्रा नहीं, प्रवल वैराग्यके आश्रयसे जो सर्व वासना त्यागकर स्थिर चित्त हो रहा है, वही यथार्थ विचारवान है।

दृश्य पदार्थोंने मनसे उत्पन्न होकर मन हीको ठग लिया है विचार करनेसे यही उत्तर मिलता है, कि ठगे हुए मनको उपायकी सहायतासे वचा सकते हैं, परन्तु निर्गुण उपासनासे ब्रह्म भावमें पूर्ण होकर आनन्दमें यह स्थिति प्राप्त हो सकती है।

अर्जुन—निर्गुण उपासनाका साधन किस प्रकार होता है?

भगवान—संन्यास ग्रहणके पश्चात्‌के उपाय, आत्मानात्म वस्तु विचारादि जो गीतामें पूर्व कहे गये हैं। आत्माकी कथा श्रवण करते करते जब प्रमाणगत असम्भावना और प्रमेयगत विपरीत भावना निवृत्ति होगी अर्थात् आत्माके सम्बन्धमें जो शास्त्र-मीमांसा है, वह असम्भव बोध नहीं होगी, और यह

धारणा हो जायगी, कि शास्त्रीय मीमांसा ही सत्य है, अपनी विपरीत मीमांसा ही भ्रम है, इस प्रकार संशय रहित हो जानेपर ध्यान और निदिध्यासन चलेगा। तब तैल धारावत् अविच्छिन्न एक प्रत्ययप्रवाह चलता रहेगा। कोई विजातीय प्रत्यय भाव वहाँ न रहेगा, तब ही आत्म ध्यान वा आत्म भावमें स्थिति होगी। जबतक धारणाका अभ्यास किया जाता है, तबतक मन एकदम ब्रह्ममें लगा रहता है और शून्य हो जाता है पर धारणा बून्द बून्द जल गिरनेकी तरह विच्छेद युक्त है, वह टूट जाती है, किन्तु ध्यान तैल धारावत् अविच्छिन्न है।

अर्जुन—जबतक विषय और इन्द्रियोंका संयोग है, तबतक भिन्न भावकी धारणा किस प्रकार की जायगी?

भगवान—इसीसे तो कहा है कि "संनिम्येन्द्रिय ग्रामम्" प्रथम तो आत्मा क्या है, यह शास्त्रसे श्रवण करो, फिर आत्मा-से अनात्माको पृथक् करो। इसीका नाम आत्मानात्म विवेक है। आत्मा और अनात्माका विचार जब ठीक हो जायगा, तब आत्मा हीमें रुचि होगी, अनात्ममें आसक्ति न रहेगी, और इससे भोगोमें विरक्ति उत्पन्न होगी, यही दूसरा साधन है। "इहामुत्र फलभोगविराग।" कुछ भी देखनेको नहीं, कुछ भी सुननेको नहीं, कुछ भी भोग करनेको नही है, मिथ्या प्रपञ्च अनात्माकी वस्तु है, यह निश्चय हो जानेपर भी मन जबतक रहेगा, तबतक यह आत्माका स्वरूप भुलाकर मिथ्या संकल्प विकल्प फैलाता हुआ भोग कराता रहेगा, इसीलिये मनका

निग्रह करना चाहिये। मनके निग्रहके जो साधन हैं, वही तृतीय साधना है। यही शम है और इन्द्रियां जबतक रहेंगी तबतक मन भी चञ्चल रहेगा, इसीलिये इन्द्रियोंका निग्रह करना परमावश्यक है, इसीका नाम दम साधना है। यही चतुर्थ है। इस प्रकार शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान, रूप छ प्रकारकी साधना द्वारा निर्गुण उपासना होती है।

इस सब साधनाओं द्वारा चित्तका निरोध कर लेनेपर ही आत्मा स्वस्वरूपमें अवस्थान कर सकेगा। साधनाकालमे इस प्रकार साधक 'सर्वभूत हितेरत' होगा। सिद्धावस्थामें क्रमानुसार "सर्वत्र समबुद्धि" हो जावेगा, इन्द्रियनिरोध 'सर्वभूत हितकर कार्य है 'सर्वत्र समबुद्धित्व' यही निर्गुण उपासनाका कार्य है!

सब लोग निर्गुण उपासनामें समर्थ नहीं हो सकते इसका तात्पर्य यह है कि सब लोग इंद्रिय निग्रह करनेमें समर्थ नहीं हैं। सब लोग चित्तको अवलम्बन रहित कर ब्रह्म भावमें पूर्ण नहीं कर सकते हैं। इसीसे सब लोग अव्यक्त उपासनाके अधिकारी नहीं हैं।

अव्यक्त उपासना दूसरेकी सहायता न लेनेसे हमको प्राप्त होती है, और जो अपनी शक्तिसे मुझको प्राप्त होते हैं, उन्हींके लिये कहा गया है कि "ते प्राप्नुवन्ति मामेव"। "अक्षरो पासकानां कैवल्य प्राप्तौ स्वातन्त्र्य मुक्तेतरेषां पारतन्त्रामीश्वराधीनतां दर्शितवांस्तेषा महं समुद्धतेति।" अक्षर ८

अपनी सामर्थ्यसे केवल भावमें अवस्थित रह सकते हैं। अन्य उपासकोंके लिये ईश्वरकी सहायता आवश्यक है। ये परतन्त्र हैं। इसीसे कहते हैं कि "तेषामहं समुद्धर्ता" इत्यादि।

अर्जुन—अद्वैतवाद और द्वैतवादमें क्या क्या विरोध है?

भगवान—कोई विरोध नहीं। ऋषि प्रणीत समस्त शास्त्र एक वाक्यसे कहते हैं कि ज्ञानके सिवा सर्व दुःखोंका अन्त होकर निवृत्तिरूप परमानन्दमे स्थायी अवस्थिति हो नहीं सकती। अद्वैत ज्ञान ही ज्ञान है। श्रुति कहती है कि "अभेद दर्शन ज्ञानं ध्यानं निर्विषयंमनः।" आत्मा ही ब्रह्म है। जीव और ब्रह्मको अभेद कहा है। जीव ब्रह्मस्वरूपमें अवस्थान करके परमानन्दकी स्थिति लाभ कर सकता है। "ब्रह्मैव सत्यं प्रत्यक्षादि सिद्धं विश्व ब्रह्मणि आरोपितम्। यथा रज्जु रज्जुस्वरूपा ज्ञानात् सर्पवत् प्रतिभाति, प्रकृति जीवश्चोपि पर्यावसाने ब्रह्मैव—ब्रह्मण्यत् सत् वस्तु नास्ति।" यही अद्वैतवाद है। किन्तु ईश्वरके अनुग्रह विना अद्वैत वासना उत्पन्न नहीं होती।

"ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैत वासना।"

जब ईश्वरके अनुग्रहकी भिक्षा है, तब ही भक्तिमार्ग है, भक्तिके विना ज्ञान मार्ग होगा ही नहीं, विरोध इसमें कुछ भी नहीं है। भागवतमें कहा है (६।४६ अ०) जिसमें, जिस प्रकार, जिसके द्वारा, जिसके सम्बन्धसे, जिसके प्रति जो कार्य, जिस प्रकारसे, जो कर्ता करे अथवा अन्य जिसको करावे, वह सब ही ब्रह्म है। ऋषिप्रणीत शास्त्र है, उसके सिवाय जो कुछ है वह

शास्त्र नहीं है। श्रुति कहती हैं कि "तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।" उसको जानना ही मृत्युको अतिक्रम करना है। इसके सिवाय मृत्युको अतिक्रम करने मुक्ति प्राप्त करनेका अन्य कोई उपाय नहीं है। ऋषि प्रणीत ग्रन्थमात्रमें देखा जाता है कि :—

सर्वं ब्रह्मेति यस्यान्तर्भावना सहिमुक्तिभाक्।
भेद दृष्टि रविद्येयं सर्वदातां विवर्जयेत्॥

सब ही ब्रह्म है, यह जिसकी अन्तर्भावना है, वही मोक्षभागी है। और जहां अविद्या है, वहीं भेद दृष्टि है। यह त्याज्य है।

"हमको इस कृष्ण मूर्तिके सिवाय ब्रह्मकी उपासनासे कुछ भी न होगा—शक्तिमन्त्र असुरोंके योग्य है, कृष्णमन्त्र ही एक मात्र ग्रहण योग्य है।" ऐसी समस्त युक्तियाँ अविद्यासे उत्पन्न होती हैं—यही अविद्याकी पहिचान है।

अर्जुन—कोई कोई कहते हैं कि श्रुतिने ब्रह्मको सगुण ही कहा है, निर्गुण नहीं।

भगवान—गीता शास्त्र वेद हीकी प्रतिध्वनि है। मैंने भी जैसे ब्रह्मको निर्गुण और सगुण कहा है, वेदमें भी वैसा ही कहा है, "द्वावेव ब्रह्मणोरूपे मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च" इति श्रुतेरसंकोच एवन्याय्य। मैं निर्गुण ब्रह्मके उपासक गणके सम्बन्धमें कहता हूं "ते प्राप्नुवन्तिमामेव" वह भी मुझको प्राप्त हैं। सद्यो मुक्ति प्राप्त करते हैं "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्नोति" उनके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता, ब्रह्म होकर ब्रह्मको ही

प्राप्त होते हैं। श्रुति कहती है, "एष संप्रसादोऽस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपं संपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते—वह जीव (मृत्युकालमें) शरीरसे निकलकर परम ज्योतिको पाकर स्वस्वरूपमें अवस्थान करता है।

सन्ति उभयलिङ्गा श्रुतयो ब्रह्म विषयाः सर्वकर्मा, सर्व काम सर्व गन्ध, सर्वरस इत्येवमाद्याः सविशेषलिङ्गाः। अस्थूलम् अनणु। अंह्रस्वमदीर्घम् इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गाः।"

ब्रह्मके विषयमें दो प्रकारकी श्रुति हैं। ब्रह्म सर्वकर्मा, सर्व काम, सर्व गन्ध, सर्व रस जो है, वह सगुण ब्रह्म है। ब्रह्म स्थूल भी नहीं और सूक्ष्म भी नहीं। ह्रस्व भी नहीं और दीर्घ भी नहीं है, यह निर्गुण ब्रह्म है।

सगुण ब्रह्म पृथक् है और निर्गुण ब्रह्म पृथक् है—ऐसा श्रुतिमें कहीं भी नहीं कहा गया है। जो तुरीय निर्गुण है, वही मायाके अवलम्बनसे प्राज्ञ है, तैजस-वैश्वानररूपसे सगुण है, विश्व, तैजस प्राज्ञा एवं तुरीय ये ब्रह्मके चतुष्पाद हैं, माण्डूक्य श्रुतिमें ॐकारको ब्रह्म कहा है, ॐकारको ही आत्मा कहा है, "सोऽयमात्मा चतुष्पाद्"

ब्रह्म और उसके पाद चतुष्टय सम्बन्धमें श्रुति परिष्कार भावसे यह कहती है :—

सावधानेन श्रूयताम्। कथं ब्रह्म? कालत्रयोऽबाधितं ब्रह्म
सर्वकालो अबाधितं ब्रह्म। सगुण निर्गुण स्वरूपं ब्रह्म।
आदिमध्यान्त शून्यं ब्रह्म। सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

मायाऽतीत गुणाऽतीतं ब्रह्म। अनन्तमप्रमेयोऽखण्ड परिपूर्णं ब्रह्म अद्वितीय परमानन्द शुद्ध बुद्ध मुक्त सत्यस्वरूप व्यापका भिन्नाऽपरिच्छिन्नं ब्रह्म। सच्चिदानन्द स्वप्रकाशं ब्रह्म। मनोवाचामगोचर ब्रह्म। अखिल प्रमाणागोचरं ब्रह्म। देशतः कालतो वस्तुतः परिच्छेद रहितं ब्रह्म। सर्व परिपूर्णं ब्रह्म। तुरीयं निराकारमेकं ब्रह्म। अद्वैतमनिर्वाच्यं ब्रह्म। प्रणवात्मकं ब्रह्म। प्रणवात्मकत्वेनोक्तं ब्रह्म। प्रणवाद्यखिल मन्त्राऽत्मकं ब्रह्म। पाद चतुष्टयात्मकं ब्रह्म। किंतत्पाद चतुष्टयंभवति। अविद्या पादः प्रथमःपादो, विद्यापादो द्वितीयः, आनन्दपाद तृतीय स्तुरीयपादस्तुरीय इति। मूलाऽविद्या-प्रथमपादे नाऽन्यत्र। विद्यानन्द तुरीयांशाः सर्वेषु पादेषु व्याप्य तिष्ठन्ति। एवंतर्हि विद्यादीनां भेदः कथमिति। तत्तत् प्राधान्येन तत्तत् व्यापदेशः। वस्तुतस्त्वभेद एव। तत्रा धस्तनमेकं पादमविद्याशवलम्भ-वति। उपरितन पादत्रयं शुद्ध बोधानन्द लक्षणममृतम्भवति"।

ब्रह्मका तुरीय पाद निराकार है। तुरीयस्तु निराकारम्। तुरीय मक्षर मिति श्रुतेः। ब्रह्मके अन्य पाद सब साकार हैं। माण्डूक्य उपनिषदमें भी यही कहा है। तुरीयपाद ही हैं—

नान्तःप्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं, नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्य मग्राह्य मलक्षण मचिन्त्य मव्य-पदेश्य मेकात्म प्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम् चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः। गीता इस तृतीय पादको ही निर्गुण कहती है। दृश्यज्ञान, मार्जन करके निःसङ्ग

भावसे स्थिति प्राप्त करना ही निर्गुण उपासनाका फल है। सर्वोत्कृष्ट उपासना यही है। एक पुष्पको हाथसे मर्दन करनेमें तो कुछ क्लेश भी होता है, परन्तु अधिकारीके पक्षमे यह उपासना अनायास साध्य है, और अनधिकारी देहात्माभिमानी के पक्षमे यह 'क्लेशोऽधिकतर' बड़े भारी क्लेशका काम है।

तुरीय ब्रह्म स्वस्वरूपमें सर्वदा रहनेपर भी, जब मायाके अवलम्बनसे प्राज्ञ वा सुपुप्ताभिमानी पुरुप रूपसे विवर्जित होता है, तब ही वह ईश्वर है, वही अन्तर्यामी पुरुप है और वही पुरुप चिरस्वप्नाभिमानी होनेसे तैजस पुरुप और जाग्रताभिमानी होनेसे विश्व पुरुप नाम धारण करता है। निर्गुण ब्रह्मके सम्बन्धमें श्रुति जो कुछ कहती है, उसका उल्लेख पहले हो चुका है। निर्गुण ब्रह्मके सम्बन्धमे जैसे कुछ नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार फिर वही निर्गुण ब्रह्म जब अपनी मायासे सगुण होता है, तब वही सब कुछ हो जाता है।

अत्र श्रुति प्रमाणम्! अज्ञानस्यनामधेयानि इति। आत्मा वा इदमेक मेवाग्र आसीत् तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्रविशत् अन्तः प्रविष्टः शान्ता जनानामन्तरमवाह्यम्। स वाह्याभ्यान्तरोह्यजः अशरीरेपु ज्ञानादेव सर्वपापहानि'। अत्रायं पूरुपः स्वयं ज्योतिर्भवति। योऽयं प्रज्ञानमयः पूरुपः। योऽयमसङ्गोह्ययं पूरुपः। योऽयमविनाशी पूरुषः। प्रत्यगानन्दमयः सहस्रशीर्पाऽयं पूरुपः। योऽयमृतमयः पूरुषः। विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। प्रज्ञां प्रतिष्ठिता ब्रह्म। सत्यंज्ञान मनन्तं ब्रह्म। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। अय-

मात्मा ब्रह्म। निर्गुण अवस्थामें जो शून्य होकर भी व्यापक है, जो महा शून्य है, जिसके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं कह सकते, सगुण अवस्थामें जो सर्व शक्तिमान है, जो सर्व जीवोंका शासक है, वही ज्ञानस्वरूप है इत्यादि।

पूर्व श्रुति प्रमाणसे कहा हुआ तुरीयपाद निराकार है, और सब साकार है। इसीलिये ईश्वरको भी साकार कहा जाता है, इसके सम्बन्धमें श्रुति कहती है—साकारस्तुद्विविधः, सोपधिको निरुपाधिकश्च। तत्र सोपाधिकः साकार कथमिति ?

आविद्यकमखिल कार्यकारणं जालमविद्यापाद एवनाऽन्यत्रा तस्मात् समन्ताअविद्योपाधिः साकारः सावयवएव सावयवत्वादवश्यमनित्यन्त वत्येव। इसी कारणसे श्रुति कहती है "मयिजीवत्वमीशत्वं कल्पितं वस्तुतो नहि। इतियस्तु विजानाति समुक्तो नाऽत्र संशयः।"

ईश्वरत्व और जीवत्व निर्गुण ब्रह्ममें माया कल्पित मात्र है, अर्थात् निर्गुण ब्रह्म सर्वदा स्वस्वरूपमें अवस्थान करनेपर भी आत्म मायाके प्रभावसे उसे भी ईश्वर भाव और जीव भावमें विवर्तित होते देखा जाता है। मूल वही तुरीय ब्रह्म है, इसलिये ईश्वर और जीव भावका भी वही ब्रह्म भाव कहा जाता है।

सोपाधिक साकारकी बात ऊपर कही गयी है। तर्हि निरुपाधिकः साकारः कथमिति ? निरुपाधिः साकार

ब्रह्मविद्या साकारश्चानन्द—साकार उभयात्मक

त्रिविधः साकारोऽपि पुनर्द्विविधो भवति। नित्य साकारो मुक्त साकारश्चेति नित्य साकारस्त्वाद्यन्त शून्यः शाश्वतः। उपासनया ये मुक्तिंगतास्तेषां साकारो मुक्त साकारः।

माया और अविद्यायुक्त चैतन्यको भी श्रुति साकार बताती है। नित्य साकार वह है, जो आद्यन्त शून्य और सर्वदा एक रूप है। और उपासना द्वारा जो मुक्ति प्राप्त करता है, वही मुक्त साकार है। त्रिपाद् विभूति महानारायण उपनिषद् सगुण निर्गुण, साकार निराकारकी कथा और भी स्पष्ट करके कहते हैं। शास्त्र ही कहता है, कि सगुण उपासना क्रम मुक्ति है और निर्गुण उपासना सद्योमुक्ति है।

शिष्य—हे गुरु! किन कर्मों द्वारा मैं ईश्वर प्राप्तिका अधिकारी हो सकता हूं?

गुरु—ईश्वर प्राप्तिका अधिकारी बननेके लिये प्रथम कर्म उपासनामें चित्तकी शुद्धि होनेके लिये लगना चाहिये और पञ्च महायज्ञ कर्म करना चाहिये। वह पञ्च महायज्ञ ये हैं कि ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, श्राद्ध तर्पण, अतिथियज्ञ और भूतयज्ञ। इन पांचों यज्ञोंका विस्तार पहले कर चुके हैं। इनके सिवाय अभ्यास द्वारा पापवासना दूर करनी चाहिये। पापवासना ही अधर्मका लक्षण है।

धर्मके विरुद्ध बर्ताव यह है, कि जैसे अधैर्य, अक्षमा, विषया सक्ति, मनमें आवे वैसा बर्ताव करके चलना, पराया द्रव्यहरण दूसरेकी भूमि दबा लेना या छीन लेना, ईर्ष्या करना, पराई स्त्रीका

हरण करना, मलिन रहना, छल, कपट दंभ तथा पाखंड करना, दुष्ट तथा असंभव कामना करनी, खोटे खोटे मनोराज्य करना विद्या और बुद्धिसे विरोध होना, झूठ बोलना, दुष्टता रखनी, अनीति करनी, दुराग्रह, अशुचिव्रत आचरण करना (जैसा कि भूत, प्रेत, पिशाच, कर्णपिशाची, भैरव आदिको साधन करनेका उपाय करना तथा मारण, मोहन वशीकरण, उच्चाटन करनेमें प्रवृत्त होना) निन्दा करनी, कहकर वचन लौटना, जीवोंकी विना अपराध हिंसा करनी, मिथ्या अभिमान रखना, कामादि में आसक्त होकर शत्रु वर्गके आधीन होना, अविद्या (जैसा हो उसको न मानना, जड़को चैतन्य मानना, अपवित्रको पवित्र मानना) इत्यादि अधर्मके लक्षण हैं।

हे शिष्य ! अधर्मको त्यागकर और पापवासनाको अभ्यास द्वारा दूर करने वाद पञ्च महायज्ञ तथा कर्मोपासना द्वारा, मनको पवित्र करके, ईश्वरको निराकार आकाशवत् परिपूर्ण समझकर उसका ध्यान करना, और उसमें वृत्तिको फैलाना चाहिये। जव सत्कर्मके प्रवाहसे दुष्ट कर्मोंका अभ्यास छूटेगा। तव निष्काम कर्म करनेका अभ्यास होगा। इससे मन प्रवृत्तिमेंसे निरासक्त और एकाग्र करनेका समय मिलेगा। तव त्राटक आदि साधन करना, पदार्थ विद्यासे साधन द्वारा द्रव्य अर्थात् पञ्चभूत, देशकाल, अन्तःकरण, जीव और आत्मा—(२) शब्द-स्पर्श रूपादि गुण (३) और कर्मादिका स्वरूप जानना (४) दया, शील, सन्तोष विचार, आर्जव, क्षमा, करुणा, अहिंसा, वैराग्य

सत्यवाणी सहित और अधर्म रहित रहना, ऐसे लक्षण अपनेमें प्राप्त करके अधिकारी बननेके बाद किसी सदाचारी धर्मात्मा ब्रह्मवेत्ता का सङ्ग करना, इससे इसी जन्ममें ईश्वरकी प्राप्ति और मोक्षका निश्चय होगा। हे शिष्य ! जिसका पूर्वका संस्कार अच्छा हो, वह उत्तम पुरुषार्थ करके ऐसी स्थितिमे पहुँचता है। जैसे कोई रत्न कीचड़में पड़ा हो और वह रत्न किसी समय जौहरीके हाथमें पड़कर सुवर्णमें जड़ित होकर बड़े राजाके गलेमें शोभा पाता है, उसी प्रकार मनुष्य देह प्राप्त होनेके बाद, संस्कार द्वारा जब ज्ञानकी प्राप्ति होती है, तब उसे पुरुषार्थके द्वारा मोक्ष मिलती है। परन्तु पुरुषार्थ क्या है? इसको जो लोग नहीं समझते हैं, वे पशुओंसे भी नीचे दर्जेके प्राणी हैं। ऐसा तू समझ ले। हे शिष्य ! मनुष्य जन्म पाकर छोटा बालक हो और वह किसी प्रकार जङ्गली व्याध जैसे लोगोंके हाथ पड़ गया हो तो यदि भाग्य संस्कार अच्छा होगा तो वह अनायास ही पुरुषार्थरूपी अलभ्य लाभको प्राप्त हो सकता है, इसपर एक दृष्टान्त तुझे सुनाता हूं, ध्यान देकर सुन।

एक भील विकट अरण्यमें शिकार खेलनेके लिये हाथमें धनुषबाण लेकर घूम रहा था। वह चलते चलते नदीके किनारे एक गुफाके पास पहुँचा, वहाँ उसे रूमालमें बँधा हुआ चार महीनेका बालक पड़ा हुआ मिला। उसे देखते ही वह तुरन्त उस बालकके पास गया और उस बालककी मनोहर कान्ति देखकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ, वह भील ५० वर्षकी अवस्थाका

मोटा ताजा खूबसूरत था, उसकी स्त्री थी, पर पुत्र नहीं था। इस कारण उसने अनायास ही बालकको देखकर उठा लिया और सब काम छोड़ घर चला आया। बालकको देखते ही भीलकी स्त्रीको भी बड़ा आनन्द हुआ। उसने बालकको पाल पोसकर बड़ा किया। उसके पालक पिताने उसका नाम रतन रक्खा।

जब वह सयाना हुआ, तब उसने भील लोगोंके पास धनुर्विद्या सीखी और बडे बड़े घने जङ्गलोंमें उन्मत्त होकर निर्भय फिरने लगा। मृग इत्यादिका शिकार कर अनेक हिंसा कर्मों में उसने कदम रक्खा! वह शरीरसे मजबूत और बलवान था। भीलोंमें वह शूरवीर और बड़ा बलवान गिना जाता था। अनेक जगहोंसे लूट, चोरी आदि बखेड़े कर द्रव्य संग्रह कर, वह माता पिताका पालन करता था। एक भीलनीके साथ उसका विवाह भी हो गया था। अतः वह परिवारी बन गया था। इस रतनने एक प्रधान मार्गपर एक ऊँचे वृक्षपर अपना अड्डा बना रखा था। उसपर चढ़कर वह चारों ओर देखता और जो कोई यात्री दूरसे आता दिखाई देता तो उतर कर पास आते ही, हथियारों द्वारा मारकाट कर, उसका धन लूट लेटा था। यही उसका नित्यका नियम था। धन लूटकर भी वह उन्हें छोड़ न देता था बल्कि उन्हें जानसे मार डालता था। इस प्रकार उसने अनेक हत्याएं की थीं। पाप कर्म क्या है, यह बात वह बिल्कुल नहीं समझता था। उसके घातकी कर्मसे अनेक स्थानोंमें त्राहि त्राहि मच गई थी।

परन्तु ईश्वर इच्छा बडी बलवान है। जब पूर्व कर्मों के फलका उदय होता है, तब अनायास अलभ्य वस्तुएँ भी प्राप्त हो जाती हैं। एक दिन ऐसा हुआ कि देवर्षि नारद उस मार्गसे जा रहे थे, उस समय वह रतन एक वृक्षके ऊपर बैठा हुआ मुसाफिरोंको लूटनेके विचारसे चारों ओर देख रहा था। नारदजीको आते देखकर रतनने सोचा, कि यह कोई मुसाफिर आता है। यह विचार कर एकदम बाज पक्षीकी तरह वृक्षसे उतर पड़ा और गदा हाथमें लेकर नारदजीके पास गया। उसे इस भावसे आते देखकर नारदने पूछा—"अरे! तू कौन है?" रतनने उत्तर दिया—"क्या तू मुझे नहीं पहचानता? मेरा नाम रतना डाकू है, अब तेरी मृत्यु समीप आ पहुची है, तेरे कपड़े लत्ते सब लूटे लेता हूं, समझ गया कि नहीं?"

रतनाकी बात सुनकर नारदजी बड़े विचारमें पड़े। ये महात्मा बड़े समदर्शी और दयालु थे। यद्यपि रतन अपकार करनेके लिये तैयार हुआ था और गदा मारकर उनका प्राण लेना चाहता था, तथापि उन्होंने विचारा, कि ऐसे अधमका उद्धार करना चाहिये, यही हमारा काम है, और ऐसे अधमको जबतक ज्ञान प्राप्त न होगा तबतक इस अज्ञानी और निर्दयीके हाथसे ऐसे ही अनेक पाप कर्म होते रहेंगे। अनेक आते जाते मुसाफिरोंको धनकी लालचसे यह मारेगा और पाप कर्म करता ही रहेगा। इसके साथ परोपकार ही करना चाहिये—यही श्रेष्ठ है। यह विचारकर, वह रतनाकी ओर त्राटक योग द्वारा

आकर्षण दृष्टिसे देखने लगे और उस लुटेरेसे कहा—"अरे भाई! तूने इस प्रकार गदा मारकर कितने मनुष्योंको मारा है! अरे रे! मुझे तेरे ऊपर बड़ी दया आती है, कि जब तू मरेगा तब तेरी क्या दशा होगी।

"जङ्गलमें आनन्द पूर्वक विचरनेवाले अनेक मनुष्योंको तूने मारा है। सैकड़ों हरिणियोंके नायक हरिणोंको मारकर उन हरिणियोंको तूने विधवा कर आँखोंसे आँसू बहाये हैं, वे शोक सागरमें डूब रही हैं, इस तरह तूने अनेक पापोंके ढेर इकट्ठे कर लिये हैं। इनका फल तुझे भोगना पड़ेगा। इसमें तेरा कोई सहाय न होगा। तेरे माता पिता, स्त्री पुत्र, इत्यादि तेरे पापके भागीदार होनेवाले नहीं।"

रतना हँसकर बोला—"मेरे मा बाप वृद्ध हैं, और मेरे पुत्र पुत्री, स्त्री आदि परिवार हैं। मैं अपने कुटुम्बका पालनके लिये लूट पाटका धंदा करता हूं। फिर वे मेरे पापके हिस्सेदार क्यों न होंगे?"

नारदजीने कहा—"तू अपने माता पिताको पूछ आ, कि वे तेरे पापके हिस्सेदार होना स्वीकार करते हैं, तू पूछकर आवेगा तबतक मैं यहीं खड़ा रहूंगा। और मैं सच कहता हूं या झूठ, इसका भी तुझे निश्चय हो जायगा। जो तू अपना कल्याण चाहता है, तो तू यह काम जल्दी कर।"

नारदजीके वचनपर रतनाको विश्वास हुआ, कि इस पापमें नुकसान है और इसका परिणाम खोटा है। ऐसा विचार कर

तथा नारदजी जैसे महायोगीके वचन प्रतापसे, उसे कुछ बोध हुआ। वह तुरन्त अपने माता पिताके पास गया और उनसे पाप कर्ममें भाग लेनेकी बात कही! उस समय उनके माता पिता तथा स्त्री आदिने पापमें भागी होनेसे साफ इनकार कर दिया और यह उत्तर दिया, कि जो जैसा कर्म करता है, वह वैसा ही फल भोगता है। यह वचन सुनकर वह बहुत निराश हुआ। उसके हृदयमें कुछ और ही विचारका आविर्भाव हुआ। जिस प्रकार किसी खोई हुई वस्तुको प्राप्त करनेके लिये चित्तमें अनेक प्रकारकी विकलता और विचार उठता है, उसी प्रकार विकल चित्तवाला रतन शीघ्रतासे घरसे निकलकर नारद मुनिके समीप जा पहुँचा और कहने लगा—हे महाराज! आप तो कोई महात्मा जान पड़ते हैं, आपने जो जो शब्द कहे, वे सब सच्चे निकले। मेरे मा, बाप और स्त्रीने पापका भाग लेनेसे साफ इनकार कर दिया है। तब तो जितने पाप मैंने किये हैं, उन सबका फल मुझे ही भोगना पड़ेगा।

नारदने कहा—तूने ऐसा घोर दुष्कर्म किया है, कि तू अत्यन्त कष्ट पायगा। जितने प्राणियोंको तूने अपने हाथसे मारा है, उतने ही प्राणियोंके हाथसे तू भी मारा जायगा। इस कारण बारम्बार अधम योनिमें तुझे जन्म लेना पड़ेगा। इतनेपर भी ईश्वरके यहाँ दण्डसे न बचेगा।

इतना सुनते ही रतनाकी आँखोंमें आँसू भर आये। वह कहने लगा—हे महाराज! आप कोई महात्मा पुरुष हैं। अत.

मैंने जो कठोर वचन कहे हैं, उनके लिये क्षमा माँगता हूं। यह बतलाइये कि यह पापोका ढेर किस प्रकार हटेगा।" इतना कह, उसने जो जो पाप किये हैं, उनका स्मरण कर बहुत ही दुःखित हुआ। यह देखकर नारद मुनिने अपने कमण्डलमेंसे जल लेकर उसके मस्तकपर छिड़का और रामनामके महामन्त्रका उपदेश दे, वहाँसे अन्तर्द्धान हो गये।

महर्षिके चले जानेके बाद महा पापी दुरात्मा रतन राम नामका जप करने लगा, परन्तु वह जड़ बुद्धि होनेके कारण रामकी जगह मरा-मराका जप करने लगा, इस प्रकार जप करते करते अनेक वर्ष बीत गये। परन्तु वह श्रद्धा पूर्वक ऐसा लीन हो गया था, कि उसके शरीरके चारों ओर दीमकोंने अपनी बँबी बना ली पर वह जाप ही करता रहा, उसे दीमकका भान भी नहीं हुआ। कई बरस पीछे, नारदजी फिर आये और उन्होंने रतनाको मरा-मरा जप करते देखा। जिससे उनको बड़ा आश्चर्य हुआ और रतनाके ऊपर दया आ जानेके कारण, उसके ऊपरसे बँबी (दीमकका घर) खुदवा कर अलग करा दी और उसे शुद्ध करके खड़ा किया। नारदजीको देखते ही वह रतना उनके चरणोंपर गिरकर बोला—आपने मुझे मरा नामका उपदेश देकर पापोंसे मुक्त किया है। यह कहकर उसने नारद-जीकी स्तुति करी। उस रतनाके ऊपर वल्मीक (दीमक) जम गई थी, उससे वह बाहर निकाला गया था, इससे उसका नाम वाल्मीकि रक्खा गया। नारदजीने उसी दिनसे उसे ऋषियोंकी

पंक्तिमें दाखिल किया। तबसे ही वह जगतमें वाल्मीकि नामसे प्रसिद्ध हुआ है।

अहा हा! ईश्वरकी भी कैसी गहन गति है, कि वह घोर कर्म करनेवाला सदुपदेश पाकर रतना नाम मिटकर वाल्मीकि कहलाया और वह महाज्ञानी ऋषियोंकी पंक्तिमें गिना गया। सतसङ्गकी कैसी विचित्र महिमा है।

राम नाम जपो या कृष्ण नाम जपो, अथवा चाहे कोई एक पवित्र नाम निरन्तर जपो, परन्तु यह निश्चय रक्खो, कि उस पवित्र नामके जपका विश्वासमात्र फलदायक है। जबतक मल विक्षेप रहित हृदयमें श्रद्धा देवीकी स्थापना पूर्ण नहीं होती, तबतक चाहे जैसा महामन्त्र हो, वह फल नहीं दे सकता। श्रद्धा और विश्वाससे ही इच्छित बात फलीभूत होती है। जो विश्वास ही फलदायक न होता तो राम नामके बदले मरा-मराका जप करनेवाला रतना ज्ञान पाकर ऋषि पदवीको प्राप्त न कर सकता। यही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि प्रत्येक काम करनेसे पहले प्रभुके ऊपर पूर्ण विश्वास रखकर बुद्धि पूर्वक प्रयत्न करे तो अवश्य उसकी इच्छा सफल होगी।

वाल्मीकने ब्रह्मर्षि पद पाकर नारदजीसे पूछा—अब मेरे लिये क्या आज्ञा है! नारदजीने कहा, कि तुम शतकोटि रामायण रचो। तुमने रामनाम जपकर उद्धार पाया है, इसलिये उस लोकाभिराम सुपवित्र रामचरितका भलीभांति वर्णन करो।

वाल्मीकिने कहा—हे महाराज! मैं रामायण किस प्रकार

रच सकूंगा। उसकी विधि छंद किस प्रकार वन सकेंगे। क्योंकि मुझे तो इस वातका ज्ञान नहीं है।

नारदजीने कहा कि रामप्रतापसे तुम्हारी जिह्वापर सरस्वती का निवास होगा। उनकी कृपासे तुम्हारे मुखसे रामके परा-क्रम द्वारा हुए कामोंका वर्णन पुराणरूपसे श्लोकवद्ध इस प्रकार होगा जिस प्रकार जलका फव्वारा छूटता है। इस प्रकार तुम रामायण रच सकोगे, यह कहकर नारद मुनि अन्तर्द्धान हो गये। उसके वाद महर्षि वाल्मीकि तमसा नदीके किनारे आश्रम वनाकर रहे। उनके पास अनेक शिष्य अध्ययन करनेके लिये आते थे, उनमें भारद्वाज मुनि मुख्य थे।

वाल्मीकि ऋषि एक दिन नित्य नियमके अनुसार तमसा नदीमें स्नान करनेको गये थे। वहाँ किनारेपर एक घने जङ्गलमें एक वधिकने क्रोञ्च नामक पक्षीको मार डाला। क्रोञ्च पक्षीका मरण होनेसे क्रौंची पक्षिणी अपने स्वामीके वियोगसे वहुत विलाप करने लगी। यह देख वाल्मीकि मुनि वड़े व्याकुल हो गये। उनके अन्तःकरणमें दया उपजी। इसके वाद उन्होंने पूर्व कालमें जो जो कृत्य किये थे, वह सव उनको क्रमसे याद आने लगे। अतः उनका अन्तःकरण जैसे वाणसे विंध जाता हो, ऐसा दुःखी होने लगा। क्रौंची पक्षिणीके विलाप और उसकी चिल्लाहटने वाल्मीकिके हृदयको टुकड़े टुकड़े कर डाला। उन्हें वड़ी उदासी हुई और वे वड़े विचारमें पड़ गये। इस समय उनके मुँहसे एकाएक एक श्लोक उच्चारण हो गया—

मानिषाद प्रतिष्टांत्व मगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेक मवधीः काम मोहितम् ॥

एक समय वाल्मीकिजीने देखा कि नर-मादा मैथुन कर रहे थे। एक वधिकने वृक्षकी आडसे तीर चलाकर नरको मार डाला, यह देख वाल्मीकिजीके मुखसे स्वतः उक्त श्लोक निकल गया, इसीपर इन्होंने वाल्मीकि रामायणकी २४००० श्लोकोंकी रचना की और आदि कवि कहे गये ? हे निषाद! तूने इच्छासे मोहित हो जोड़ेमेंसे एकको मार डाला है, अतएव तू ब्रह्माजीके वर्ष तक वायुमण्डलमें भ्रमण करता रहे—शरीरको प्राप्त न हो।

इस प्रकार अनुष्टुप् छन्द प्रारम्भमें ही उनके मनसे प्रथम निकला। वाल्मीकि ऋषि नदीमें स्नान कर वाहर आये, इतना विशेष कहा जाता है कि उस नदीके किनारे उस समय एकाएक उस समय ब्रह्माजी प्रगट हुए, उन्होंने वाल्मीकिसे कहा कि चकित मत हो, जो श्लोक तुमने कहा है, वह वाणी मेरी इच्छासे ही निकली है। तुम्हारे मुखसे जो वाक्य निकला है वही श्लोक रूपी संसारमें गिना जायगा। इस कारण तुम आनन्द पूर्वक ऐसे ही श्लोकोंमें परम पवित्र श्रीरामचन्द्रजीका वर्णन करो। तुम जैसा वर्णन करोगे वैसा ही भविष्यमें होगा। यह कहकर ब्रह्माजी चले गये।

हे शिष्य! तात्पर्य यह है कि महात्मा नारदजीके प्रतापसे यह वाल्मीकि त्रिकालज्ञ हुए। तुम्हारा प्रश्न है, कि ईश्वर प्राप्तिके अधिकारी कैसे हो? अब इस दृष्टान्तसे यहो समझ लो कि

नारदजीका वचन उसने श्रद्धा पूर्वक ग्रहण किया था और वड़ी श्रद्धासे वहुत समय तक राम नाम रटता रहा था और ऐसा ध्यानावस्थित हो गया था, कि उसे अपने शरीरकी भी खवर नहीं रही थी। अव तू विचार कर कि उसने किस वस्तुमें ऐसी एकाग्र वृत्ति रक्खी थी। उस महात्माके दिये हुए मन्त्रको ऐसा ध्यान पूर्वक जप किया था कि वह तदाकार हो गया था। वह अपनी इस अटल वृत्ति द्वारा ईश्वर प्राप्तिका अधिकारी हो चुका था। जिस प्रकार मुमुक्षु पुरुष ज्ञान-प्राप्तिका अधिकारी गिना जाता है, उसी प्रकार वह वाल्मीकि भी ईश्वर प्राप्तिका अधिकारी हुआ था। जव उसने उत्तम अधिकारको पाया था, तव ही उसे उत्तम विद्याकी प्राप्ति हुई थी, जिससे महर्षि वाल्मीकिने चौवीस हजार श्लोकोंमें वालमीकि रामायण सात काण्डोंमें रची थी और उसमें सव प्रकारके रसोंका आभास दिया था।

हे शिष्य! अद्भुत वातके ऊपर ध्यान न देकर, ईश्वर प्राप्ति का उत्तम पुरुषार्थ द्वारा अधिकारी होना, यही उत्तम कार्य कहलाता है।

ग्यारहवीं लहर.

प्राणियोंका स्वर्गदाता कौन है ?

अहिंसा परमोधर्मस्तथा हिंसापरंतपः ।
अहिंसा परमंज्ञानमहिंसा परमागतिः ॥

अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम तप है, अहिंसा परम ज्ञान है, अहिंसा ही परम गति है ।

शिष्य—हे गुरु! प्राणियो और मनुष्योंका स्वर्गदाता कौन है ?

गुरु—अहिंसा ही स्वर्गका सुख देनेवाली है ।

शिष्य—हे महाराज! मुझे इस वातमें शंका होती है, क्योंकि पूर्व ऋषि लोग यज्ञ करते थे, उनमें पशुवध करते थे, मन्त्रोंका उच्चारण करते थे और उनका मांस भी भक्षण करते थे, तो वह क्या हिंसा न होती थी ?

गुरु—ऐसा करनेकी वेदमें आज्ञा नहीं है। अद्वैतको प्रतिपादन करनेवाले समर्थ स्वामी शङ्कराचार्यजी हुए हैं, उनसे पूर्व अनेक पन्थ निकले थे, उनमें विशेष कर वाममार्ग तथा ऐसे ही और भी कितने (पथ) मार्ग निकले थे। उस समय वाम मार्गी हिंसा करते थे, मद्य पीते थे, और बहुत सी अनीति चलाते थे। जब धर्म रक्षक अद्वैत प्रतिपादन करनेवाले श्रीमच्छ-ङ्कराचार्यजी प्रगट हुए, तब उनके अमोघ पराक्रमसे वह धर्म

लोप हो गया ! हे शिष्य ! वेदमें और मनुस्मृति आदिमें मांस भक्षण और मद्यपानका निषेध है। जैसा कि :—

इम ॐ साहस शतधारमत्स, इत्यादि। यजुः अ०१३ मं ४६।

अघ्न्यान् यजमानस्य पशुन् पाहि (यजुः १६-४६-४४)

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रय-विक्रयी।

संस्कर्ता चोपहर्ताच खादकश्चे ति घातकाः ॥ मनु ५१

अहिंसा सत्यमक्रोध—इत्यादि गीता।

मद गदामयेन—इत्यादि-शुश्रुतायुर्वेद।

इस मन्त्रका अर्थ स्पष्ट है अर्थात परमार्थके जिज्ञासुके लिये सब प्रकार मांस भक्षणका निषेध किया गया है। जिस मनु-स्मृतिमें इसका विधान लिखा हैं, वह मूलके अनुसार नहीं है, किन्तु क्षेपक बढ़ा दिये गये हैं। मनुजीने मनुस्मृतिमे जो नीति लिखी है, उसका स्वरूप परिपूर्ण रीतिसे बतलाया है। यद्यपि जिह्वाके स्वादु-प्रिय और कुतर्कियोंके लिये वह पदार्थ शरीर दृढ़ करनेवाले हैं, ऐसा उनका मिथ्या विश्वास है और रजोगुणी पुरुष ही अभक्ष्यको स्वीकार करते हैं। इसके अलावा मद्य मांस भक्षण करनेवालोंने मनुजीके रचे हुए ग्रन्थमें मिलावट कर मनु का नाम लज्जित किया है तथा पक्षपातसे :अर्थका अनर्थ कर लोगोंमें विश्वास भी बैठाया है, पर वह यथार्थ नहीं है।

हे शिष्य ! जो कोई यह कहता है कि जब सृष्टि उत्पन्न हुई थी, तबसे ही मनुष्यको कुदरतने मांसाहारी बनाया है और जिसके ऊपर नीचे डाढ़ें हों, वह स्वाभाविक ही मांसाहारी है।

तब देखिये कि वानरके ऊपर नीचे डाढ़ें होती हैं पर वह फलाहारी है, मांसाहारी नहीं है। इससे यह स्पष्ट है, कि यह नियम कुदरती नहीं है। परन्तु सिंह, रीछ-सियार-चीता-चरख-कुत्ता इत्यादि जो मांसाहारी हैं, जिनको अपने माता पिताका भी वयस्क होनेपर ज्ञान नहीं रहता है, ऐसे पशु ही मांसाहारी होते हैं। यह कहा जाय तो भी कुछ आश्चर्य नहीं। जब कुदरतने ही मनुष्यके भरण पोषणके अर्थ अनेक पदार्थ बनाये हैं और उनका उपयोग करनेकी बुद्धि दी है, तब निरपराधी, उपयोगी, गाय, बकरी, भैंस, ऊँट, भेड़ आदि प्राणियोंको क्यों मारना चाहिये ? विचार कीजिये कि आपको या आपके बच्चेको जब कोई मारता है, तब आपको कितना दुःख होता है। इसी प्रकार मरनेवाले पशुको अथवा उसकी सन्तानको क्या पीड़ा नहीं होती होगी ? अवश्य होती होगी। कोई कोई ऐसा भी कहते हैं, कि वृक्षमें भी तो जीव हैं फिर उसे अपने खानेके लिये क्यों पीड़ा देते हो ? इसका उत्तर यह है, कि वृक्षोंमे पीड़ा होनेके ज्ञानका साधन अन्तःकरण नहीं है बल्कि कुदरतने इस विषयमें हमको लाचार किया है, क्योंकि जलके हरएक कणमें हजारों जीव कहे जाते हैं और श्वासके साथ हजारों जीव (अज्ञात रूपसे) हमारे पेटमें पहुंचते हैं। अग्नि इत्यादिमें भी जीव हिंसा होती है, पर वह दोष नहीं कहा जाता है कारण कि कुदरतने इसके लिये हमको लाचार किया है।

यदि कोई कहे कि जीव तो मरता नहीं है तब मारनेमें और

खानेमे क्या पाप है ? इसका उत्तर यह है, कि वैद्यकमें घोड़े और मनुष्यके मांसमें अनेक गुण लिखे हैं, तव अपने छोटे वच्चोंको वा वृद्ध माता पिताको मारकर क्यों नहीं खाया जाता है ? पर ऐसा तो कोई नहीं करता। कोई कोई ऐसा भी कहते हैं, कि जीव मरता नहीं, यह तो ठीक ही है, पर जो जो वस्तु वहुतसे मनुष्योंके उपयोगमें आ सकती हो, उसे व्यथ नहीं फेंक देना चाहिये। इस कारण पशुसे मनुष्य अधिक उपयोगी और निरपराधी हैं, इसीसे इसको नहीं मारते हैं; क्योंकि अधिक उपयोगी पदार्थकी रक्षा ही करनी चाहिये। परन्तु हाँ, एक वात ठीक है कि अपराधी, हानिकारक (दुष्ट, सर्प, विच्छू, सिंह वाघ आदि) जानवरोंको मनुष्यकी सीमामे मारनेका दोष नहीं है। कारण कि ऐसे महा घोर और निर्दयी, क्रूर और हिंसक प्राणियोंके मारनेसे अन्य अनेक निरपराधी जीवोंका वचाव होता है। पर जो विना विचारे उपकारी गायको मारते हैं, उनसे अधिक और पाप कर्म क्या होगा ?

विचार-रहित जीव हिंसा करनेवाले लोग यह कहते हैं कि एक गायके मारनेसे १६ मनुष्योंका पेट भरता है, पर जो एक गायके दूध, छाछ, मूत्र और उसके सन्तानका हिसाव लगाया जावे तो एक गाय अपनी उम्रमें ४ लाख मनुष्योंको पालती है, अनेक व्याधियोंको दूर करनेवाला उसका दूध है, उस दूधमेंसे शरीरमें वल वढ़ानेवाला घी निकलता है, जुदे जुदे अनुमानसे अनेक रोगोंको दूर करता है। छाछके अनेक गुण

हैं। पर जीभके स्वादु हिंसाप्रिय लोग हठ पूर्वक ऐसा करते हैं।

हे शिष्य! मुसलमानोके मतमे भी गाय मारनेकी स्पष्ट आज्ञा नहीं है "जावहुल वकर कातउलशजर" इत्यादि वाक्योका विचार कीजिये।

शिष्य—हे गुरु! पूर्वकालमें महर्षिगण यज्ञमें पशुको मार कर उस पशुको स्वर्गमें पहुॅचा देते थे और उसका मांस आप खा लेते थे और उसकी जो हड्डियाँ रह जाती थीं, उनसे उसे सजीव कर देते थे, ऐसा सुना जाता है। यह बात सच्ची है या झूठी?

गुरु—हे शिष्य! अनेक तत्ववेत्ता, ज्ञानी और पूर्ण विद्वान पुरुषोंका ऐसा मत है, कि पशुवध, और मांस भक्षण प्राचीन ग्रन्थोंमें है ही नहीं, तब और बातें कैसे हो सकती हैं? परन्तु जो यह बात सच्ची न मानते हो तो जिनके यज्ञके ऐसे मन्त्र हैं, ऐसी ही उनकी क्रिया भी है, वैसे ही वेद मन्त्र और ब्राह्मण भी हैं, वे ब्राह्मण अथवा तुम अपने पिता वा पुत्रको मारकर (वलि देकर) परीक्षा कर देखो, यदि ऐसा करनेसे तुम्हारे पिता वा पुत्र पुनः जीवित हो जायँ तो जानो कि यह बात ठीक है, अन्यथा झूठ है। परन्तु हमारी समझमें तो आजकल ऐसा करनेवाला स्वयं भी सरकारकी आज्ञासे फांसी चढ़ाकर उन्हींके पास पहुंचा दिया जायगा—यह फल तो होना सम्भव है, परन्तु मरे हुओंका जीवित होना कदापि सम्भव नहीं।

प्रथम तो ऐसा कहनेवाला स्वयं अपनेको ही बलिदान करके दिखावे तो खरे खोटेका निर्णय तुरन्त हो जायगा, कदाचित यह कहो कि कलिकालमें ऐसा नहीं होता, तब मैं भी यह कह सकता हूं कि जब सतयुग आवे और लोग मुर्दोंको जीवित कर सकें तब इस विवादको एक ओर छोड़ दीजिये और खुले दिलसे अश्वमेधादि यज्ञ कीजिये। कहते भी हैं कि :—

अश्वालम्भंगवालम्भं संन्यासं पल पैत्रिकम्।
देवरात्सुतोत्पत्ति कलौपञ्चविवर्जयेत्॥

परन्तु इतना तो विचार कर लीजिये कि ऐसा हो तो पूर्वके महर्षि क्यों मृत्युको प्राप्त होते और गायोंकी दुर्दशा क्यों होती।

जो पूर्वके महर्षि सजीवन करनेके शक्तिवान होते तो यज्ञमें पशुवध करनेकी उन्हें क्या आवश्यकता थी! और ऐसी व्यर्थ उपाधिमें वे क्यों पड़ते? जो सजीवन करनेकी शक्ति और उनके मन्त्र होते तो क्या उन मन्त्र और पुस्तकोंको वे स्वर्गमें ले गये हैं? शोककी बात है कि उन्होंने कर्म मार्गका खोटा मार्ग बनाकर हिंसा करनेका भेद भरा हुआ मार्ग, वेदमें ज्ञान होनेपर भी अपने स्वार्थके लिये खोल दिया था, यह कहना भी क्या अनुचित होगा?

हे शिष्य! अहिंसा परम धर्म है—अहिंसा स्वर्गदाता है। अहिंसामें समभाव है और हिंसामें विषय भाव है। इस कारण प्राणीमात्रके लिये अहिंसा स्वर्ग देनेवाली है। जिसको एक आत्माका अनुभव है, वह सब प्राणियोंमें समभाव रक्खे, और

जब आत्माका एक अनुभव हो गया, तो फिर स्वर्ग क्या है! जैसे हाथीके पदत्व चिह्नमें सबका पद समाता है, वैसे ही सर्व धर्म अहिंसामें समाये हुए हैं।

हे शिष्य! तूने प्रश्न किया, कि प्राणियोंका स्वर्गदाता कौन है! उसका उत्तर अहिंसा हैं।

अहिंसासे स्वर्ग (देव) लोककी प्राप्ति होती है, इसपर मैं तुझसे एक बात कहता हूं, उसे ध्यान देकर सुन :—

तुङ्ग पर्वतकी तलहटीमें जावालि नामक ऋषि पर्णकुटी बना कर तप करते थे। उनके पास अनेक शिष्य योगाभ्यास करते थे। उनमें शुचिव्रत नामक शिष्य सबसे बड़ा था। वह योग विद्यामें कुशल हो गया था, समाधि द्वारा एकाग्र वृत्ति करना भी उसने गुरु कृपासे सीख लिया था, परन्तु उसके मनके जो संकल्प विकल्प थे, वे अभी बन्द नहीं हुए थे। इनके विषयमें बारम्बार जावालि ऋषिसे पूछता था। परन्तु तो भी उसका मन स्थिर नहीं रहता था। जब बार बार वह एक ही विषय पूछने लगा, तब एक दिन जावालि ऋषिने उसको शाप दे दिया, कि जा तू सांढ़ (बिजार) की भांति बेफिकर है। बार बार बतलानेपर भी कुछ ध्यान नहीं देता है, इस कारण तू दो मास तक सांढ़ होकर जङ्गलोंमें भटकता फिरे, तभी तू ठीक होगा।

वह शुचिव्रत्त गुरुके श्रापसे सांढ़ बन गया और बड़े बड़े जङ्गलोंमें तथा गांवोंके आस पास, यहांसे वहां और वहांसे यहां भटकने लगा।

शिष्य—हे गुरु! आप जो बात कह रहे हैं, उसमें मुझे बीचमें ही शङ्का उठी। इस कारण कुछ पूछता हूं कि वह जाबालि ऋषि तो त्रिकालज्ञ, समदर्शी, दयालु और परोपकारी महात्मा सन्त पुरुषथे। उनको एकाएक क्रोध क्यों उत्पन्न हुआ! उनको तो क्षमा रखनी चाहिये थी और अज्ञ पुरुषको जैसे बने तैसे युक्तिसे समझाना था। अज्ञानरूपी अँधेरेको ज्ञानरूपी दीपकसे दूर करना था। फिर उन्होंने शाप क्यों दिया।

गुरु—हे शिष्य! महात्मा जो करते हैं वह विचार कर ही करते हैं। ज्ञानी पुरुषोंका अन्तःकरण दयालु और परोपकारी ही होता है। उन्होंने अपने शिष्यको सांड़ होनेका २ महीनेके लिये इस कारण शाप दिया था कि शुचिव्रतको न्योली कर्म तथा पेटका पानी बाहर निकालनेकी क्रिया कई बार गुरुने बताई थी पर वह उससे बनती नहीं थी। उसे सिखानेके लिये सांड़ होनेका शाप दिया था। गाय, बैल सांड़ इत्यादि जितने पागुर करनेवाले प्राणी हैं, वे एकदम प्रथम चारा खा जाते हैं फिर जब रोथ (पागुर) करना शुरू करते हैं, तब ग्रासको पेटमेंसे मुखमें खींच लाकर और उसे चबाकर उसका रस नलिकाके द्वारा पेटमें उतारते हैं। वह क्रिया करनेकी शक्ति सांढ़की स्थूल देहसे हो सकेगी, और उस सांढ़की देहके कर्म और संस्कार शाप बीतने-पर भी बने रहेंगे, और गुरु प्रतापसे वह कर्म किस प्रकार किया था, वह सब याद रहेगा। इस कारण एक प्रकारका योगा-भ्यास द्वढ़ करनेके लिये उसे केवल दो महीनेका शाप दिया था।

शिष्य—धन्य गुरु, गुरुकी महिमा बड़ी विलक्षण है, फिर क्या हुआ ?

गुरु—वह सांड़ शरीरसे मलमस्त हृष्ट पुष्ट और मोटा ताजा था। चाहे किसीने सैकड़ों सांढ देखे हों, पर इसको देखकर वह चकित हो जाता था। वह देखनेमें बड़ा सुन्दर था। इसके साथ टोलीमेंसे छँटकर एक गाय रहती थी। ये दोनों जङ्गलमें हरी हरी घास चरते और तालाबमें जल पीते थे। ऐसा करते करते गुरुका शाप पूरा होनेमें बहुत थोड़ा काल शेष रहा था। अर्थात् ३ घण्टे पीछे शापकी अवधि पूरी होनेवाली थी। उस समय ऐसा हुआ कि एक गाय और इस साड़को देखकर चार भीलोंकी इच्छा हुई कि इनको मारना चाहिये। यह विचार, धनुपपर तीर चढ़ाकर, उन्होंने इन दोनोको रोक लिया। इतनेमें एक ब्राह्मण वहाँ आ पहुंचा। जो अपनी स्त्रीको विदा करानेके लिये अपनी सुसराल जा रहा था। वह भी जवान और ताकतवाला आदमी था। सास ससुरसे उसका बड़ा प्रेम था। उसने मार्गमें चलते हुए देखा, कि ये भील इस गाय बैलको घेर रहे हैं तो इस ब्राह्मणने कहा कि अरे भील लोगो! खबरदार! जो तुमने इन गाय बैलको सताया तो इस घोर कर्मका फल अच्छा न होगा।

भीलोंने ब्राह्मणको उत्तर दिया—चला जा! अपने मार्गपर! चला जा। नहीं तो पहले तुझको ही मार डालेंगे।" यह कहकर एक भीलने इस ब्राह्मणपर तीर छोड़ दिया, पर ईश्वर इच्छासे वह ब्राह्मण अपने स्थानसे हाथ भर अलग हट गया और तीर

खाली गया। ब्राह्मणने एक भीलके सिरपर लाठीका प्रहार किया। जिससे वह बेहोश होकर धरतीपर गिर पड़ा। फिर शेष तीन भीलोंने मिलकर उस ब्राह्मणपर आक्रमण किया। भीलोंके पास भी लकड़ी थी, तीनोंने उसे बीचमे घेर लिया तो भी वह लकड़ी चारों ओर इस प्रकार फिराता था कि कोई भील उसपर चोट नहीं कर सकता था। परन्तु एक भीलने कमठेपर तीर चढ़ाकर उसके पैरपर मारा। वह वाण टांग वेधकर पार निकल गया। इतना होनेपर भी शूरताके कारण ब्राह्मणको वह चोट मालूम न पड़ी और उसने उछलकर दूसरे भीलकी खोपड़ीपर लट्ट जमाया कि उसकी खोपड़ी नारियलकी तरह खिल गई। फिर भीलने ब्राह्मणकी छातीमें वाण मारा, वाण लगनेपर भी उसने तीसरे भीलके दो तीन लाठी जमाई और धरतीपर गिरा दिया। इतनेमें तीसरा वाण ब्राह्मणकी कमरमें लगा उसके लगते ही राम राम कहता हुआ वह धरतीपर गिर पड़ा। अब केवल एक भील रह गया था। उसने जाना कि यह ब्राह्मण मर गया है, इसलिये इसकी कमरमे कुछ धन हो तो निकाल लूँ। इस इरादेसे उसके पास गया, और निश्चिन्त हो, उसे देख रहा था कि ब्राह्मणने अनायास ही उछलकर उसके माथेपर इस जोरसे लाठी जमाई कि वह बेहोश हो धरतीपर गिर पड़ा। यह सब हाल वह सांड़ जो शाप छूटनेके कारण अब दिव्यरूप ब्राह्मण हो गया था देख रहा था, अर्थात् जावालि ऋषिके शापसे शुचिव्रत मुक्त होकर देख रहा था। उसे यह हाल मालूम था, कि यह ब्राह्मण

हमारी रक्षा करनेके लिये युद्ध कर रणभूमिमे पड़ा है। उसका हमारे ऊपर बड़ा उपकार हुआ है। यही नहीं बल्कि बाणसे व्याकुल ब्राह्मणकी स्थिति देख नेत्रोंसे आँसू डालता हुआ शुचिव्रत उस ब्राह्मणकी सेवा करने लगा और उसके समीप बैठ गया, और उस ब्राह्मणसे बोला, कि हे भाई! तुम धन्य हो! तेरा कल्याण हो। तुम्हारा किया हुआ उपकार मैं कभी भूलनेका नहीं। हे भाई! अब मेरे लिये तुम क्या आज्ञा देते हो।

वह आसन्न मृत्यु ब्राह्मण बोला कि हे भाई! सुप्रभा नगर नगरमें देव शर्मा ब्राह्मणकी बेटी धर्मशीला मेरी स्त्री है। गत वर्ष उसके साथ मेरा विवाह हुआ था, उसको लेनेके लिये मैं प्रथम बार ही जाता था। उस स्त्रीको मैंने बिलकुल सुख नहीं दिया है, विवाहके पश्चात वह फिर मेरे घर आई भी नहीं है। वह स्त्री मेरे मरणसे विधवा होगी। हरे हरे!! उसका अन्तरात्मा मेरे वियोगसे कितना दु:खी होगा! उसकी उम्र अभी १५ वर्षकी है और मेरी २५ वर्षकी है, अस्तु जो हुआ सो हुआ। मेरे मरणकी खबर मेरी स्त्रीको तुम पहुँचा देना।" यह कहकर ब्राह्मणने प्राण त्याग दिये। उस समय विष्णुके पार्षद विमानमें बैठाकर उसे स्वर्गलोक (देवलोक) में ले गये।

यहाँ समीप ही गाय खड़ी है। उसके नेत्रोंसे भी आँसुओंकी धारा बह रही है। यह और शुचिव्रत दोनों रो रहे हैं, कि देखो हमारी रक्षाके लिये संसारी सुखके उम्मीदवार एक तरुण मनुष्यने अपनी देह अर्पण की। उसके लिये यह पशु देहवाली

गाय रोती है तब मेरा हृदय खिन्न हो तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

शुचिव्रतने विचार किया, कि इस ब्राह्मणके शवको अग्निदाह न कर, अपने परम गुरु जावालि ऋषिके पास ले जायँ। फिर वे जैसी आज्ञा करेंगे, वैसा करूँगा। यह विचारकर शुचिव्रतने ब्राह्मणका शव उठाया, और जावालि ऋषिके आश्रमकी ओर चला। साथ ही वह गाय भी उसी ओर चली, आश्रमसे थोड़ी दूर एक पलाशका पेड़ था। उसके पत्ते इकट्ठे कर उसपर शवको रखकर शुचिव्रतने अपने गुरु जावालिके पास जाकर प्रणाम किया। शुचिव्रतको देखकर जावालिने आशीर्वाद दिया। अब शुचिव्रत अपनी और गायकी रक्षा करता हुआ वह ब्राह्मण किस तरह मारा गया, सभी बाते बता गया। उसने यह भी कहा, कि उसके शवको साथ लाया हूँ। गाय भी साथ आई है।

जावालि ऋषिने शुचिव्रत और शिष्यवर्गकी ओर देखकर कहा कि अहाहा! यह पूर्वका सम्बन्ध कोई विचित्र प्रकारका जान पड़ता है। इतना कहकर वे चुप हो रहे।

शिष्योंने कहा—महाराज, यह कैसा विचित्र सम्बन्ध है। वह कृपा कर कहिये।

जावालि—जिस ब्राह्मणने इस सामने खड़ी हुई गायकी और शापसे सांड हुए इस शुचि व्रतकी रक्षा करनेमें अपने शरीरकी पर्वाह नहीं की थी, वह पूर्वजन्ममें उत्तम कुलीन ब्राह्मण था।

बडा विद्वान था, उसका नाम विजयदत्त था। उसने वेदाभ्यास किया था। उसकी स्त्रीका नाम ललिता था जो गाय रूपसे सामने खडी है। विजयदत्तके यहां दूध देनेवाली अनेक गायें थीं। उन गायोंपर उस ब्राह्मणकी बड़ी श्रद्धा भक्ति रहती थी, वह प्रात.काल स्नान सन्ध्या वन्दन कर अपनी गायोंकी पूजा करता था। गायोकी पूँछको पवित्र जलसे धोकर उसका आचमन लेता था। अच्छे अच्छे यजमानोंके पाससे द्रव्य लाकर गायोंका उत्तम रीतिसे पोषण करता था। दिनमें १०-१५ वार गायोंके शरीर पर हाथ फेरकर अपनी प्रेम भक्ति प्रगट करता था। उसके पास वहुतसी जमीन जागीर थी, उसमें खेती कराकर अपना और घास आदिसे गायोंका पोषण करता था। जितनी श्रद्धा और देख भाल गायोकी विजयदत्त रखता था, उतनी ललिता नहीं रखती थी पर विजयदत्तकी आज्ञा और भयसे गायोंकी सेवा करती थी। परन्तु विजय-दत्त जानता था, कि मेरी स्त्रीमें यह दुर्गुण है कि मेरी तरह गायोंपर भक्ति नहीं रखती है। इससे वार वार वह अपनी स्त्रीको समझाता और धमकाता था। इससे वह गायकी सेवा करती थी और विजयदत्तको भी सन्तोप होता था। यथासमय विजयदत्तकी मृत्यु हो गई, परन्तु उसका संस्कार अच्छा था इससे फिर ब्राह्मण शरीर मिला। फिर उसकी स्त्री ललिताकी मृत्यु हुई वह गायोंकी सेवामें दुर्लक्ष्य रखती थी, इस कारण उसे गायका जन्म मिला। यह वही गाय है।

शिष्य—हे महाराज ! ललिताको गो-योनिको क्यों प्राप्त हुई ?

जावालि—गायकी सेवा करनेमें जो प्राणी उपेक्षा करता है, उसकी जैसी सेवा करनी चाहिये, वैसा विचार नहीं करता है, उसे गायका जन्म मिळता है। इसीसे इसको इस जन्ममें ऐसा कष्ट मिला है कि इसको कष्टका अनुभव प्राप्त हो जाय, अथवा गो सेवामें त्रुटि करने रूप गुनाहोंका वदला मिला है। अव इस गायको अपनी गायोंमें मिलाकर अपने आश्रममें रख लो और अच्छी तरह इसकी सेवा करो।

शुचिव्रत—हे दयासिन्धु ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, परन्तु विषय प्रार्थना यह है कि उस मरे हुए ब्राह्मणके शवका अग्निसंस्कार यदि आज्ञा हो तो कर दिया जावे।

जावालि—थोड़ी देर धीरज धरो। इसका मरण सुनकर उसकी स्त्री और उसका पिता आश्रममें आते हैं। देखो, वे आ रहे हैं!!!

शुचिव्रत—अहाहा ! महाराज यह अनुकूलता कैसे वनी होगी ?

जावालि—पहले सुनलो—वह क्या कहते हैं तव सब जान लोगे। थोड़ी देरमें एक पुरुष और एक स्त्री दोनोंने आकर जावालि ऋषिके चरणोंपर माथा नवाया। वह स्त्री उस मरे हुए ब्राह्मणकी स्त्री सुप्रभानगरकी धर्मशीला नामवाली थी और उसके साथ जो पुरुष था वह उस स्त्रीका पिता था, धर्मशीला देवांगनाके सदृश रूपवती थी। उसके नेत्रोंसे आँसू

गिर रहे थे, उसका हृदय धड़क रहा था, उसने जावालि ऋषिसे हाथ जोड़कर विनती की कि, हे महर्षि ! आपके स्थानमें मेरे स्वामीका शव (लाश) पड़ा हैं, वह कहां है ? हे प्रभु ! मैं उसका मुख देखने आई हूं ।

उस स्त्रीका वचन सुन जावालि ऋषि अपने आसनसे खड़े हो गये और उनके साथ ही शुचिव्रत और शिष्य मण्डली भी उस स्त्री को साथ लेकर पलाशपत्र आदिके ऊपर रक्खे हुए शवके पास पहुचे । धर्मशीलाने अपने पतिका मुंह देखा और अनेक प्रकारका विलाप करना शुरू किया—जिसको सुनकर पत्थरका कलेजा भी पिघलने लगता था । जिस गायकी उसने रक्षाकी थी उसने तृण भी नहीं खाया था, और अपने नेत्रोंसे आंसू बहा रही थी । धर्मशीलाके पिताका कण्ठ गद्गद हो गया था, वह अपने माथेपर हाथ रखकर अपनी बेटीका दुःख सहन न होनेसे गतिशून्य हो रहा था । उस धर्मशीलाका विलाप सुननेसे सबका हृदय करुणामय हो जानेके करण अरण्यकी शोभा भी शोकमय दीखने लगी । जावालि ऋषि अपने शिष्यके साथ एक ओर खड़े थे । थोडी देर बाद धर्मशीलाने अपने पितासे कहा—मैं सती होऊँगी, लकड़ी एकत्र करो । उसका पिता अर्द्ध-मूर्छितके समान हो रहा था । उस समय जावालिके अन्तःकरणमें उस स्त्री पर बड़ी दया आई और वे दया पूर्वक धर्मशीलासे बोले—

हे माता ! तू क्यों रोती है ? जो जीव तेरेमें है, वही मृतक

शरीरमें था। जीव तो मरता नहीं और न जीव किसीके साथ सम्बन्ध रखता है ? तेरे शरीरसे भी कभी जीव जुदा होगा। देख, उस जीवमें और इस मृतक शरीरके जीवमें सब एक तत्व हैं। उसमें स्त्री पुरुष कुछ भेद नहीं है, तो तू किसके साथ काष्ट की चिता बनाकर जलती मरती है। ऐसे जलनेसे मोक्ष मिलती नहीं, बल्कि ज्ञानद्वारा ईश्वरका स्मरण करने और सदा चरणसे ही मोक्ष मिलती हैं। हे माता! इस तमाम जंजालको दूर करो और श्रद्धा पूर्वक केवल ईश्वरका स्मरण करो। जिससे मनुष्य जन्म सार्थक हो! धर्मशीलाने कहा—"महाराज! मेरे तो यही ईश्वर हैं, पति ही स्त्रीके लिये परमेश्वर है, इसलिये इस परमेश्वरके अंशमें मिलनेके लिये यह देह अर्पण करती हूं।"

जावालि—सत्य है। पातिव्रत पालन और निर्मल प्रेमका उद्देश्य यही है। इसीलिये अब तुम जो पातिव्रत पालती थीं उसका रहस्य जीवन पर्यन्त मनमें रखकर सच्चे और निर्मल मनसे ईश्वरकी प्रार्थना करो। यही श्रेष्ठ धर्म है।

धर्म शीला—मैं भाग्यहीन हूँ कि मैंने दूसरी बार पतिका जीवित दर्शन भी नहीं किया। किन्तु मृतक पतिका शरीर देखा है। इस कारण अब मेरे लिये तो अपना शरीर चितामें भस्म कर देना ही कर्त्तव्य है।

जावालि—हे माता सुन! तेरा पति गायकी रक्षा करनेमें भील लोगोंके हाथसे मारा गया है, परन्तु उसने गायको बचा

लिया। इस कारण भगवानके पार्षद आकर उसे स्वर्गको ले गये हैं। वह विमानपर बैठकर स्वर्ग गया है। गायकी रक्षाके पुण्यसे उसे अद्भुत वैभव मिला है। उसे श्रीविष्णुने स्वतन्त्र अधिकार दिया है, वह महीनेमें दो दिन इस पृथिवीपर रातके १० बजे भद्रारण्यमें, जहाँ अनेक सुशोभित पर्वत, वृक्ष, वन उपवन. तड़ाग आदि अनेक प्रकारके पुष्पोंसे सुशोभित हैं, पिछली रातके पांच बजेतक वहाँ रहता है।

जब वह आता है तो उसके आनेसे पहले गगनभेदी ऊँचा महल तयार हो जाता है। उस महलके आगे दश हजार आदमी आरामसे बैठ सकें, ऐसी बैठक तैयार हो जाती है। उसपर मखमलकी मोटी मोटी जाजिमें जिनपर सुवर्णके बेल बूटे बने हुए हैं, बिछ जाती है। बड़े बड़े गद्दी और तकिये मखमली अग्रेजी कामके वहाँ रखे होते हैं, वहाँपर तेरा स्वामी ऐसे वैभवको पाकर सैकड़ों अप्सराओं और कितने ही महर्षियों और देवताओंके साथ उपस्थित होता है। सैंकड़ों रक्षक हथियार बाँधे हुए उसका पहरा देते हैं। सैकड़ों शूर सामन्त आस पास फिरते रहते हैं। सारी रात नाच रंग होता है। अनेक प्रकारके खान पान होते हैं। जब पाँच बजते हैं, तब सब गायब हो जाता है। हे माता! ऐसी महासामर्थ्यको पाया हुआ तेरा पति स्वर्गमें भी इसी प्रकार नित्यप्रति सुख भोगता है। यह सब गायकी रक्षा करनेका ही फल उसे मिला है! हे माता, तेरा पति ऐसे वैभवको प्राप्त हुआ है और तू इस मृतक शरीरके

लिये जलनेको तयार है। इसमे क्या तू चैतन्य देखती है? तू उसके कानमें चिल्लाकर कहती है कि मैं तेरे पीछे तेरे साथ जानेको मरती हूँ पर क्या उसे सुनकर वह तुझे कुछ उत्तर देता है? इसका तू ही अनुभव कर ले।

जिस प्रकार सार रहित सूखी लकड़ी होती है और जिस प्रकार लातोंसे ठोकर खाते हुए ईंट, पत्थर और कंकड़ इधर उधर पड़े रहते हैं, उसी प्रकार यह स्थूल देह पड़ी हुई है। हे माता! तू विचार कर ले कि जड़ पदार्थके साथ जलकर तू किसे पानेका विचार करती है? जीवात्मा तो जुदे-जुदे शरीरोंमें जन्म धारण करता है। इस समय जो जीवात्मा तेरे शरीरमें है वह दूसरे जन्ममें न जाने किस शरीरमें जन्म लेगा। जब इसका तुझे ही निश्चय नहीं है, तो तू किसके लिये अपने शरीरका नाश करती है सो बतला दे।

धर्मशीला—महाराज! आप बड़े ज्ञानी हैं, बल्कि त्रिकाल-दर्शी हैं; क्योंकि मेरा पति जिस स्थितिमें है, वह आपने कह सुनायी है। पर इसका मुझे किस प्रकार निश्चय होवे कि यह बात सच है।

जाबालि—मेरी आज्ञानुसार चलेगी तो तेरा मनोरथ सफल होगा। इसलिये पहले शवको अग्नि संस्कार करनेकी आज्ञा मेरे शिष्योंको दे।

धर्मशीला—हे गुरु! हे प्रभु! आप जैसे महासमर्थके शरण-में आई हूँ। मैं केवल अपने स्वामीको देखना चाहती हूं। उसे

दिखानेका आप वचन देते हैं। इसलिये मृत स्वामीके शवको जलानेकी मैं अनुमति देती हूँ। हे महात्मा! मैं आपके आश्रममें किस प्रकार आई हूं, वह भी संक्षेपमें सुन लीजिये। मुझे रात्रिमें अकस्मात यह स्वप्न हुआ, कि रास्तेमें आते हुए मेरे स्वामी किसीके हाथसे मारे गये हैं और उसे उठाकर कोई ले गया हैं। यह बात मुझसे किसी सौभाग्यवती स्त्रीने कही है। यह सुन मैं नींदमें ही अत्यन्त विलाप करती थी। इतनेमें श्वेत वस्त्र धारण किये, एक साधुने मेरे सामने आकर कहा, कि अब तू रुदन न कर, यदि तुझे अपने स्वामीका मृत शरीर देखना हो तो शीघ्र ही जावालि ऋषिके स्थानको जा। यह कहकर वह साधु अन्तर्द्धान हो गया और मेरी आँखें खुल गईं। मैंने स्वप्न अपने पिताजीसे कहा। उत्तरमें वे बोले कि स्वप्न सच्चा नहीं होता है। परन्तु मुझे चैन नहीं पड़ा! इससे मैं हठ पूर्वक अपने पिताको साथ लेकर यहां आई हूं। हे कृपासिन्धु! अब आपकी कृपा ही इस दासीका आधार है।

जावालि—हे धर्मशीला! तू बारह महीने तक इस गायकी, जिसकी तेरे स्वामीने रक्षा की है, तन मन धनसे सेवाकर। फिर तू इस गायको लेकर इस स्थानपर आना, तब तुझे तेरा स्वामी बता दूंगा। धर्मशीला ऋषिके पवित्र चरणोंमें मस्तक नवाकर उस गायको लेकर पिताके साथ उनके घर गई। उधर जावालिके शिष्योंने मृतक शरीरका अग्निदाह किया। कुछ दिन पीछे धर्मशीलाके वृद्ध माता-पिता स्वर्गवासी हो गये। अकेली धर्म-

शीला रात दिन पवित्र रहकर ईश्वर स्मरणमे तथा अपने पतिकी मुखाकृति अन्तःकरणमें रखकर, अपना जीवन व्यतीत करने लगी। साथ ही वह उस गायकी तनमनसे सेवा करती थी। गायका दूध जो निकलता था, वह साधु सन्तोंको बांट देती थी, और आप भी केवल दूध पीकर ही रहती थी। ऐसा करते करते बारह महीने बीत गये, तब उस गायको लेकर वह जाबालि ऋषिके आश्रममे आई और ऋषिके पवित्र चरणोंमें दण्डवत कर, दीन मुख-मुद्रासे सामने बैठ गई। जाबालिने अपने शिष्य शुचिव्रतसे कहा—हे शुचिव्रत ! तू हमारे अग्नि-कुण्डके ऊपरका पलाशका दण्ड अपने साथ लेकर, इस धर्मशीलाके साथ भद्रारण्यमे जा। उस अरण्यमे विन्दु सरोवर है। उस सरोवरके उत्तर भागमें जो बड़ा मैदान है, उस मैदानसे कुछ आगे जाकर एक बहुत बड़ा वटवृक्ष है। उस वृक्षके ऊपर रात्रिके दश बजेतक तुम दोनों निर्भय होकर बैठना। उस मैदानमें जब कुछ चमत्कार दिखाई दे और एक महल बन जाय, तथा अद्भुत देवोंकी बैठक हो, उस समय उस पलाशदण्डको हाथमें लेकर और भद्रशीलाको साथ लेकर उसमें प्रवेश करना। इस पलाश दण्डको जो कोई देखेगा, वह तुमको न रोकेगा। उसके ठीक बीचमें पहुचनेपर सुवर्णका एक बड़ा सिंहासन मिलेगा। उस पर जो कोई बैठा हो, उसे इस भद्रशीलाको दिखा देना। फिर धर्मशीलाको कुछ कहना नहीं पड़ेगा। तुम फलाहार करके यहाँ से जल्दी चले जाओ। मैंने कहा है, कि यहां पर महीनेमें

दो वार सभा भरती है। एक शुक्ल पक्षकी पूर्णिमाको दिनमें और दूसरी कृष्णपक्षकी अमावस्याको रातमें। आज त्रयोदशी है और यहांसे वहांतक दो दिनका मार्ग है। आज चलकर तुम अमावस्याको दिनमे वहां पहुच जाओगे और रातमें वट-वृक्षके ऊपर वैठ सकोगे।

शुचिव्रत जावालि मुनिको दण्डवत् कर, आज्ञा ले, धर्म-शीलाके साथ भद्रारण्यकी ओर चल पड़े।

तीसरे दिन सायंकालके समय भद्रारण्यमें, उसी वताये हुए स्थानपर, वड़े वटवृक्षके पास ये दोनों जा पहुचे। उस वटवृक्षके सामने एक वड़ा मैदान था। उसके आसपास रमणीय पर्वत श्रेणी थी जो अनेक प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंसे सुशोभित हो रही थी। परन्तु अव सूर्य अस्त होना ही चाहता था। इससे उजाला कम होता जाता था और अन्धेरा वढ़ता जाता था। उस अरण्यकी अपूर्व शोभा और मनको आनन्द देनेवाली रचना जैसी दिनमें जान पडती थी, उसके विपरीत ज्यो ज्यो अन्धेरा होने लगा त्यों त्यों भयङ्करता भी वढ़ती ही गयी। पक्षी अपने अपने घोंसलोंमें शयन करनेके लिये कूंजने लगे। तव शुचिव्रतने भद्रशीलासे कहा—हे भद्रे! अव अपने गुरुकी आज्ञानुसार इस वटवृक्षपर चढ़कर वैठना चाहिये। जो कुछ रचना होगी, उसमे अभी कुछ देर है। पर इस जङ्गलमें नीचे वैठनेका काम नहीं है। क्योंकि हिंसक जन्तुओंके विचरनेका यह समय है। यह विचार कर उनके पास जो कुछ खाने पीनेका

सामान था, उसे खा पीकर दोनों जने वटवृक्षपर चढ़कर आनन्द पूर्वक बैठ गये। थोड़ी देर बाद प्रहर भर रात गई और पूरा पूरा अन्धकार छा गया। एक तो अमावस्याकी रात, दूसरे कुछ कुछ बादल हो रहा था। फिर अन्धेरेका तो कहना ही क्या? चारो ओर पहाड़ियोंमेंसे सिंहोंकी गर्जना सुनाई पड़ती थी। ऐसे भयानक स्थलमें जब चार घंटे रात बीत गई तब अचानक सुवर्णका जगमगाता हुआ महल प्रगट हुआ। साथ ही उस चौगानमें मखमलके फर्श बिछ गये, उसके बीचमें सुवर्णका एक सिंहासन रक्खा गया। पंक्तिबद्ध हजारों झाड़ फानूस आँखोंमें चकाचौंध उत्पन्न करने लगे। एक तरफ अनेक प्रकारके मेवा मिठाइयोंकी दूकाने लग गईं। दूसरी ओर सैकड़ो प्रकारके दूकानदार अपनी अपनी दूकानें सजाकर बैठ गये। बड़ा रमणीय बाजार लग गया। उस सिंहासनके सामने एक बड़ा और ऊँचा भव्य दरवाजा बन गया, उस दरवाजेके आगे करोड़ों जवाहिरोंकी मालाएँ तथा जरदोजीके कामके अंगरखे पहने हुए, हाथमें नङ्गी तलवार लिये पहरेदार पहरा दे रहे थे। उस दरवाजेके भीतर खुली जगहमें जहाँ सिंहासन रक्खा था, वहाँ हजारों सुशोभित आभूषणवाले खूबसूरत जवान अकड़कर चलनेवाले राजभूषण धारण कर अपने अपने आसन पर बैठे हुए थे। सुवर्णकी छड़ी हाथमें लिये चोबदार, जो जो अमीर उमराव उसमें प्रवेश करते थे, उनको सन्मान पूर्वक नकीबके साथ उनका वर्णन करते हुए, मर्यादासे बिठाते जाते थे।

अनेक स्वर्गकी अप्सरायें अपने स्थानपर स्वागत करनेको खड़ी थीं। सिंहासनके सामने मार्ग खाली छोड़ दिया गया था, जिससे किसीको वहाँ तक पहुचनेमें अड़चन न हो। उस सभामें इत्रके फव्वारे छूट रहे थे, सभाके मध्यमें ऊँचे सिंहासनपर गौर वर्णका सबके स्वरूपको लज्जित करनेवाला, मदमत्त स्थूलकाय युवक बैठा हुआ था। थोड़ी देर पीछे अप्सराओंका नृत्य आरम्भ हुआ।

उस वट वृक्षपर बैठे हुए धर्मशीला और शुचिव्रतने सब तमाशा देखा। अब शुचिव्रत धर्मशीलाको संकेत कर वृक्षपरसे उतरा और गुरुजीने पलाश वृक्षकी जो लकड़ी दी थी, वह लकड़ी हाथमें ले आगे शुचिव्रत और पीछे धर्मशीला, इस प्रकार दोनों निर्भय चित्तसे उस दरवाजेमें प्रवेश कर सभामें चले गये। सभा में पहुँच कर धर्मशीलाने अपने स्वामीको सिंहासनपर बैठे हुए देखा। फिर तो कहना ही क्या है? इस समय धर्मशीलाको अपार आनन्द हुआ। इस समय उसे वैसा ही परम आनन्द प्राप्त हुआ था, जैसा ब्रह्म विद्याके प्रभावसे मुनियोंको प्राप्त होता है। वह आनन्द भी संकोच सहित धर्मशीलाके आनन्दके समान कहा जा सकता है।

इधर अप्सराओंका नाट्य रङ्ग हो रहा था। इतनेमें उन ऊँचे सिंहासनके आगे पलाश दण्ड लिये एक ब्राह्मण एक तरफ जा खड़ा हुआ, और धर्मशीला उस आसनकी सीढ़ियों पर पैर रखती हुई उस सिंहासनपर जो दिव्य युवा पुरुष

बैठा था, उसकी बांईं ओर जा बैठी और उसका हाथ पकड़ लिया।

कनकासनपर बैठा हुआ पुरुष धर्मशीलाको देखकर अचंभेमें आगया। उसने उसी समय नाट्य रङ्ग बन्द करनेकी आज्ञा दी और धर्मशीलासे पूछा—"हे सुभगे! तू यहाँ किस प्रकार आ सकी? जब मनुष्यका शरीर बदलता है और पुण्य अपूर्व होते हैं तब स्वर्गकी प्राप्ति होती है। इतने पर भी इस मार्गसे कोई मनुष्य यहाँ नहीं आ सकता है। क्योंकि स्वर्गमें निवास करनेवाले देव दूत सदा दरवाजेपर पहरा देते रहते हैं, उन सबको मालूम हुए बिना, तुम यहाँ कैसे आ पहुंचीं।

धर्मशीला—हे प्रभु! जब आपने मनुष्य शरीरका त्याग किया था, उस समय आपकी देहके साथ यह दासी सती (भस्म) होनेको तैयार हुई थी, परन्तु परम कृपालु जाबालि ऋषिने आपके प्राप्त होनेका मुझे आश्वासन दिया था। उन्हींकी कृपासे, यह पलाशका दण्ड धारण किये हुए जाबालि ऋषिका शिष्य शुचिव्रत, उनकी आज्ञासे, यहाँ मेरे साथ आया है। अब इस दासीने आपका हाथ पकड़ा है, तो क्या आप इसे यहीं छोड़कर स्वर्गमें जाना चाहते हैं? हे नाथ! इस दासीने क्या अपराध किया है? आपके बिना क्षणभर भी मुझे सुख नहीं मिलता है। अब आप मुझे स्वर्गमें ले चलिये।"

सिंहासनपर विराजे हुए वीर पुरुषने कहा कि तुम्हारी अपार ममता, अपार प्रेम और तुम्हारे पातिव्रत पालनका दृढ़

नियम जानकर मुझे आनन्द हुआ है। पर इस देहसे स्वर्गमें तुम को किस प्रकार ले जाऊँ? इसके लिये बड़ी असमंजसमें पड़ रहा हूं। अस्तु, तुम ऐसा करो कि आगामी पूर्णिमा तक, १५ दिन तुम इसी अरण्यमें आनन्दपूर्वक रहो। तुमको व्याघ्र आदि कोई हिंसक जन्तु कष्ट नहीं दे सकेगा। उनसे रक्षाके लिये मैं यहाँ देव दूतोंको छोड़ जाऊँगा। इससे तुम निर्भय होकर रह सकोगी। और मैं तुम्हारे लिये साक्षात् विष्णु भगवानसे निर्णय पूर्वक आज्ञा मागूँगा। यदि वे स्वीकार करेंगे तो तीसरे दिन तुम्हारे पास अप्सराएँ आवेंगी। मुझे हर प्रकारसे निश्चय है, कि मुझे विष्णु भगवान तुम्हारे लिये आज्ञा प्रदान करेंगे।

इस प्रकार वार्तालाप हो ही रहा था कि उस सभामेंसे एक त्रिकालदर्शी अग्निकेतु देवने कहा कि इस बाईने जावालि ऋषिकी आज्ञासे एक बरस तक गायकी सेवा की है। इस कारण उसी पुण्यके द्वारा विष्णु भगवान इस पवित्र बाईको स्वर्गमे आनेके लिये निश्चय ही आज्ञा देवेंगे। यह वचन सुनकर सिंहासनपर विराजमान युवक बड़ा प्रसन्न हुआ और धर्मशीलासे कहने लगा कि तुम इस अरण्यमें निर्भय होकर रहो।

धर्मशीलाको भी उसके वचन उचित प्रतीत हुए और उसने यहाँ रहना स्वीकार किया। जब चार घड़ी रात्रि शेष रही, तब यहाँका सब दृश्य गायब हो गया, परन्तु उस मैदानमें धर्मशीला और सुचियतके रहनेके लिये दो विभागवाली एक पर्णकुटी तयार हो गई। उसको देखकर दोनों पर्णकुटीमें गये। उसके

एक भागमें शुचिव्रत रहा और दूसरे भागमे धर्मशीलाने निवास किया ।

तीसरा दिवस हुआ तो आकाशसे चार अप्सराए विमान लेकर पर्णकुटीके आगे आ पहुचीं । उस समय धर्मशीला स्नान कर अपने पतिका स्वरूप अन्तःकरणमें धारण करती हुई ध्यानमें लीन हो रही थी । अप्सराओंने उसे पुकारकर सचेत किया । उनको देखकर उसे बड़ा आनन्द हुआ । उन अप्सराओंने धर्म-शीलासे कहा—हे बाई साहिबा ! तुम इस सरोवरमें स्नान करो और इस विमानमें बैठो । आपको स्वर्गमें पति देवने बुलाया है । यह सुनकर धर्मशीलाने शुचिव्रतसे कहा कि हे मुनिकुमार ! जाबालि गुरुकी कृपासे ही मुझे यह सब परम सुख प्राप्त हुआ है । अब आप गुरुकी सेवाके लिये उनके पवित्र आश्रमपर पधारिये । और मैं, इस सरोवरमें स्नानकर इन अप्सराओंके साथ विमानमें बैठकर, पतिके पास स्वर्गमें जाती हूँ । धर्मशीलाको आनन्दमें मग्न देखकर शुचिव्रतने आशीर्वाद दिया । फिर शुचिव्रतने कहा—"तुम स्नान कर आओ और विमानमें बैठ जाओ, तब मैं गुरुजीके स्थानको जाऊँगा ।" धर्मशीला उस सरोवरमें स्नान करनेको गई । स्नान करते ही उसका दिव्यरूप हो गया । वह विमानमें बैठ गई और विमान आकाशमें चलने लगा । चलते समय उसने गुरुजीको दण्डवत प्रणाम तथा सब समाचार कहनेको कहा और कहा कि गुरुजीके प्रतापसे ही मेरा उद्धार हुआ है । शुचिव्रत वहाँसे चलकर

जावालि ऋषिके स्थानपर पहुंचा और सब वृत्तान्त उन्हें कह सुनाया। धर्मशीला स्वर्गमें जाकर अपने स्वामीसे मिली और अनेक प्रकारके सुखको प्राप्त हुई।

हे शिष्य! गायका रक्षण करनेसे और उसकी सेवा करने और उसका प्राण बचानेके कारण वह ब्राह्मण और उसकी स्त्री धर्मशीला इस प्रकारके उत्तम पदको प्राप्त हुए। अहिंसा स्वर्गका सुख देनेवाली है, अहिंसा धर्मकी रक्षाका कोट है, अहिंसा नीतिकी मर्यादा है। इस कारण हे शिष्य! जो अहिंसा धर्मके ऊपर पूर्ण ध्यान रखता है, वह सदा सर्वदा सुख पाता है।
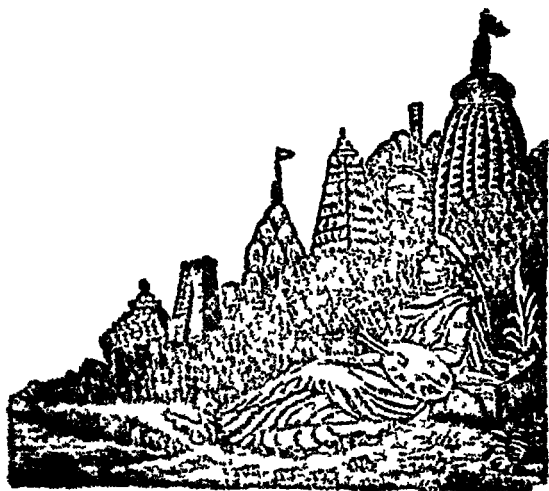
बारहवीं लहर.

विना अनुभवका तर्क।

देहेन्द्रिय गुणान् कर्माण्यमले सच्चिदात्मनिं।
अध्यस्यन्त्यविवेकेन गगने नीलिमादि वत्॥

अज्ञानी पुरुष इन्द्रियोंके जो धर्म अर्थात् अंधत्व, वधिरत्व और गमन आदि जो कर्म हैं, उनको निर्मल सच्चिनानन्द स्वरूप आत्मामे इस प्रकार अज्ञानसे आरोपण कर लेते हैं, जैसा कि निर्मल आकाशमे नीले पीले रंगको मान लेते हैं। यह केवल अज्ञान है। अर्थात् आत्मामें जन्म मरण आदि कोई धर्म नहीं हैं। ये तो देह हीके धर्म हैं।

शिष्य—हे गुरुदेव! इस देहमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। पर सव पदार्थोंका पूरा पूरा अनुभव इनसे नहीं होता। इसका क्या कारण है?

गुरु—हे शिष्य! सव पदार्थोंका अनुभव करनेके लिये पूर्ण पुरुषार्थकी आवश्यकता है। जैसे अपार समुद्रमें डुवकी मारनेसे अमूल्य मोतीकी सीप मिलती हैं, जिस प्रकार वड़े पर्वतोंकी खान खोदनेसे, मणि-माणिक्य, हीरा आदि प्राप्त होते हैं, तथा अमुक माणिक है, यह उसके प्रकाशसे पहचाना जाता है, इसी तरह तमाम पदार्थोंका पूर्ण ज्ञान अनुभवके विना प्राप्त नहीं होता है।

शिष्य–हे गुरु ! यदि कोई सब पदार्थोंका अनुभव इस मनुष्य शरीर द्वारा प्राप्त करना चाहे तो क्या प्राप्त कर सकता है ? हे दीनदयालु गुरु ! मुझे तो शङ्का होती है, कि मछलीके सिवाय समुद्रमे रहनेवाले अन्य जीव किस प्रकार श्वास लेते होंगे, और भोजन कहाँसे करते होंगे, और अथाह जलमें अपने अण्डे कहाँ रखते होगे, एवं उनके अन्य व्यवहार जलमें किस प्रकार पूरे होते होंगे। इन बातोका अनुभव मनुष्य कैसे कर सकता है ? हाँ, इतना तो अवश्य है, कि मछलीको हम नेत्रोंसे देखते हैं कि उसका जलसे घनिष्ट सम्बन्ध है। यह अनुभवसे अनुमान कर सकते हैं, परन्तु उनके आहार-व्यवहार आदिका अनुमान द्वारा अनुभव कैसे हो सकता है ?

गुरु—हे शिष्य ! तुम्हारी यह शङ्का ठीक है। ऐसी शङ्काएँ प्रत्येक प्राणीको देहकी उस बनावटमें जो हिलती डुलती हैं, उनमें होती हैं पर इन शङ्काओंका पार भी नही मिल सकता है। पागुर (जुगाली या रौंथ) करनेवाले प्राणी जैसे कि गाय, भैंस, ऊँट, बकरी प्रथम अपने खानेका पदार्थ जल्दी जल्दी खा जाते हैं, फिर जो जो ग्रास क्रमसे उनके पेटमें गया है, वही ग्रास अनुक्रमसे पेटमेंसे अपने मुखमें लाते हैं और उसे चबाकर एक रसकर फिर पेटमे डालते हैं। दूसरा फिर मुखमे लाते हैं। इस प्रकार सब ग्रासोंको जुगाली करते हैं। ऐसी ही बातें अनन्त प्राणियोंमें अनन्त प्रकारकी देखी जाती हैं। सभी आश्चर्यप्रद हैं। जो क्रियाएँ मनुष्यको सीखनेसे भी नहीं आ सकती हैं,

वे क्रियाएँ, वे शक्तियाँ, अनेक प्राणियोंको प्राकृतिक रूपसे प्राप्त रहती हैं, उनको जानने, अनुभव करने वा उसी प्रकार क्रीडा करनेकी मनुष्यमें शक्ति नही है। इस कारण इसका इतना ही उत्तर देता हूं, कि यदि कोई मनुष्य पूर्व जन्ममें मत्स्य शरीर वाला हो और पर जन्म, मनुष्य जन्म पावे तो पूर्व जन्मके जलके आहार-विहारका संस्कार होनेके कारण, उसका मनुष्य शरीरमें भी कुछ अनुभव रह सकता है। नहीं तो सब कल्पनाएँ झूठी जान पड़ेंगी, विना अनुभवका तर्क किस प्रकार झूठा पड़ता है, इसपर एक वात कहता हूं सुन।

एक जन्मांध मनुष्य वृद्ध अवस्थाको प्राप्त हो, अपने घरके चौकमें वैठा हुआ था। उसके समीप ही एक व्राह्मणका घर था। उस घरमें रहनेवाली एक स्त्री अपने वालकको हिलाती डुलाती पुचकारती थी। परन्तु वालक तव भी रोता था। वालकके रोनेका शब्द सुनकर उस वृद्ध अन्धेने उस स्त्रीसे पूछा—यह वालक क्यों रोता है?

व्राह्मणी—काका! इस वालकको दूध पिलाती हूं। इससे रोता है।

अन्धा पुरुष—क्यों पिलाती है?

व्राह्मणी—(हँसकर) अरे! काका तुम इतना भी नहीं जानते?

अन्धा—मैं क्या जानूं कि पिलाना किसे कहते हैं।

व्राह्मणी—आप जव वालक थे तव आपकी मातुश्री आपको किस तरह पिलाती थी, वैसे ही मैं इसको पिलाती हूँ।

अन्धा—(थोड़ी देर विचार कर) बेटी! मुझे तो उस ——— की बात याद आती नहीं, अब तू मुझे समझा दे।

ब्राह्मणी—तुम तो बूढे हुए तो भी ऐसे अनजान हो?

अन्धा—परमेश्वरकी कसम, मैं कुछ भी नहीं जानता।

ब्राह्मणी—स्त्रियोंके जो स्तन होते हैं, उनमें परमेश्वर बालकके लिये दूधको भरता है। वही दूध बच्चा चूसता है। इसी दूधसे उसका पेट भरता है।

अन्धा—हाँ हाँ, अब समझ गया, तब तो दूध पीते पीते रोता है, ठीक ठीक।

ब्राह्मणी—हाँ, काका, ऐसा ही है।

अन्धा—अहाहा! यह दूध कैसा होता होगा, जिससे बालक रोता है।

ब्राह्मणी—अरे राम राम! क्या तुमने दूध भी नहीं देखा क्या?

अन्धा—नहीं, बेटी! मैं तो जन्मका अन्धा हूं, इससे दूध कैसा होता है, इसकी मुझे क्या ख़बर!

ब्राह्मणी—काकाजी! दूध तो बगुलाके पङ्कके समान सफेद होता है।

अन्धा—यह क्या! तो बगुला कैसा होता है?

ब्राह्मणी—(अपना हाथ टेढ़ा करके बतलाती है) देखो काका! बगुला इस प्रकार टेढ़ी गर्दनवाला होता है!

अन्धा—(टेढ़े हाथपर हाथ फेरकर) अरे राम राम!

इतना टेढ़ा और मोटा बगला जैसा दूध, छोटे बच्चे के मुंहमें और गलेमें किस प्रकार उतरेगा ! जा जा मूर्ख ! तब ही तो छोकरा रोता है। खबरदार बच्चेको अब कभी ऐसा कष्ट नहीं देना, नहीं तो छोकरा मर जायगा—समझी कि नहीं ?

इस प्रकार अंधेने उस स्त्रीको उत्तर दिया। अंधेको जो अनुभव मिला था और उस अनुभवसे अंधेको जो तर्क हुआ—उस तर्कके साथ उसकी बाते सुनकर वह स्त्री खिल खिलाकर हँस पड़ी।

इसी प्रकार एक बार सात अन्धे आदमी एक दूसरेका हाथ पकड़कर पंक्तिबद्ध चले जा रहे थे। वे जाते जाते एक नगरमें पहुँचे। उस नगरका राजा घोड़ेपर चढ़कर हवा खाने निकला था। उसने देखा कि एकदम सात अन्धोंकी टोली आ रही है। उन्हें देख, घोड़ा खड़ाकर राजाने पूछा—"आप सात अन्धे जनोंको एकत्र होनेका संयोग कहाँसे हुआ ?" उन्होंने राजाको उत्तर दिया, कि हम जन्मान्ध सातों मनुष्य दो तीन वर्षके अन्तरसे जन्मे हैं और सगे भाई हैं। पेटके निर्वाहके लिये जहाँ तहाँ फिरते हैं, हमारी दुर्दशा और कंगालीकी हालत देख कर कोई हमारी कदर कर नहीं सकता।"

राजाने पूछा—तुम क्या जानते हो ?

अन्धे—जब आवश्यकता पड़े तो हम उत्तम प्रकारकी सलाह दे सकते हैं और चाहे जैसे मनुष्य और जानवरकी परीक्षा कर सकते हैं।

अन्धोंकी बात सुनकर राजाको हँसी आई। उसे उनका

उत्तर ठीक न जान पड़ा। उसने समझा कि ये लोग अपने पेटकी गुजरके लिये चालाकी बतलाते हैं। अतः इन गरीबोंके निर्वाहके लिये एक सरकारी मकान रहनेको बतला दिया गया, और उनका भोजन और पहननेके लिये वस्त्रोंका खर्च नियत कर दिया गया। नकद रुपया कुछ नहीं दिया, और न दिया जायगा, यह भी ठहरा लिया गया। तात्पर्य यह कि सातों अन्धोंको भोजन वस्त्र और स्थानका प्रबन्ध हो गया। इससे उनको परिपूर्ण संतोष हुआ। गाँव गाँव घूमने फिरनेका बखेड़ा राजाकी कृपासे मिट गया। इस तरह रहते हुए उनको पाँच छः वर्ष बीत गये। फिर ऐसा हुआ, कि एक दिन व्यापारी दस पन्द्रह हाथी लेकर उस नगरमें आया। राजाका विचार भी दो तीन हाथी खरीदनेका था। इस कारण दरबारके सामने मैदानमें हाथी मङ्गवाये गये। राजाके यहाँ शुक्र नीति, नल और नकुल नीतिकी वर्णन की हुई, विद्या, अश्व और हाथीके गुण दोष जाननेवाले विद्वान मौजूद थे, एवं आचार्य, मन्त्री, प्रधान, आमात्य, और सभासद सभी दरबारमें उपस्थित थे। वे सब हाथियोंकी परीक्षा करनेके लिये हाथियोंके पास खड़े थे। एक तरफ राजा भी देख रहा था। इतनेमें मन्त्रीने राजा साहबके कानमे कहा कि गरीब परवर! उन सात अन्धोंको श्रीमहाराज कई वर्षसे बैठे बैठे परवरिश कर रहे हैं। इस कारण आज उनको भी हाथीकी परीक्षाके लिये बुलाया जाय तो अच्छा हो। मन्त्रीकी बात सुनकर राजाको भी यह बात याद आयी, कि यह बात ठीक है।

थोड़ी देरमे वे सातों अन्धे हाथीकी परीक्षा करनेको बुलाये गये और उनको हुक्म दिया गया, कि हमको हाथी खरीदने हैं, इसलिये तुम परीक्षा करो कि ये हाथी कैसे हैं ?

राजाका वचन सुनकर उन अन्धोंने राजाको प्रणाम कर कहा—"जो आज्ञा हो वह शिरोधार्य हैं।" फिर उनमेंसे एक अन्धा खड़ा हुआ और लकड़ीके सहारेसे चलता हुआ हाथीके पास जा पहुचा। पहुंचते ही हाथीकी सूँड उसके हाथमें आई। सूँड पकड़ कर उस पर हाथ फेरा और थोड़ी ही देरमें अपनी जगहपर जा बैठा। फिर दूसरा अंधा खड़ा हुआ और वह लकड़ीके सहारेसे चलकर हाथीके पांवके पास जाकर खड़ा हुआ और उसपर हाथ फेर कर अपनी जगहपर जा बैठा। फिर तीसरा अंधा हाथीकी पूंछ पर हाथ फेरकर अपने स्थान पर चला आया। इस प्रकार अनुक्रमसे सातों अन्धे हाथीके भिन्न भिन्न अङ्गोंपर हाथ फेर फेर कर अपनी अपनी जगहपर जाकर बैठ गये। तब राजाने उनमेंसे पहले अंधेसे पूछा—कहिये सूरदासजी! हाथीकी परीक्षा की ? अंधेने उत्तर दिया कि जी हुजूर। राजाने कहा—"कहिये हाथी कैसा है ?"

१ पहला अंधा—(राजासे) गरीबपरवर! यह हाथी तो धोंकनीके समान है, जिसके सिर पर दो छिद्र हैं। अच्छी तरह देखनेसे वह धोंकनी चमड़ेकी सी जान पड़ती है।

२ दूसरा अंधा—अजी गरीबपरवर! इसने जो परीक्षा की, वह बिलकुल झूठी है, हाथी तो खम्भके समान है।

३ तीसरा अंधा—नहीं नहीं, हाथी तो मोटी रस्सी जैसा है।

४—अन्धा—अजी मिहरवान! इन तीनोंकी परीक्षा ठीक नहीं। मैं ठीक अनुभवसे कहता हूं, कि हाथी तो खूँटीके सदृश है। (दाँत बतलाये)

५—पांचवां—(माथा हिलाकर) अरे राम राम। ये सब व्यर्थ ही झूठ बक रहे हैं। मैंने अच्छी तरह अनुभव किया हैं कि हाथी सूप जैसा है। (कान बतलाये)

६—छठा अंधा—(राजा प्रति) अजी सरकार! ये सब बकवाद करते हैं। मेरी बातपर विश्वास कीजिये—हाथी पहाड़ी टीलेके समान है।

७—सातवां अन्धा—अजी महाराज! ये सब चाहे कुछ भी बकते रहें पर मुझे तो हाथी, दीवार जैसा मालूम हुआ।

प्रत्येक अंधेके अनुभवमें फेर फार पड़नेसे उन अंधोंमें परस्पर टण्टा होने लगा। मन ही मन एक दूसरे पर गुर्राता और एक दूसरेके सामने विचित्र नेत्रों द्वारा माथा हिला हिलाकर लकड़ी उठाने लगा। इस तरह वे मार पीटको तैयार हो गये। एक दूसरेपर लकड़ीका प्रहार होने लगा। इस प्रकार हाथीकी परीक्षाका अंधोमें झगड़ा होता हुआ देख राजाको और सभासदों को अत्यन्त हंसी आई और सब लोग उन अंधोंके कृत्य देख पेट पकड़ पकड कर हँसने लगे।

राजा मर्मज्ञ, चतुर, विद्या-कला-कुशल और न्यायी था, इस कारण उसने अंधोंको आश्वासन देकर उनके झगड़ेका

समाधान कर जो हाथी खरीदने थे, वह अपनी और मन्त्री आदिकी परीक्षा और सम्मतिसे खरीदे।

हे शिष्य, इसी प्रकार ईश्वरके रूपके विषयमें मीमांसक सांख्य, न्याय, वैशेषिक, कणाद, पातञ्जलि इत्यादि छओं शास्त्रोंके जुदे जुदे मत हैं। वे सब ऊपर कहे हुए उदाहरणके सदृश हैं, परन्तु उन सबका मिल कर जो सार है, वही ईश्वर हैं परन्तु केवल एक एक अङ्गको जानकर एक दूसरेसे वादानुवाद करते रहते हैं। जैसे इन सात अंधोंने जो हाथीका एक एक अंग टटोला था और उसीपर टण्टा कर रहे थे, उन सबका जुदा जुदा अभिप्राय अर्थात् हाथीकी सूंड, पेट, पैर, पूंछ, कान इत्यादि ये सब अंग मिलकर ही तो हाथी कहा जाता है, परन्तु ज्ञानरूपी नेत्रोंसे वह स्वरूप अनुक्रमसे मिलाया जाय तो एक स्वरूप कल्पित हो सकता हैं, और जब तक ज्ञानरूपी नेत्र नहीं तबतक विना अनुभवका तर्क उपयोगमें नहीं आ सकता है।

इस दृष्टांतमें जन्म अन्धरूपी अज्ञान समझाया हैं और सङ्कल्प विकल्प रूपी भ्रममें ये सात पुरुष गिनाये हैं। उन सात अंध पुरुषोंके जो जुदे जुदे मत हैं वे विना अनुभवके तर्क हैं, और जो हाथी है, वह वस्तु निर्णयका पदार्थ है। आज्ञा करने वाला राजा है, उस अनुभव द्वारा बतानेवाला परीक्षक है।

हे शिष्य! अन्धकारमें नेत्र इन्द्रियसे देखनेपर रस्सी सर्प मालूम हो सकती है। जब उजाला होता है तब ही ज्ञानद्वारा

उस भ्रमको दूरकर और शङ्काको निर्मूल कर देते हैं। इस कारण विना अनुभवका अप्रमाण सङ्कल्प वा तर्क मनको शान्त नहीं कर सकता है।

तेरहवीं लहर.

——:०:——

तत्वज्ञानी और कर्मनिष्ठ तपस्वीकी परीक्षा ।

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्व बोधेन मोक्षः सिद्धति नान्यथा ॥

न योगसे, न सांख्यसे, न कर्मसे, न अन्य विद्यासे मोक्ष हो सकती है, बल्कि मोक्ष तो ब्रह्मात्मैक बोधसे ही होती है।

शिष्य—हे गुरु! जो तत्वज्ञानी अर्थात् ब्रह्म विद्यामें कुशल हैं, उनमें और जो कर्मनिष्ठ अर्थात् कर्मोपचार तथा अष्टांग योग साधन कर प्राणोंको रोक समाधि द्वारा चित्तको एकाग्र कर सका है, ऐसा तपस्वी पुरुष जो है, उसमें और ब्रह्मचारीमें क्या अन्तर है?

गुरु—हे शिष्य! जो ब्रह्म विद्याको जानता है, वह विवेक ज्ञान द्वारा मनको स्थिर रखता है, और जो योगका अभ्यास कर मनको स्थिर और प्राणका निरोध और समाधि द्वारा मनको संकल्प विकल्प रहित करता है, उसमें अन्तर है; क्योंकि जब समाधि भङ्ग हो जाती है, तब उसके मनका व्यापार जैसा चलता था, वैसा ही चलता है। इस कारण ऐसे कर्मनिष्ठ तपस्वीसे ब्रह्मविद्या जाननेवाला श्रेष्ठ कहलाता है?

शिष्य—हे महाराज! ब्रह्म-विद्या जाननेवालेकी स्थिति कैसी होती है?

गुरु—हे भाई! उनकी स्थिति अवर्णनीय है। वे पूर्ण ज्ञानी होते हैं। ज्ञानीका लक्षण सुनो। इसीको मुनि भी कहते हैं।

ज्ञानी पुरुष सदाचारी होता है, यथार्थ ज्ञान देनेवाला होता है, वेदके सत्य अर्थको जाननेवाला होता है, वह ब्रह्मवेत्ता, देह, घर, पुत्र, धन इत्यादि विषयोंमें आसक्त नहीं होता है। वैसे ही, हर्ष और शोक तथा रागद्वेषसे रहित होता है, इसके सिवा, लोक ईषणा, वित्त ईषणा और पुत्र ईषणा आदि सब कामनाओंसे रहित होता है। वैराग्यवान् थोड़ा बोलनेवाला, ज्ञान से भरपूर, जितेन्द्रिय, वर्णाश्रमके अभिमान रहित, आत्मानन्दमें मग्न, अनाचार और दुष्ट कम जिससे स्वप्नमें भी न हो, दण्ड; शिखा, यज्ञोपवीत आदि सांकेतिक कल्पित चिन्ह रहित, मस्तकी तरह स्वतन्त्र विचरनेवाला, ब्रह्म और मायाको भिन्न भिन्न पह-चाननेवाला, सच बोलनेवाला और समदर्शी आदि लक्षण ब्रह्म विद्या जाननेवालोंके होते हैं। हे शिष्य! इस प्रकारके लक्षण उन वसिष्ठ मुनिमें थे, जिन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको उत्तम ज्ञानका उपदेश दिया था। भगवानने गीताके दूसरे अध्यायके ५६ वें श्लोकमें लक्षण इस प्रकार बताया है।

> दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगत स्पृहः।
> वीतराग भय क्रोधः स्थित धीर्मुनि रुच्यते॥ २।५६॥

आध्यात्मिक दुःख, आधिभौतिक दुःख, आधिदैविक दुःख ये तीन प्रकारके दुःख होते हैं। उनमें शोक मोहादिक आधियोंसे उत्पन्न जो दुःख हैं तथा ज्वर शूल आदि व्याधियोंसे उत्पन्न जो

दुःख हैं, उनको आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। व्याघ्र सर्पादिकोंसे उत्पन्न जो दुःख हैं, उनको आधिभौतिक दुःख कहते हैं। अति वायु, अति वृष्टि, अग्नि, आदिकोंसे उत्पन्न जो दुःख हैं, उनको आधिदैविक दुःख कहते हैं। ये सब दुःख रजोगुणका परिणामरूप तथा संतापरूप अन्तःकरणकी वृत्ति-विशेष द्वारा होते हैं तथा पाप कर्मरूप प्रारब्ध द्वारा प्राप्त होते हैं। ऐसे दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर भी जो नहीं घबड़ाये, जिसके मनमें उद्वेग नहीं हो, वही अनुद्विग्नमना है। और जो अविवेकी पुरुष हैं, उसको तो उस दुःखकी प्राप्तिके समय बड़ा उद्वेग और परिताप होता है। इस प्रकारका अनुताप भ्रान्तिरूप तमोगुणकी वृत्ति है। इसे उद्वेग कहते हैं। यह उद्वेग यदि पाप करते समय पापियोंको उत्पन्न हो, तब तो कार्य सफल भी हो जावे, परन्तु जब पाप-कर्मका फल मिलने लगता है, तब यह उद्वेग किस कामका? अर्थात् यह उसी तरह निष्फल होता है, जिस तरह आग लगनेपर उसको शान्त करनेके लिये कूप खोदना। क्योंकि पापरूप कारणके विद्यमान होनेसे दुःखरूप कार्य अवश्य उत्पन्न होता है। उस समय उद्वेगमात्रसे उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। उस दुःखका पापरूप कारण विद्यमान होनेपर भी लोग कहते हैं, कि हमको दुःख क्यों होता है। इस अविवेकका नाम ही भ्रम है। इस कारण भ्रमरूप अविवेक स्थितप्रज्ञ पुरुषमें नहीं होता। उस विद्वान पुरुषका शरीर भी पुण्य पाप कर्मोंसे बना हुआ है, इससे वह प्रारब्ध प्राप्तकर्म उस विद्वान पुरुषको

केवल दुःख देते हैं, परन्तु दुःख प्राप्तिके उत्तर उसे भ्रम नहीं होता, कारण कि उस भ्रमका उपादान कारण जो अज्ञान है, वह उस स्थितप्रज्ञका नाश हो गया है। इस कारण अविवेकरूप भ्रमका होना उसमें सम्भव नहीं है। तथा उस विद्वान पुरुषमें उस भ्रमके कारण उत्पन्न हुए दुःखकी प्राप्ति करनेवाले प्रारब्ध कर्म भी नहीं हैं, केवल शरीर यात्रा निर्वाहमात्र करनेवाले, प्रारब्ध कर्मोंका फल है, जो अवश्य भोगना ही पड़ेगा। उस विद्वानको जैसे दुःखोंकी प्राप्तिमें उद्वेग नहीं होता है, वैसे ही सुखोंकी प्राप्तिमें भी स्पृहा नहीं होती है। सतोगुणका परिणामरूप अन्त.करणकी प्रीति वृत्तिका नाम सुख है। वह सुख भी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीन प्रकारका हैं। उसमेंसे प्रिय वस्तुके ध्यान तथा पांडित्यादिके अभिमानसे जो सुख होता है, वह आध्यात्मिक सुख है। स्त्री पुत्र पित्रादिकोंसे जो सुख मिलता है, वह आधिभौतिक सुख है और मन्द मन्द पवन, वृष्टि आदिकोंसे प्राप्त सुख आधिदैविक सुख है। गीताके अठारहवें अध्यायमें सात्विक, राजस और तामस तीन प्रकारका सुख कहा हैं। अन्य शास्त्रोंमें वैषयिक, प्राभिमानिक, मानोरथिक और आभ्यासिक—इन चार प्रकारके सुख बताये हैं। उनमें विषयोंके सम्बन्धसे जो सुख होता है, वह वैषयिक सुख है और राज्य, पाण्डित्यादिकोंके अभिमानका प्राभिमानिक सुख है और प्रिय विषयोंके ध्यान करनेसे जो सुख होता है, वह मानोरथिक सुख

है और सूर्यादिको नमस्कार करनेसे जो सुख होता हैं वह आभ्यासिक सुख है। इस प्रकारसे अनेक प्रकारके सुखोंके संकेतके लिये सुखेषु यह बहुवचन कथन किया है। यह सभी सुख पुण्य कर्मरूप प्रारब्धसे प्राप्त होते हैं। इन सब सुखोंमें उस विद्वान पुरुषकी स्पृहा नही होती है।

इस सुखके अनुभवके समयमें, उसके सजातीय दूसरे सुखकी प्राप्ति करनेवाला जो धर्म है, उस धर्मका अनुष्ठान बिना किये, उस सुखकी प्राप्तिकी आकांक्षारूप जो अन्तःकरणकी तामसी वृत्ति विशेष है, उसका नाम स्पृहा है। वह स्पृहा भी भ्रान्तिरूप है। ऐसी भ्रान्तिरूप स्पृहा ज्ञानी पुरुषोंमे नहीं होती। अर्थात् पापका कारण होते हुए भी हमको दुःख न हो, ऐसी आकांक्षा रूप उद्वेग तथा पुण्य कर्मका कारण होते हुए भी, हमको सुख प्राप्त हो ऐसी व्यर्थ आकांक्षा उस विवेकी पुरुषमें नहीं होती। प्रारब्धके पुण्य कर्म, उसको सुख दिलानेपर स्पृहाको उत्पन्न नहीं करते। हर्षरूप अन्तःकरणकी वृत्तिका नाम स्पृहा है। मेरे समान तीनों लोकमे किसीको सुख नहीं—यह सुख सदा ऐसा ही रहे। इस तामसी वृत्तिका नाम हर्ष है। यह भी भ्रान्ति ही है। 'न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्' फिर वह ज्ञानी कैसा है, कि जिसके राग, भय और क्रोध निवृत्त हो गये हैं? राग—यह विषय बड़ा सुन्दर है। वीरंजनरूप अन्तःकरणकी वृत्ति जिसको अत्यन्त अभिनिवेश कहते हैं, इसीका नाम राग है। उस रागके नाश करनेवाले किसी कारणको

दूर करनेमें अपनेको असमर्थ मानकर उस पुरुषमे जो दीनता वृत्ति उत्पन्न हो जाती है, उसका नाम भय है और उस भयके कारणको दूर करनेमें अपनेको असमर्थ माननेवाले पुरुषके मनमें जो ईर्षा है, उसका नाम क्रोध है। ये राग, भय, क्रोध तीनों ही भ्रमरूप हैं। ये जिसके निवृत्त हो गये हैं, उनका नाम ही वीतराग भय क्रोध है। इस प्रकारका मननशील संन्यासी स्थित प्रज्ञ कहा जाता है। ऐसा पुरुष अपने शिष्योंके प्रति शिक्षा देनेमें उद्वेग रहित, तथा स्पृहा-रहित तथा राग-भय और क्रोधसे रहित वचनोंको ही कथन करता है और कहता है कि मेरी तरह दूसरे मुमुक्षु भी दुःखोंमें उद्वेग न करें तथा सुखोंमें स्पृहा न करें और राग भय क्रोधसे रहित होवें।

शिष्य—हे गुरु! ब्रह्मका स्वरूप कैसा होता है और ब्रह्म-विद्या किसे मिलती है?

गुरु—हे भाई! जिससे ब्रह्मका साक्षात् अनुभव होता है, उसे ब्रह्मविद्या कहते हैं। अर्थात् जीव, ईश्वर और प्रकृतिके जो गुण हैं, उनको परिपूर्ण रीतिसे जाननेवाला अथवा इन तीनों स्वरूपोंका बोध करनेवाला ब्रह्म विद्याका जाननेवाला है। हे शिष्य! तू कहता है कि ब्रह्मका स्वरूप कैसा है? उसका विस्तार तो बहुत है पर मैं तुझसे संक्षेपमें कहता हूं कि—ब्रह्म आकाशसे भी निर्मल है, पर यदि उसे देखना चाहें तो आकाशके समान पोला नहीं है, उसमें पाँच भूतोंका रूप भी नहीं है। वह ब्रह्म अनहद और अपार है। जिस जगतको तू दृष्टिसे देखता

है, ऐसे अनेक जगत और बड़े बड़े विस्तारवाले ग्रह—बड़े बड़े अनन्तग्रह जो अधर ठहरे हुए हैं, उन सबमें तथा एक एक पदार्थ मे तथा आकाशमें सर्व स्थलमे एक रस अखण्ड ब्रह्म व्याप्त है। कोई भी स्थान ब्रह्मसे खाली नहीं। हे शिष्य! जलमे निवास करनेवाले जीवोंसे जैसे जल भरपूर है, वैसे ही जीवोंमें भी जल है। उसी प्रकार प्राणीमात्रमें भीतर और बाहर ब्रह्मका निवास है। ब्रह्म आकाशके समान शून्य नहीं है, न उसके टुकड़े हो सकते हैं, वह तो अखण्ड और एक रस है। जिसमें अहं-पन है, वह ब्रह्मको जानता नहीं। अहंकारीको पाँच प्रकारके विषयोका भास होता है। आकाशमें जैसे जैसे आप चलिये, तैसे तैसे आकाश ही आता है। उसी प्रकार ब्रह्मका अन्त नहीं है, वह ब्रह्म सब शरीरोंमें, तथा मन और बुद्धिमें, भीतर और बाहर सर्वत्र व्याप्त हैं। परन्तु सबकी नजर दृश्य पदार्थोंके ऊपर हैं, ब्रह्मकी ओर नही। जैसे सोते हुएको स्वप्न आता है। परन्तु जब जाग्रत होता हैं, तब स्वप्न भी नहीं और निद्रा भी नहीं होती। उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष सत्य स्वरूपको समझकर सदा जाग्रत ही रहते हैं।

हे भाई! वह अखण्ड ब्रह्म ब्रह्माण्डमें ही मिला हुआ है और वह सब पदार्थोंमें व्याप्त है। इस कारण वह सबमें अंशरूप से फैला हुआ है—ब्रह्ममें सृष्टि दीखती है और सृष्टिमें ब्रह्मका भी मुझे दर्शन होता है। उसका जब अनुभव लिया जाता है, तब वह अनुभव अंशमात्र है, ऐसा ही माना जाता है। हे शिष्य!

तुझसे संक्षेपमें ब्रह्मका स्वरूप कहा है। उस स्वरूपको तथा ब्रह्म-विद्याको जाननेवाले वसिष्ठ जैसे महात्मा थे और ब्रह्म ज्ञानी थे।

शिष्य—हे प्रभु! तब तो ब्रह्माके जाननेवाले ब्रह्मज्ञानी और कर्म निष्ठ तपस्वीके बीच बहुत अन्तर होना चाहिये?

गुरु—हाँ, यह बात ठीक है। जब ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है, तब कर्मोपासन तथा तप वृत्तिका नाश (त्याग) हो जाता है। इस विषयपर एक दृष्टान्त कहता हूं, उसे सुन।

पूर्वकालमें चन्द्रवंशी राजा पुरूरवाके कुलमें गाधि राजाके पुत्र महात्मा विश्वामित्र हुए। वे कान्य कुब्ज (कन्नौज) में राज्य करते थे, वे परम तेजस्वी, महा पराक्रमी और धार्मिक थे। उन्होंने धनुर्विद्यामें उत्तम अभ्यास किया था, और ऋचिक ऋषिसे उत्तम शास्त्रोंका अध्ययन किया था। उन्होंने अपने बाहुबल और पराक्रमसे राज्यका बहुत विस्तार किया था। कई एक अच्छे अच्छे राजा उनको कर देते थे और स्वामी मान कर उनकी आज्ञा पालन करते थे। विश्वामित्रकी सेनाकी व्यवस्था बहुत अच्छी थी। उनकी राजसभाका मन्त्री मण्डल विद्वान और दूरदर्शी था। उनकी राजसभामें चतुर, सूक्ष्म वेत्ता और बुद्धिमान सलाहकार थे।

एक समय महा तेजस्वी राजा विश्वामित्र अपनी सब सेना लेकर मृगयाके लिये निकले अनायास वह महात्मा वसिष्ठजीके आश्रममें आ पहुँचे। वसिष्ठ ऋषिने उनका

बड़ा सत्कार किया। यद्यपि विश्वामित्रके साथमें बहुत सेना थी, परन्तु वसिष्ठजीके पास एक नन्दिनी नामक कामधेनु थी। उसकी कृपासे उन्होंने मनमाने पदार्थ प्राप्त कर परिपूर्ण रीतिसे विश्वामित्रजीका ससैन्य आतिथ्य किया। यह देख विश्वामित्रजीको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने गुप्त रीतिसे पता लगाया तो मालूम हुआ, कि यह सब वैभव नन्दिनी नामकी कामदुहा गायके प्रतापसे है। यह हाल सुनकर विश्वामित्रने नन्दिनी गाय लेनेकी इच्छा प्रगट की। राजा विश्वामित्रने वसिष्ठजीसे कहा कि हे मुनीश्वर! मैं आपको एक लाख गायें दे सकता हूं, परन्तु उनके बदले इस नन्दिनीको मेरे पास रहने दीजिये। ऐसी गाय तो मुझ जैसे राजाके यहाँ ही रहने योग्य है। ऐसी गायका हमारे यहाँ सर्वदा उपयोग पड़ सकता है। आप एकान्त अरण्यमें निवास करनेवाले हैं, इस कारण यह गाय आपके पास रहने योग्य नहीं। अतः कृपाकर यह नन्दिनी गाय मुझे दीजिये।"

विश्वामित्रका वचन सुनकर वसिष्ठजीने कहा—"हे राजन्! मैं अरण्यमें निवास करनेवाला हूँ, मुझे द्रव्यकी अथवा दूसरी वस्तुकी इच्छा ही नहीं और आप जो लाख गायें देना विचारते हैं, सो भला सबकी रक्षाका भार अकेला मैं कैसे ले सकता हूं? मुझसे केवल एक ही गाय सम्हल सकती है, इसकी सेवा और परमात्माका ध्यान कर समय बिताता हूं। इस कारण हे राजन्! मेरे पास यह एक ही गाय है। आप राजा हैं। आपको

किस चीजकी कमी है? जो कुछ साधन चाहिये, वह सब आपके पास मौजूद ही है। इस कारण लोभको त्याग कर सन्तोषके ऊपर ध्यान दीजिये।"

विश्वामित्रने कहा—"हे मुनि! चाहे कुछ भी हो, पर इस नन्दिनी गायको ले जानेकी मेरी द्रढ़ इच्छा हुई है। यदि आप न देवेंगे तो हम जवर्दस्ती ले जायेंगे।"

वसिष्ठजीने कहा—"आप जवर्दस्ती भले ही ले जायें। परन्तु मैं इसे देना नहीं चाहता हूँ। साथ ही दूसरेकी चीज वलात्कारसे लेना यह राजाका धर्म भी नहीं है। यदि आप अधर्म करेंगे तो इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा।"

यद्यपि वसिष्ठने उचित वात कही; पर उसकी कुछ भी पर्वाह न कर विश्वामित्रने काम दुधा नन्दिनीको ले जाना ही निश्चय किया। ये वातें सुनते ही नन्दिनीके शरीरके रोंगटे खड़े हो गये, और प्रत्येक रोंगटेमेंसे शस्त्र अस्त्र कवचवंध भयङ्कर स्वरूपवाले हजारों मनुष्य मार मार करते, क्षणमात्रमें प्रकट हो गये। वे सब एकत्र होकर विश्वामित्रकी सेनाके साथ दारुण युद्ध करने लगे। उन्होंने विश्वामित्रकी सारी सेना कतल कर डाली, तव तो नन्दिनी गायको वहीं छोड़कर भयसे व्याकुल, कष्टको प्राप्त, विश्वामित्र उदास मुखसे अपने राज्यमें चले गये। काम दुधा नन्दिनी गायकी उस कृत्रिम सेना द्वारा वसिष्ठको पूर्ण विजय प्राप्त हुई।

थोड़े दिन पीछे चतुरङ्गिनी सेना तैयार कर विश्वामित्रने

अपने सौपुत्र वसिष्ठ मुनिके आश्रममे खुले मैदान गायका हरण करनेके लिये भेजे। अन्तमें उन पुत्र और सैनिकोंमेंसे कोई भी जीवित नहीं वचा। सब मारे गये।

यह सुनकर विश्वामित्र बड़े शोकातुर हुए। आखिर उन्होंने निश्चय किया—अहोहो! ब्रह्मत्वका वल इतना बड़ा है! चाहे कोई राजा भले ही चक्रवर्ती हो और अपार सेना और वाहुवल वाला हो तो भी जो सत्ता ब्रह्मत्वमें रहती है, वह सत्ता दूसरे किसीमे नही रहती। अतः ब्रह्मतेजके आगे सब मिथ्या है। अतएव यह सत्ता और ब्रह्मत्व मुझे किस तरह प्राप्त होगा? इस प्रकार वारम्वार विचार करने लगे।

इधर तो ब्रह्मत्व प्राप्त करनेकी और उधर वसिष्ठ मुनिसे वदला लेनेकी प्रवल इच्छा विश्वामित्रके हृदयमें जागरित हुई। वे राज त्याग कर हिमालय पर्वतपर जाकर तप करने लगे। इसके वाद विश्वामित्रने वसिष्ठजीसे वैरका वदला चुका लेनेका निश्चय किया और अस्त्र शस्त्र लेकर वसिष्ठके आश्रममें जा पहुंचे। महात्मा वसिष्ठजीने विश्वामित्रके दुष्ट विचार अपने योगबलसे जान लिये थे। इस कारण ज्यों ही विश्वामित्र उनसे मिलनेको आये; त्यों ही वसिष्ठ मुनि अपने हाथमें ब्रह्मदण्ड धारण कर उनके सम्मुख खड़े हो गये। विश्वामित्र वसिष्ठजीके ऊपर वार-म्वार अस्त्र शस्त्र चलाने लगे, पर वसिष्ठजी अपना विशाल स्वरूप धारणकर सब शस्त्रोंका प्रहार सहन कर गये और कुछ भी व्यथित न हुए। यह चमत्कार देखकर विश्वामित्रको भय हुआ

और वे वहाँसे तुरन्त चले गये। वसिष्ठ ऋषिमें ब्रह्मत्वकी सत्ता कैसी है, उसका यह दूसरी वार विश्वामित्रको निश्चय हुआ। इस कारण ब्रह्म शक्ति प्राप्त करनेके लिये वे फिर तप करनेको अरण्य में चले गये और उग्र तप आरम्भ किया। विश्वामित्रके उग्र तपसे इन्द्रको बड़ी चिन्ता होने लगी। इस कारण उनका तप भङ्ग करनेके लिये उन्होंने मेनका नामकी एक अप्सराको विश्वामित्र के आश्रमको ओर भेजा। यद्यपि विश्वामित्र वड़े तपस्वी थे पर मेनकाको १० वर्ष तक उन्होंने साथ रक्खा और उनके सहवास-से मेनकाको शकुन्तला नामक पुत्रीका जन्म हुआ। मेनका शकुन्तलाको अरण्यमें छोड़कर इन्द्रलोकको चली गई। इधर कण्व मुनि स्नान कर आ रहे थे, उन्होंने पक्षीके परोंसे रक्षित कन्याको देखा तो उसे गोदमें उठाकर आश्रममें ले गये और उसे पाला। इसीसे वह कण्व मुनिकी बेटी कही गई। फिर राजा दुष्यन्तके साथ उसका गन्धर्व विवाह हुआ। उससे भरत नामक पुत्र उत्पन्न हुआ इत्यादि। मेनका जब स्वर्गको चली गई तब विश्वामित्रको फिर चैतन्य हुआ। वे फिर घोर तपस्यामें लगे। कितनी ही मुद्दत पीछे इन्द्रने रम्भा नामकी अप्सरा तप भङ्ग करनेके लिये फिर भेजी, परन्तु इस समय राजा विश्वामित्र विल्कुल मोहमें न पड़े और तपमें लीन रहे। अन्तमें तपकी सिद्धिके समय ब्रह्मादि देव और इन्द्रादि देवने उनके पास आकर कहा—हे महा तपस्वी राजन् विश्वामित्र! आपके तपसे हम सन्तुष्ट हुए हैं।

आपके तपसे तीनों लोक विस्मित हैं। इस कारण जो कुछ इच्छा हो, वह वर मांगो। विश्वामित्रने कहा—मुझे ब्रह्मत्व प्राप्तिकी इच्छा है, सो पूर्ण कीजिये। देवताओंने कहा—हे राजन् तुमको ब्रह्मत्व प्राप्त होगा, अवश्य; परन्तु वसिष्ठादि महान् महर्षि आपको अपनी श्रेणीमें जब गिनेंगे तब? इतना कहकर देवता तो अन्तर्द्धान हो गये। विश्वामित्रजी तप समाप्त कर घर आये, और ऐसा प्रयत्न करने लगे, कि जिससे वसिष्ठ मुनि उन्हें ब्रह्मर्षि कहने लगें। वसिष्ठ ऋषि सूर्यवंशी इक्ष्वाकु कुलके राजाओंके राजगुरु थे। वे उनकी राजसभामें बैठते थे और उस समय और भी अनेक महर्षि वसिष्ठजीके समीप बैठते थे। इस कारण वह राजसभा, ब्रह्म-सभा जैसी जान पड़ती थी। उस समय विश्वामित्र अस्त्र शस्त्र धारण कर अपनेको ब्रह्मर्षि कहलवानेके लिये उस सभामें आ गये। विश्वामित्रको देखते ही सब सभासद खड़े हो गये और सन्मानके साथ उनको आसनपर बिठाया। पर वसिष्ठ विश्वामित्रको देखकर खड़े न हुए। क्योंकि वे सत्यवक्ता और न्यायी तथा समदर्शी थे। इस कारण वसिष्ठ ऋषिने अपने आसनपर बैठे बैठे विश्वामित्रजीसे कहा—"आइये राजर्षि!" यह सुन, सारी सभाने भी उसी शब्दसे उनका सम्मान दिया।

ब्रह्मर्षिका सम्मान नहीं मिला। इस कारण वसिष्ठजीके ऊपर विश्वामित्र फिर बिगड़ उठे। उनके नेत्र लाल हो गये और शरीरके रोम खड़े हो गये, पर उस समय वे कुछ बोल न सके। वसिष्ठजीके साथ अतिशय द्वेष करने लगे।

एक समय ऐसा हुआ, कि सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्रके पिता त्रिशङ्कुने स्वर्ग राज्य भोगनेकी इच्छासे महायज्ञ करनेके लिये वसिष्ठजीको बुलाया था, उस समयवसिष्ठ ऋषि नहीं गये, कारण पहले त्रिशङ्कुने वसिष्ठजीका विश्वास नहीं किया था। इस कारण वसिष्ठजीका मान भङ्ग हुआ और वसिष्ठके पुत्रने त्रिशङ्कुको शाप दिया, कि तू म्लेच्छ हो जा। उसके म्लेच्छ हो जानेके कारण ही वसिष्ठजी उसके यहाँ यज्ञ करानेको नहीं गये थे। जब वसिष्ठजी यज्ञ करानेको नहीं गये, तब क्षत्रिय राजा विश्वामित्र उपाध्याय बन कर गये। क्षत्रिय उपाध्याय होनेके कारण यज्ञमे और ब्राह्मण भी नहीं गये। इस तरह यज्ञ कार्य पूर्ण नहीं हुआ। इस कारण विश्वामित्रको क्रोध आया। यज्ञका कार्य तो एक ओर रहा। विश्वामित्रजीने अपने तपोबलसे राजा त्रिशङ्कुको स्वर्गमें भेजा। यह देख इन्द्रादि देवताओंने कहा, कि यह स्वर्गका अधिकारी नहीं है। ऐसा कहकर उसे नीचे ढकेल दिया। यह देख विश्वा-मित्रने अपने तपोबलसे राजा त्रिशङ्कुको स्वर्गसे नीचे गिरता देख, आकाश और पृथिवीके बीचमें अधर लटका रक्खा, और उसे दिव्य शरीरवाला बना दिया। तबसे दक्षिण दिशाकी ओर नक्षत्ररूपसे प्रकाशित तीन तारोंके साथ आकाशमें चमकता हुआ त्रिशंकु दिखाई पड़ता है। जिसको त्रिशङ्कुका तारा कहते हैं।

वशिष्ठकी आगाध शक्तिके आगे विश्वामित्रका कुछ वश न चला। वह दूसरी बार फिर अयोध्याकी राज-सभामें गये थे, उस समय भी पूर्व क्रमानुसार वशिष्ठ मुनिने उन्हें राजर्षि कह

कर ही सम्मानित किया था। अब तक मुझे ब्रह्मर्षि नहीं कहा और ब्रह्मर्षि होनेमें यह वशिष्ठ मुनि ही बाधक है, इस कारण अब इसके कुलका ही नाश करना चाहिये। इस प्रकार विश्वामित्रके अन्त.करणमे वैर भाव उत्पन्न हुआ। फिर उसने तपोबलसे राक्षस उत्पन्न कर वशिष्ठ ऋषिके सौ पुत्रोंका नाश कराया। वशिष्ठ मुनि यह जानते थे, कि यह सब कार्य विश्वामित्रके हैं। पर महात्मा वशिष्ठ बड़े शान्त स्वभाव-वाले, रागद्वेष रहित, क्रोध शून्य और समदर्शी थे। इससे उनके मनमें विश्वामित्रके प्रति कुछ भी द्वेष नहीं था। बल्कि जो पुत्र मारे गये हैं, उनकी मृत्यु विश्वामित्र ही के हाथ (निमित्त) से होनी बदी थी, उसमें शोक क्या करना है। वशिष्ठजी ऐसा विचार कर शान्त रहते थे।

विश्वामित्रने समझा कि मैंने वशिष्ठको इतना तङ्ग किया है, अब तो हार कर वह मुझे ब्रह्मर्षि कहेगा। यह सोच कर फिर चौथी बार विश्वामित्र शस्त्र धारण कर अयोध्याको राज सभामें गये, परन्तु सत्यवादी वशिष्ठ ऋषिने उस समय भी इन्हें राजर्षि कह कर ही सम्मानित किया। तब तो विश्वामित्रको अत्यन्त क्रोध उत्पन्न हुआ, और अबकी बार उसने वशिष्ठजीको जानसे मार डालनेका विचार किया। एक बार पूर्णिमाकी रातको, चुपचाप, जिससे किसीको खबर न पड़े, इस प्रकार अस्त्र शस्त्र धारण कर राजा विश्वामित्र वशिष्ठ मुनिके आश्रमकी ओर गये, और युक्तिसे पर्ण कुटीके पीछे छिप रहे।

इस समय पर्णकुटीके द्वारके आगे मैदानमें उज्ज्वल शिला-पर वसिष्ठजी और उनकी धर्म-पत्नी अरुन्धती, दोनों बैठे हुए थे। निर्मल आकाश था, उसमें पूर्ण चन्द्रमा प्रकाशित हो रहा था। एक ओर निर्मल नदी वह रही थी। गगनभेदी पर्वत खड़े थे, उन पर्वतोंकी तलहटीमें अनेक प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंसे स्पर्श करता हुआ, शीतल मन्द सुगन्ध पवन वह रहा था। पूर्ण चन्द्रकी ज्योत्स्नासे रात्रि बड़ी रमणीय और शोभायमान हो रही थी, मानों चारों ओर शान्तिकी चादर बिछ रही थी, उस समय अरुन्धतीने वशिष्ठमुनिसे कहा, कि प्राणनाथ! आजकी रात्रि कैसी अनुपम शोभायमान है। अहाहा! चन्द्रमाका प्रकाश कैसा निर्मल दिखाई पड़ता है। हे नाथ! इस प्रकार प्रकाशमान और निर्मल तपवाला आजकल क्या कोई तपस्वी होगा?

वशिष्ठने प्रत्युत्तर दिया, कि अहाहा! इस प्रकार पूर्णचन्द्र समान निर्मल तप और किसका हो सकता है? ऐसे उग्र तपस्वी तो हम लोगोंमें केवल विश्वामित्र हैं। उनके समान दूसरा कोई तपस्वी है ही नहीं। वाह! वाह! धन्य है! उनके तपको।

दम्पतिकी परस्पर होती हुई बात सुनकर विश्वामित्रको विस्मय हुआ और उनके अन्तःकरणमें जो वैररूपी पक्षी बैठा था, वह इस तालीरूपी शब्दसे तुरन्त ही उड़ गया। उनके हृदयमें विवेकने निवास किया और अबतक उन्होंने वशिष्ठसे जो द्वेष रक्खा था, उसके लिये बड़ा पश्चात्ताप किया। विश्वामित्र दीन हो गये, और उनका वज्र समान कठोर हृदय

कोमल श्वेत कमलके समान विनम्र हो गया। वे अपने मनमें कहने लगे—अरे मैं बड़ा पापी हूं। जो परोक्षमें निष्पक्ष होकर मेरी बड़ाई कर रहे हैं, मैं उन्हींका नाश करनेको यहाँ आया हूं। इसलिये मुझे हज़ार बार धिक्कार है। हाय हाय! मैं इस ब्रह्म-हत्याके पापसे कैसे मुक्त होऊँगा। अबतककी मेरी तप की हुई समृद्धि नाश हो जाती, मैं बलात्कारसे ब्रह्मर्षि कहलानेका वृथा प्रयत्न करता था और यह मेरा अज्ञान और मिथ्याभिमान था। अरे भाई! सच्चा ब्रह्मर्षि तो एक वसिष्ठ ही है। क्योंकि मैंने उसके सौ पुत्र राक्षसोंके द्वारा मरवा डाले, मेरी इस नीचताको वे त्रिकालज्ञ होनेके कारण जानते थे, तो भी परोक्षमें मेरी प्रशंसा ही करते हैं। इसलिये उनको धन्य है। इस प्रकार विश्वामित्र बहुत पछताये और उन्होंने सारे हथियार पृथ्वीपर पटककर दासत्व और बड़े प्रेम भावसे वसिष्ठजीके पास जाकर उनके चरणोंपर मस्तक रख दिया। एकाएक यह होते हुए देख आश्चर्ययुक्त होकर वसिष्ठ मुनि बोले—अहो ब्रह्मर्षि विश्वामित्र! इस समय आप यहाँ इतनी रात्रिके समय अनायास कहाँसे आ पहुंचे?"

वसिष्ठके मुखसे ब्रह्मर्षि शब्द सुनते ही विश्वामित्रको अपार आनन्द हुआ। उनकी इच्छा फलीभूत हुई। चिरकालका प्रयास सफल हुआ। फिर विश्वामित्र बड़े नम्र शब्दोंसे बोले कि हे महाराज! मैं इस समय आपके दर्शनके लिये आया हूं। हे मुनि

श्रेष्ठ ! मैं जिज्ञासा करता हूं कि इतने समय तक तो मैं राजर्षि था पर अब ब्रह्मर्षि कैसे हुआ ?

वसिष्ठने कहा—आप आज ब्रह्मर्षि पदके योग्य हुए हैं, इसी कारण आज ब्रह्मर्षि कहे गये हैं।

आपके क्रोध और रजोगुणी स्वभावका नाश होकर सत्व-गुण, सत्यशील तथा निरभिमानत्व आदि ब्राह्मण गुणोंका इस समय आपमें प्रवेश हुआ है। आप तपके प्रभावसे महा पवित्र और साक्षात् ब्रह्मदेवके समान हुए हैं। जबतक आप रजोगुणके अनुसार रहते थे, तबतक मैं आपको राजर्षि कहता था। अब आपकी वृत्ति निर्मल हुई है इससे आप ब्रह्मर्षि हुए हैं। वसिष्ठजीकी वाणी सुनकर विश्वामित्रको पूर्ण आनन्द हुआ। राजा विश्वामित्र वसिष्ठजीको प्रणामकर और उनकी आज्ञा लेकर अपने आश्रमको गये। उस दिनसे विश्वामित्रकी प्रेम भक्ति वसिष्ठजीके प्रति बढ़ती ही गई। यद्यपि ब्रह्मर्षि अवश्य कहे गये, तथापि उनके अन्तःकरणमें कभी कभी राजसी प्रकृति-की उमङ्ग अवश्य आही जाती थी।

एक समय धर्म राज वसिष्ठ मुनिका भेष धारण कर विश्वा-मित्रके प्रेमकी परीक्षा करनेको उनके आश्रमपर अन्नकी याचना करनेको गये। विश्वामित्रने उनको देखकर उत्तम प्रकारसे सन्मान किया और अन्न सिद्ध करनेके लिये विश्वामित्र अपनी पर्ण कुटीमें गये। थोड़ी देरमें अन्न लेकर आये तो भेषधारी वसिष्ट मिले नहीं। इस कारण विश्वामित्र अन्न हाथमें लेकर वहीं

देर तक खड़े रहे, जब कपट वेषधारी वसिष्ठने आ कर अन्न प्राशन कर विश्वामित्रको ब्रह्मर्षि कहा, तब वे बैठ गये। यह देखकर सबको निश्चय हो गया, कि अब विश्वामित्रका वसिष्ठ जीसे बिलकुल ही द्वेष नहीं है।

एक समय वसिष्ठजी विश्वामित्रके आश्रममें गये। उस समय विश्वामित्रने वसिष्ठ मुनिका अच्छा सत्कार किया और दक्षिणामें वसिष्ठजीको एक हजार वर्षके तपका फल अर्पण किया। इसके बाद बहुत दिन पीछे विश्वामित्र श्रीवसिष्ठ मुनिके आश्रममें पधारे। तब वसिष्ठजीने उनको एक घड़ीके सत्सङ्गका फल अर्पण किया। यह देख, विश्वामित्रजीके मनमें विचार हुआ, कि क्या मेरे एक हजार वर्षके तपके बराबर वसिष्ठ मुनिने एक घड़ीका सत्सङ्ग समझा है? सारांश यह कि इस तरह मेरा उपहास किया है।

वसिष्ठजीने विश्वामित्रकी ओर दृष्टि कर पूछा—क्यों? किस गम्भीर विचारमें पड़ रहे हैं?

विश्वामित्र—कुछ नहीं, महाराज।

वसिष्ठ—मैं समझ गया हूं कि आपने एक घड़ीके सत्सङ्गके फलके साथ अपने हजार वर्षके तपकी तुलना की होगी।

विश्वामित्र—हाँ, वास्तवमें मैं इसी विषयपर विचार कर रहा था।

वसिष्ठ—मैं तो केवल सत्संगकी महिमा ही श्रेष्ठ मानता हूं।

विश्वा०—तो क्या कर्म और तपोबल—सत्संगकी महिमाके आगे निर्बल हैं।

वसिष्ठ—मैं विवाद नहीं करना चाहता हूं, परन्तु जो इसका रहस्य जानता है, वही कह सकेगा।

विश्वा०—आप जो कुछ कहें सो ठीक है।

वसिष्ठ—यदि आपको शङ्का है तो ब्रह्माजीके पास चलिये—वे जो कुछ इसका निर्णय करेंगे।

वसिष्ठ और विश्वामित्रजी दोनों ब्रह्माजीके पास गये, और उनसे सारा वृत्तान्त कह सुनाया। इसपर ब्रह्माजीने विचार किया कि ये दोनो समर्थ हैं। इनमेंसे सत्य बोलनेमें जिसका पक्ष गिर जायगा, उसीका पक्ष निर्बल समझना चाहिये। इस कारण इनको युक्ति पूर्वक यहाँसे टाल देना ठीक होगा। यह विचारकर ब्रह्माजीने कहा कि इस बातका यथार्थ उत्तर साक्षात् विष्णु भगवान दे सकेंगे। ब्रह्माजीका वचन सुनकर दोनों विष्णुके पास गये, पर उन्होंने भी हीरेके ऊपर पत्थर लपेटनेकी युक्ति कर उन्हें शङ्करजीके पास भेज दिया। महादेवजीने सुन कर कहा, कि पातालमें सहस्र मुखवाले शेषजी हैं, उनके पास जाइये। वे ठीक निर्णय करेंगे। यह कहकर उनके पास भेज दिया। अन्तमें वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनों शेषजीके पास गये। शेषजीने इन्हें बैठनेको आसन दिया। फिर सत्कार पूर्वक आगमनका कारण पूछा। तब विश्वामित्रजीने सहस्र वर्षके तपका और वसिष्ठजीने घड़ी भरके सत्संगके फलकी तुलना करानेकी इच्छा प्रगट की। विश्वा-

मित्रने कहा—हे शेषजी महाराज! आप ही इस बातका न्याय कीजिये, कि हजार वर्षका तप बलवान है, कि एक घड़ीके सत्संगका फल।

नागराजने कहा—महाराज! मैं आपकी आज्ञाके अधीन हूं, परन्तु जबतक तन और मन स्वच्छ और शान्त नहीं होता तबतक न्याय करनेमें चित्त नहीं लगता। देखिये चिरकालसे मेरे मस्तकपर इस पृथ्वीका भार हैं, इस अनन्त बोझके कारण मेरे मस्तकमें अत्यन्त पीड़ा हो रही है, जिसके कारण मेरा मन स्थिर नहीं है। इस कारण हे समर्थ तपस्वी विश्वामित्रजी! आप उग्र तप करनेवाले महा तपस्वी हैं, इस कारण कृपाकर अपने तपोबलसे, तपके पुण्य फलसे पृथिवीको थोड़ी देरके लिये अधर रख सकें तो मैं आपका न्याय करूँ।

शेषजीका वचन सुनकर विश्वामित्रजीने अपने तपका फल और उसका तत्वबल तेज पुंज एकत्रकर पृथिवीको ऊँची और अधर रखनेके लिये हाथमें जल लेकर उद्योग किया, परन्तु पृथिवी शेषजीके मस्तकसे बिलकुल ऊँची नहीं हुई। बड़ी देरतक बाट देखी, पर कुछ नहीं हुआ। तब विश्वामित्रजी शर्मिन्दा होकर बोले कि मैंने चिरकाल तकके उग्र तपका फल दिया तो भी पृथिवी ऊँची नहीं हुई, तो अब मेरे पास तो कुछ साधन और है नहीं।

तब शेषजीने वसिष्ठजीकी ओर दृष्टि करके कहा—हे ब्रह्मवेत्ता मुनीश्वर! आप अपने एक घड़ीके सतसंगका फल

दीजिये, जो उसका फल उग्र होगा तो मुझे इस अपार बोझसे कुछ निवृत्ति मिलेगी।

वसिष्ठजीने एक घड़ीका फल दिया कि तुरन्त ही पृथिवी शेषजीके मस्तकसे एक हाथ ऊपर अधर ठहर गई और एक घड़ी तक रही। घड़ी भर पीछे शेषजीने वह पृथिवी फिर अपने मस्तकपर धारण कर ली।

थोड़ी देर बाद विश्वामित्रजीने अपने प्रश्नका निर्णय पूछा, तब शेषजीने कहा कि आप प्रत्यक्ष देख चुके हैं, कि एक घड़ीके सत्संगके फलसे सारी पृथिवी अधर ठहर गई थी, इस कारण इसका निश्चय आप ही कर लीजिये। शेषजीके न्यायको सुनकर विश्वामित्रने नीचे दृष्टि कर ली और उसी समयसे विश्वामित्रजीके अन्तःकरणसे रजोगुणका चिह्न जाता रहा। उन्होंने निश्चय किया कि तत्वज्ञानादि ब्रह्मविद्या तथा ब्रह्मत्व श्रेष्ठ है और मैं कर्मनिष्ट होकर महा तपस्वी कहलाया हूं, ये सब वृथा है। वसिष्ठ गुरुके सहवाससे विश्वामित्र ब्रह्मविद्याको जानने वाले हुए और सदानन्दमें मग्न रहने लगे।

हे शिष्य! यद्यपि विश्वामित्र कर्मनिष्ठ और तपस्वी थे तो भी उनके अन्तःकरणमें क्रोध, ईर्षा, प्रपञ्च, कपट, निर्दयता, रागद्वेष, मनोवाञ्छा, सुख इच्छा, भोग इच्छा, अशक्ति, प्रमाद, अहंकार, ममता आदि रजोगुणका निवास था। उसीने विश्वामित्रसे वशिष्ठके सौपुत्र मरवा डाले। इस क्रोध, निर्दयता, साहस और अहंभाव उन्हें असल पदार्थतक न जाने देते थे। परन्तु थे,

वह कर्मनिष्ठ और तपस्वी। अतएव तपका पुण्य चाहे जितना हो जबतक रजोगुण और उसके तमाम विकार दूर नहीं होते, तब तक ब्रह्म विद्या संपादन नहीं हो सकती। अन्तमे विश्वामित्रको यह निश्चय हो गया, कि ब्रह्मविद्या तत्व ज्ञानादि सामर्थ्य प्राप्त करानेवाली विद्या है। यह जानकर राज त्याग कर मनकी शुद्धिके लिये तप आरम्भ किया था, और इसी पुरुषार्थ द्वारा अन्तमे उन्हें ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई।

दोहा—सात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग।
तुलेन ताही सकल मिलि, जो सुखलव सतसंग॥

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचिसत्यं।
मानोन्नतिं दिशति पाप मपाकरोति॥
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं।
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥भर्तृहरिः॥

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपिवार्ष्णेय बालादिव नियोजितः॥
॥ गीता ३।३६॥

हे भगवान्! कोई पुरुष पाप नहीं करना चाहता है, पर बलात्कारसे उसे पापकर्ममें कौन प्रयुक्त करा देता है? उत्तर इसके आगेके प्रकरणमें देखिये।

चौदहवीं लहर.

——*०*——

रजोगुण दर्शन।

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच।

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

॥ गीता ३।३७ ॥

ऐश्वर्यस्यसमग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।

वैराग्यस्याथ मोक्षस्य यत्नां भग इतीङ्गना ॥"

ऐश्वर्यादि षट्कं यस्मिन् वासुदेवे नित्यमप्रतिबन्धकत्वेन सामस्त्येन च वर्तते।

"उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामागतिंगतिम्।

वेत्ति विद्यामविद्याञ्च सवाच्यो भगवानिति।"

अविद्योद्भूतकामः सन्नथो खल्विति च श्रुतिः।

"अकामतः क्रिया काश्चित् दृश्यन्ते नेह कस्यचित्

"यद्यद्धिं कुरुते जन्तुस्तत्कामस्य चेष्टितम्।"

कामएष क्रोधएष इत्यादि वचनं स्मृतेः।

प्रवर्तको नापरोऽतः कामादन्य. प्रतीयते ॥ ३७ ॥

पूर्व पूछे हुए अर्जुनके प्रश्नको सुनकर, श्रीभगवानने कहा, काममय एवायं पुरुष. इति आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव

सो कामयत जाया मे स्यात् अथ प्रजा मे स्यात् अथ वित्तं मे स्यात्। अथ कर्म कुर्वीय इत्यादिक श्रुतियोंसे सिद्ध तथा "अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित्।" इत्यादि स्मृतियों से पुष्ट उत्तर दिया। जिनका अर्थ यह है, कि यह पुरुष काममय ही है। इस जगतकी उत्पत्तिसे पूर्व एक आत्मा ही था। उस आत्माने इस प्रकार कामना की, कि मेरेको जाया प्राप्त होवे, प्रजा प्राप्त हो और मैं कर्म करूँ। इस लोकमें कामनासे रहित पुरुषकी कोई भी क्रिया देखनेमें नहीं आती। इससे यह जीव जिस जिस कर्मको करता है, वह सब कामकी ही चेष्टा है।

हे अर्जुन! उस अनर्थ मार्गमें प्रवृत्त करनेवाला यह काम ही है। यह काम ही क्रोधरूप है। यह रजोगुणसे उत्पन्न हुआ है। इसका आहार अत्यन्त अधिक है तथा यह अति उग्र है। इससे इस संसारमें इस कामको तू वैरीरूप जान।

यह काम एक महान शत्रु है। कामका अर्थ विषयोंकी अभिलाषा। जब कोई पुरुष धनादि पदार्थोंकी इच्छा कर किसी धनी पुरुषके पास जाता है और वहाँ दुष्ट पुरुष उसकी इच्छा पूर्ण नहीं होने देता, तब उस पुरुषका इच्छारूपी काम ही उस दुष्ट पुरुषके ऊपर क्रोधरूपसे प्रकट होता है। यह सबके लिये अनुभव सिद्ध है। इससे कामका ही दूसरा रूप क्रोध है। अतएव कामरूपी महा शत्रुसे निवृत्त होनेपर पुरुषको समस्त पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होती है। अब एक बात यह है कि कारण के नाश होनेसे कार्यका नाश होता है। इस कामरूप शत्रुका

कारण क्या है? रजोगुण। (रजोगुण समुद्भवः) हे अर्जुन! दुःख प्रभृति फलरूप जो रजोगुण है, उससे यह काम उत्पन्न होता है और कारणके स्वभाववाला ही कार्य होता है। जब रजोगुण दुःखप्रद हैं, तब उसका कार्य काम स्वतः दुःखप्रद होगा ही। इसे रजोगुण समुद्भवः के बदले तमोगुण समुद्भव भी कह सकते थे। तथापि दुःख और प्रवृत्तिमें रजोगुणकी ही प्रधानता है, तमोगुणको नहीं। इसीसे यहाँ रजोगुणका समर्थन किया है। इससे भगवान्‌का तात्पर्य यह, कि सात्विक वृत्तिसे जब रजोगुणरूपी कारणकी निवृत्ति होती है, तब कामरूप कार्य अपने आप ही निवृत्त हो सकता है। अर्थात् सात्विक वृत्ति ही रजोगुणकी निवृत्ति और उस कामकी निवृत्तिका उपाय है। अथवा कामसे रजोगुण उत्पन्न होता है और उससे दुःखरूप कर्मों में मनुष्य प्रवृत्त होता है। अत. सत्वगुण धारण ही दूसरे पेंचका उपाय है अर्थात् विषयोंकी अभिलापारूप काम आप प्रगट होकर रजोगुणको प्रवृत करता हुआ इस पुरुषको दु.खरूप कर्मोंमें प्रवृत्त करता है। इस कारण अधिकारी पुरुषोंको इस कामरूप शत्रुको अवश्य जय करना चाहिये।

शत्रुके विजय करनेके साम, दाम, भेद, दण्ड ये चार उपाय हैं। उनमें प्रथम तीन उपायोंसे कामरूप शत्रु नहीं जीता जाता है। क्योंकि वह (महाशनो-महा पाप है) महा आहारवाला है, जितना खिलाओ, उतनी ही उसकी भूख बढ़ती है। कभी

तृप्त नहीं होता है। स्मृतिमे भी कहा है—न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्ण वर्त्मेव भूय एवाभि वर्द्धते ॥ १ ॥ यत्पृथिव्यां व्रीहियव हिरण्यं पशवः स्त्रियः। नालमेकस्य तत्सर्वं मिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥ यह काम पदार्थोंके भोगसे कभी शान्त नहीं होता है, बल्कि जिस तरह घृत और समिधादिके योगसे अग्नि बढ़ती है, उसी प्रकार इस पृथिवीपर जितने प्रकारके अन्न तथा सुवर्णादिक धन हैं, तथा गौ अश्व आदिक पशु हैं तथा जितनी सुन्दर स्त्रियाँ हैं, वे सब पदार्थ जो कदाचित् कामनावाले किसी एक पुरुषको ही प्राप्त हो जावें, तो भी उस पुरुषकी कामना शान्त न होगी। तब अल्प भोगोंसे तो भला शान्ति हो ही कैसे सकती है। यह विचारकर पुरुषको शान्तिका अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार इस दानरूप उपायसे भी यह कामरूप शत्रुवश नहीं होता तथा साम और भेद उपायसे भी वश नहीं हो सकता है, क्योंकि यह अत्यन्त उग्र है। इस कारण पुरुष पाप कर्मोंसे दुःखरूप फलकी प्राप्तिको जानता हुआ भी फिर उसी पापको करता है। साथ ही यह अत्यन्त उग्र कामरूप शत्रु साम-भेद अथवा इन दोनों उपायोंसे भी वश नहीं हो सकता है क्योंकि लोकमें ऋजु (सरल) स्वभाववाले शत्रु ही साम और भेदरूप उपायके वश होते हैं। इस कारण हे अर्जुन! इस संसारमें तू इस कामको ही शत्रुरूप जान।

(आलोचना) भगवान्—हे अर्जुन! किसकी प्रेरणासे पुरुष

पाप करता है? इस प्रश्नका उत्तर यह है, कि पापके प्रवर्तक काम और क्रोध हैं। क्रोध कामसे पृथक् नहीं है, क्योंकि काममे वाधा पड़ने हीसे क्रोध उत्पन्न होता है वा वह काम ही क्रोधरूपमें परिणत हो जाता है। जगतकी जितनी वस्तु हैं सव प्रदान कर दो परन्तु कामनाका उदय किसीसे पूर्ण नहीं होता। यह महा पाप स्वरूप है। साम दाम भेद द्वारा यह वश नही होता। नितान्त उग्र है। जीवके मोक्ष मार्गका प्रवल शत्रु यह काम है। यह सर्वथा हन्तव्य है। इस अपूर्णोदर कामकी किसीसे तृप्ति होती ही नहीं, इस महा पापकी अत्युग्रता किसीसे निवारित नहीं होती, इसीसे इस प्रवल शत्रु कामको अनिग्रहकर कहा है, क्योंकि यह मनुष्यको जवर्दस्ती पापमें प्रवृत्त कराता है। इस प्रवल शत्रुको सर्वदा दण्ड देना चाहिये, इसी प्रकार इसका विनाश होता है।

अर्जुन—काम क्या है? यह कहाँसे आता है? और यह किस प्रकार पापका प्रेरक है? किस प्रकार कामको जय किया है? कृपया इन सव प्रश्नोंका उत्तर विस्तार पूर्वक कहिये।

भगवान्—प्रथम यह समझिये कि काम क्या है? "प्रजहाति यदाकामान्" (२-५५) एवं "सङ्गात्संजायते कामः" (२।६२) इत्यादिको एक वार स्मरण कीजिये।

श्रुति कहती है, "अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुषः" आत्मैवेदमग्र इति श्रुतिरिदंमे भूयादिदंमे भूयादिति तीव्राभिलाष

हेतु भूतश्चेतसोऽनव स्थितत्वा पादको वृत्ति विशेषः, 'सच चेतो रूप एव।

प्रथम केवल आत्मा ही था, उसने इच्छा की, कि हमारे जाया हो, प्रजा हो, वित्त हो, हमारे यह हो, हमारे वह हो, इस तीव्र अभिलाषाका हेतु जो चित्त वृत्ति है, उसका नाम काम हैं। यह कामका मनका धर्म है। 'कामना मनोधर्मत्वात् परित्यागो युक्तः।' "संकल्प मूला कामोवै यज्ञाः संकल्प संभवाः'। काम संकल्प मूलक है। काम-न रहनेसे कोई क्रिया नहीं रहती है। जो कोई कुछ करता हैं, वह सब कामकी चेष्टामात्र है। प्रमाण ऊपर लिख चुके हैं। यद्यच्छि कुरुते इत्यादि।

प्रथम संकल्प होता है फिर काम होता हैं। संकल्प किसे कहते हैं?

संकल्पः अनेन कर्मणा इदमिष्टं फलं साध्यताम्। इष्ट साधन हो—इसी अज्ञानरूप संकल्पसे काम वा इच्छाकी उत्पत्ति होती है। इसके बाद क्रिया होती है, अर्थात् अप्राप्त विषयकी प्राप्ति साधन करानेवाली चित्त वृत्तिका नाम काम है। "कामोह्यु द्भूतोरजः पर्वत्तयन् पुरुष' प्रवर्तयति। काम उत्पन्न होनेसे रजोगुण उदय होकर पुरुषसे कर्म कराता है। "पुंसो या विषयोपेक्षा सकाम इति भण्यते" पुरुषकी जो विषय प्राप्तिकी इच्छा है, इसीका नाम काम है।

"प्रमानादौ काममय एव भूत्वार्थ कर्मकृत्। यतोऽयं कर्मणो हेतुः कामोऽतोस्य प्रधानता।" भावार्थ यह कि पुरुष

प्रथमसे काममय होकर ही कर्ममें प्रवृत्त हुआ है। इस कारण काम ही कर्मका कारण है और काम हीका प्राधान्य है। इससे स्पष्ट है, कि काम संकल्पसे उत्पन्न है। यदि पूछो, कि आदि संकल्प क्या है? पुरुषका आदि संकल्प होता है "अहं बहुस्याम"

यदि प्रश्न करो, कि यह संकल्प क्यों किया? मूल तत्व ही यह है। इस जगतका अधिष्ठानभूत एक सर्वव्यापी चैतन्य सर्वत्र समभाव से वर्तमान है। इसीको परमाकाश कहते हैं, यही अनन्त चिन्मणि है। मणिमें जैसे झलक होती है, उसी प्रकार वह अधिष्ठान चैतन्य स्वभावतः चेत्य विषयमें उन्मुख रहता है। साधारणतः यही कहा जाता है कि परमाकाशसे सकल्प उठता है। मणिकी झलककी भांति स्वभावतः संकल्प उठता है। यह कहनेपर भी यदि कहा जाये कि स्वाधीनताके कारण वह संकल्प उठता है, तो कार्य ही क्या है, जिसका कारण निर्देश नही कर सकते। यदि कारणका निर्देश करते जाओ तो जब यह मालूम होगा उसका संकल्प करनेका कारण है, तब वह स्वतन्त्र नहीं है, परतन्त्र है और तुम्हारे मनमें जो संकल्प उठते रहते हैं उनके कारण तुम स्वाधीन हो। चाहे संकल्प उठने दो या न उठने दो, यह तुम्हारी स्वाधीनताका परिचायक है। अस्तु, स्वाधिष्ठान चैतन्य चेत्य विषयमें तत्पर है। उसी उन्मुख (तत्पर) भावको संकल्परूप वृक्षका अङ्कुर कह सकते हैं। उस संकल्परूप अङ्कुरकी लेशमात्र सत्ता

पाकर, अधिष्ठान चैतन्यके चित्स्वभावका तिरोधान करके, जड़ प्रपञ्च सम्पादन करनेके लिये, बादलकी भांति निखिल चित्ताकाश परिव्याप्त करनेके क्रमसे एक बादल होता है। बीज, आत्म चेत्य भावना करनेपर जिस तरह अङ्कुर भावको प्राप्त होता है, उसी प्रकार अधिष्ठान चैतन्य भी संकल्प भावको प्राप्त होता है। यह विशाल जगत् इस संकल्पका रूपान्तरमात्र है। संकल्प उत्पन्न होनेसे जगत उत्पन्न होता है और संकल्प विनष्ट होनेसे जगत विनष्ट होता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव प्रभृति उस संकल्पके अवयव मात्र हैं। वही संकल्प अधिष्ठान भूत चैतन्यके अनुग्रहसे प्रजापति ब्रह्माका रूप धारण कर निखिल जगतकी रचना करता है। वह संकल्प ही मायामल है। अव्याकृत परमाकाशसे यह मायामल उत्पन्न होता है। संकल्प मात्रात्मक यह जगत् सपनेमें देखी नगरीके समान है।

यह जगत् जिस स्थानमें चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है, उसी स्थानमें देखोगे, कि केवल जगतका अधिष्ठान भूत चैतन्य ही विराजमान है। यह जगत् शून्य आकाशमात्र है। दृष्टिगोचर होनेपर भी यह असत् है।

मैं पुनः पुनः कहता हूं कि मूल तत्व विशेषरूपसे धारण करना चाहिये। नहीं तो कोई तत्व समझमें नही आवेगा। अब दूसरे प्रकारसे कहते हैं सुनो।

इस जगत् समूहका अधिष्ठान भूत जो सर्वव्यापी चैतन्य है, उसीको तुम आत्मतत्व जानो। आत्मतत्व अनन्त शक्ति

सम्पन्न है, अपरिच्छिन्न आत्मतत्व अपनी शक्तिके बलसे और लीलाक्रमसे, दिक्कालसे परिच्छिन्न जो आकार धारण करता है—वासना विशिष्ट उसी आकृतिका नाम सङ्कल्पोन्मुखी चञ्चल मन है। जीव इसका दूसरा नाम (पर्याय) है। संकल्प मन, जीव, चित्त, बुद्धि, वासना ये सब एक वस्तु हैं—केवल नाममात्र प्रभेद है।

तुम्हारा दूसरा प्रश्न था, कि काम कहाँसे आता है? उसका उत्तर यह है कि सङ्कल्पसे काम उत्पन्न होता है। जब सङ्कल्प उत्पन्न होता है, तब स्वाधिष्ठान चैतन्यमें उसका एक प्रतिबिम्ब भासता है। चैतन्यके ऊपर सङ्कल्पका प्रतिबिम्ब—यह बात अति सूक्ष्म है। इसकी प्रक्रिया भी बड़ी सूक्ष्म है। चैतन्य उस प्रतिबिम्बको देखकर सुन्दर समझता है, यही शोभनाध्यास है। उस प्रतिबिम्बको 'सूक्ष्म विषय' कह सकते हैं। पुरुष जब विषयको सुन्दर समझता है उसका ध्यान करता है, तब "ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्संजायते कामः। विषयका ध्यान किया, उससे विषयका सङ्ग हुआ, विषयका सङ्ग होनेसे काम उत्पन्न हुआ, यही क्रम है, इसमें प्रथम सङ्कल्प है, सङ्कल्पसे विषयका ध्यान, विषयध्यानसे विषयका सङ्ग, और सङ्गसे काम इति।

अर्जुन—कोई कोई कहते हैं, कि अज्ञानसे कामकी उत्पत्ति है?

भगवान्—सङ्कल्प अज्ञानसे उत्पन्न होता है। शोभनाध्यास

अज्ञानसे उत्पन्न है। आत्मा ही सुन्दर है। आत्मासे भिन्न जो अनात्म है, वह कभी सुन्दर हो नहीं सकता, जो पदार्थ सुन्दर नहीं है उसको सुन्दर मानना ही शोभनाध्यास है। इसीका नाम अज्ञान है। इसीसे विषय सङ्ग और सङ्गसे काम। इसी कारण अज्ञानसे कामकी उत्पत्ति कही जाती है!

अर्जुन—आत्मामें जिस प्रकार अज्ञान, रागद्वेष, काम, क्रोध, आदि रहते हैं, इसका क्रम एक वार फिर समझाइये।

भगवान्—आत्मा ज्ञान स्वरूप है। इसी कारणसे आत्माको शरीर परिग्रह होनेसे दुःख होता है। यह शरीर परिग्रह स्थूल, सूक्ष्म, और वीजभेदसे त्रिविध है। अज्ञान परिग्रह आत्माका कारण शरीर ग्रहण है। मन ग्रहणको आत्माका सूक्ष्म शरीर ग्रहण और पञ्चभौतिक देह धारण करना स्थूल शरीर ग्रहण है। शरीर परिग्रह कर्मसे होता है, कर्म रागद्वेषादि अन्तःकरणके धर्मसे—रागादि अभिमानसे और अभिमान आत्मा और अनात्मा के भेद ज्ञान, शून्यतारूप अज्ञानसे उत्पन्न होता है। यह अज्ञान क्या है, इसका विचार कीजिये। आत्माको जानना ही ज्ञान और न जानना ही अज्ञान है। यदि पूछो कि अज्ञान किस प्रकार उत्पन्न होता है?

अज्ञानं केन भवतीति चेत्? तो भक्त उत्तर देता है, कि 'न केनापिभवतीति' अज्ञानमनाद्यनिर्वचनीयं। अज्ञानाद विवेको जायते। अविवेकादभिमानो जायते। अभिमानाद्रा-गादयो जायन्ते, रागादिभ्यः कर्माणि जायन्ते। कर्मभ्यः शरीर

परिग्रहो जायते। शरीर परिग्रहात् दुःखं जायते। अज्ञानकी आदि नहीं है, वह अनादि है, यह कई बार कहा जा चुका है। आत्मा अपने स्वरूपमें रहनेपर भी अपनेसे जो अन्यरूप होता है, उस अन्यरूपको सुन्दर समझते हैं। यह बहुत दिनोंसे होता है इसीलिये कहा जाता है कि अविद्या वा अज्ञान अनादि है। जब कोई दृश्य सुन्दर दिखाई देता है तब ही भोगेच्छा उत्पन्न होती है, तब ही आत्मा बहुरूप होकर मानो अपनेको आप ही भोग करता है। इसीलिये पुरुषको मनोमय कहा जाता है। काम ही अपने स्वरूपको ढक लेता है। काम दृष्टि पड़नेसे स्वरूप दृष्टि भूल जाता है। तब आत्म दृष्टि बाहर छूट जाती है। और बाहिर दृष्टि होनेसे विषयमें जा पड़ता है। इस तरह जबतक आत्म दृष्टि है, उतने ही क्षण तक शान्त, चलन रहित अवस्था है। और जब ही सङ्कल्प जागरित होता है, तब ही रजोगुण-कर्ममें प्रवर्तित करता है, क्रिया शक्ति चलने हीसे बहिः दृष्टि विलक्षणरूपसे प्रसारित होती है। इसीलिये कहा है कि रजोगुणसे काम—और कामसे पाप होता है। फिर सब विषय कामरूपसे अन्तःकरणमें प्रविष्ट होते हैं और अन्तः-करण भी कामना समूहको पुनः पुनः आवृति द्वारा स्थूल विषयोंमें परिणत करता है। भाग ११।१३—१७

अर्जुन—अब कहिये कि पुरुषसे पाप कौन कराता है? काम तो एक चित्तकी वृत्ति है और वह जड़ है। तब जड़ वस्तु काम पापका प्रेरक किस प्रकार है?

भगवान—द्विजगण जिस गायत्रीकी उपासना करते हैं, उसमें गायत्रीका एक विशेषण पाया जाता है, कि हमारी बुद्धि को प्रेरणा करो। जगत्‌के जीवोंको चलाता कौन है ? काम ही तो जीवसे कर्म कराता है। उपनिषद् गायत्रीकी व्याख्या करते समय कहते हैं—"यो नः प्रचोदयात्" इति कामः।

"काम इमान लोकान् प्रच्यावयते।" गायत्री हमको चालित करती है, काम ही इस समस्त लोकको चलाता है, अर्थात् कर्ममें प्रवृत्त करता है। "यो नृशंसो योऽनृशंसोऽस्याः परोधर्म इत्येषा वै गायत्रीः।" काम जब असत् कर्मका प्रवर्तक है, तब नृशंस है और जब सत्कर्मका प्रवर्तक है, तब अनृशंस है। नृशंस और अनृशंस भावसे लोगोंको कर्ममें चालित करना ही गायत्रीका असाधारण धर्म है। यही गायत्रीका रूप है। "यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत् कामस्य चेष्टते" प्राणिगण जो ज़ो करते हैं, वह काम हीकी चेष्टा है। "प्रवर्तको नापरोऽतः कामादन्यः प्रतीयते" कामके सिवाय कर्मका प्रेरक और कोई भी नहीं है।

काम ही पुण्य और पाप दोनोंका प्रेरक है। जब वह पुण्यका प्रेरक है, तब वह गायत्री जब ब्रह्ममें ले जाती है तब उसका नाम वरणीय भर्ग है। तापरूपसे जो जगतकी प्रति वस्तुमें है, वही भर्ग है। मणि और काञ्चनमें जो ज्योति है, वह भी ताप वा भर्ग है, वृक्षादिमें जो ताप है, वह भी भर्ग है और मनुष्यमें जो तापरूप है वह भी भर्ग है, जो चञ्चल करे वही ताप है और ताप ही भर्ग है।

कामका अर्थ है, चित्त वृत्ति। किन्तु प्रत्येक चित्त वृत्ति अधिष्ठान चैतन्यके ऊपर भासित रहती है। पहले ही कहा जा चुका है कि सङ्कल्प अङ्कुर लेशमात्र सत्ता प्राप्त करते ही अधिष्ठान चैतन्यके चित्स्वभावको तिरोधान करता है और जड़ प्रपञ्च सम्पादनार्थ मेघकी भांति निखिल चित्ताकाशको परिव्याप्त कर क्रमसे घनी भावको प्राप्त होता है। इसी कारण श्रुति इसको काममय पुरुष कहती है।

"अविद्योद्भूत काम' सन्नथो खल्विति श्रुतिः। अथोखल्वाह काममय एवायं पूरुषः।"

अब देखिये, कि जो ईश्वर है, वह भी प्रेममय है और परम कारुणिक है, वह प्रकृतिके अधीन नहीं है, वह जीवको पापमें प्रवृत्त नहीं करता है। निर्मल ईश्वर मलीन मार्गमें किसीको नहीं ले जाता है, यह उसके स्वभावके विरुद्ध है।

प्रकृति भी पाप नहीं कराती है। कारण कि प्रकृति प्राचीन संस्कार मात्र है और संस्कार जड़ है। अर्थात् प्राचीन संस्कार, अधिष्ठान चैतन्यकी समीपतासे जब अधिष्ठान चैतन्यको परिच्छिन्न कर उसे अपने वशमें कर लेता है, तब उस प्रकृति—क्रोड़ीभूत खण्ड चैतन्यको जीव कहते हैं। यह जीव ही काममय पुरुष है। चैतन्यकी स्वाधीनता जैसी ईश्वरमें है, वैसी ही जीवमें भी है। किन्तु प्रकृतिके वशमें रहकर जीव-चैतन्य, जब स्वाधीनताका अपव्यवहार करता है, तब ही पाप सृष्टि होती है।

और भी सुनिये, पुरुष चैतन्य मात्र है, सर्वदा निर्मल है, प्रकृतिका शुद्ध सत्वांश सर्वदा पुरुषके अधीन रहता है, तब उस पुरुषको ईश्वर कहते हैं। ईश्वर न पापका स्रष्टा है और न पापका प्रवर्तक है। किन्तु रजस्तम गुणान्विता मलिना प्रकृति जब प्रबल होकर पुरुषको वशीभूत कर लेती है, तब पुरुषके स्वभाव की स्वाधीनताका अपव्यवहार हो जाता है। शक्तिका सदुपयोग वा दुरुपयोग करनेमें पुरुष स्वाधीन है। चैतन्य ईश्वर इसका दुरुपयोग कभी नहीं करता है। किन्तु चैतन्य जीव सदुपयोग करनेमें समर्थ होनेपर भी दुरुपयोग करता है। उसीसे पापकी उत्पत्ति है। इसीसे कहा है, कि काम वा काममय पुरुष ही पापका प्रवर्तक है।

स्मरण रक्खो कि ईश्वर अज्ञानके वशीभूत नहीं है और न पापका प्रवर्तक है। जीव अज्ञानके वश होकर पाप करता है। परन्तु पाप करनेपर भी जीव अपने स्वभावपर दृष्टि रक्खे तो सब पापोंसे मुक्त हो सकता है।

अर्जुन—मैंने इस तत्वके समझनेमें यथाशक्ति चेष्टा की है, यदि उसमें कुछ भूल हो, तो संशोधन कर दीजिये।

भगवान—अच्छा कहिये।

अर्जुन—पुरुषसे पाप कौन कराता है, इसके उत्तरमें आपने कहा कि पुरुष जो सङ्कल्प करता है, वह काममय है। सङ्कल्प ही काम है। इससे रजोगुणके कार्य उत्पन्न होते हैं। वही विषय—अभिलाषात्मक काम स्वयं उत्पन्न होकर रजोगुणको

चालित करता है और पुरुषको पापमें नियुक्त करता है। इस सङ्कल्पसे उत्पन्न कामका मूल कारण अज्ञान है। पापका कारण अज्ञान है। काममे अज्ञान और प्रेममें ज्ञान रहता है।

ब्रह्म अथवा ज्ञान जैसे अनादि है, वैसे ही अज्ञान भी अनादि है। केवल इनमें इतना ही प्रभेद है, कि ब्रह्म अनादि और अनन्त है और अज्ञान अनादि होनेपर भी अनन्त नहीं है। अज्ञानका अन्त है।

यह सत्य है, कि ज्ञानमें अज्ञान रह नहीं सकता है, कारण कि प्रकाशमें अन्धकार कहाँ? किन्तु यह तत्व अल्प बोधशाली की समझमें इस प्रकार नहीं आ सकता, कि जैसे बालककी समझमें युवतीकी अनुराग व्यञ्जक बातें नहीं आतीं। तथापि प्रकारान्तरसे कहता हूँ, श्रवण करो।

ज्ञानका अर्थ है जानना। उस ज्ञानमें द्रष्टा और दृश्य भाव छिपे रहते हैं। 'जानना' कहनेसे ही जिज्ञासा होती है, कि किसको जाना? जिस समय और कुछ है ही नहीं, जब सृष्टि भी नहीं थी, तब भी ज्ञान था, तो उस समय क्या जाना? कुछ लोग उत्तर देते हैं, कि अपनेको आप जाना।

अपनेको आप जाननेमें हमारा एक अंश द्रष्टा एवं एक अंश दृश्य। यह द्रष्टा अंश सर्वदा चेतन और दृश्य अंश जड़का बीज-रूप है। इसीसे कहा जाता है, कि ब्रह्ममें ज्ञान शक्ति और अज्ञान शक्ति है। इस शक्तिका तत्व समझना कठिन है।

भगवान्—मैं फिर एक बार समझाता हूं—ध्यानसे सुनो—

सत् चित् आनन्द ब्रह्मके, चित् (ज्ञान) और आनन्द भावको ही शक्ति कहते हैं। शक्ति शब्दसे साधारणतः दो प्रकारकी शक्ति समझी जाती है। विद्या शक्ति और मायाशक्ति। द्रष्टा अंश विद्या है और दृश्य अंश माया है। मायाके प्रकार और भेद भी देखिये। जो कुछ देखा सुना और स्पर्श किया जाता है अर्थात् इन्द्रिय, मन और बुद्ध्यादिसे प्राह्य हैं, वह सब माया है। माया रचित वस्तुमें आत्माभिमान ही अविद्या है। इसी कारण देहमें जो आत्म बुद्धि है, उसका नाम अविद्या कहा जाता है। जो नहीं है उसका अस्तित्व बोध कराना माया शक्तिका काय है। जो वस्तु असुन्दर है, उसको सुन्दर दिखाना माया शक्तिका कार्य है। असुन्दरको सुन्दर कहना ज्ञान है। माया जनित ज्ञानको अज्ञान कहते हैं। इसी ज्ञान वा अज्ञानसे काम उत्पन्न होता है। इससे परे इच्छा शक्तिका कार्य है। मायाका प्रथम विकार इच्छा शक्ति है, द्वितीय विकार क्रिया शक्ति है। अज्ञानरूप ज्ञानशक्तिसे इच्छा शक्ति उत्पन्न होती है। जाननेके पीछे इच्छा और इच्छाके पीछे क्रिया होती है। माया शक्ति जैसे जगत्को रचती है और जगतको प्रकाशित करती है, उसी प्रकार विद्या चित् और आनन्द अनुभव कराती रहती है। यह विद्या शक्ति वा चित् शक्ति तीन प्रकारकी है। जिस शक्तिके द्वारा ब्रह्म अपना सत् स्वभाव प्रकाश करता है उसका नाम 'सन्धिनी' शक्ति है। जिस शक्तिके द्वारा वह अपर 'चित्' स्वरूपको व्यक्त करती है और उसका अनु-

भव करती है, वह 'सम्वित्' शक्ति है। जिस शक्ति द्वारा वह अपने 'आनन्द' भावको व्यक्त करती और अनुभव करती है, उसका नाम 'ल्हादिनी' शक्ति है। ज्ञान शक्तिकी असम्पूर्ण अवस्था ही माया है। माया द्वारा अपनेसे अन्य कुछ 'स्वयमन्य इव' भान होता है, द्रष्टाके साथ यही दृश्यभाव जड़ित है। अपनेको असत् भान होता है किन्तु असत निश्चय नहीं होता क्योंकि तव भी ज्ञान शक्ति जाग्रत रहती है। मायाका प्रथम काय ही इच्छा वा काम है। जो कुछ कर्म देखते हैं, वही मायाका कार्य है। प्रत्येक कर्मके मूलमे इच्छा वा काम रहता है। वायु चलती है, सूर्य उठता है, रात दिन होते हैं, चलते, फिरते हैं, यह सव कामसे ही उत्पन्न हैं। माया जव वहुरूप धारण करती है, तव आत्मा उसके समान स्वरूप स्वीकार करता है, एवं आत्माके वहुत होनेके पूर्व मैं वहुत होऊँ, यह इच्छा भी उत्पन्न होती है, इच्छाकी पूर्व अवस्थामे 'स्वयमन्यइव' यही अज्ञानरूप ज्ञान रहता है। अपनेको अन्य कुछ कहना यह वोध—द्रष्टाका अपनेको दृश्यरूपसे वोध—यही अज्ञानरूप ज्ञान है, इसी अज्ञान-ज्ञानसे इच्छा, इच्छासे कर्म होता है। जो इस अज्ञानरूप ज्ञानका द्रष्टा वा ज्ञाता है, वह सर्वदा देखता है, कि मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं है, एवं कौन ऐसा जो कहेगा, वह भी कुछ नहीं, यही ब्रह्म है। यही मूल तत्व पुनः पुनः आलोचना करते करते भलीभांति हृदयङ्गम कर सकोगे, अब समझ लो, कि यह काम ही परम शत्रु है। वासना,

कामना, सङ्कल्प, इच्छा, काम ये एकार्थवाचक हैं, मलिन वासनासे पाप उत्पन्न होता है, वासना कितने प्रकारकी हो सकती है। उसका चित्र सामने दिया हुआ है। समझ लीजिये।

वासना किसको कहते हैं, अथवा वासना किसका नाम है इसका जानना आवश्यक है।

पूर्वापर परामर्श मन्तरेण सहसोत्पद्यमानस्य क्रोधादि-वृत्ति विशेपस्य हेतुश्चित्तगतः संस्कार विशेषो वासना पूर्वाभ्या-सेन चित्तवास्यमानत्वात्

दृढ़ भावनया त्यक्त पूर्वापर विचारणम्।
यदादानं पदार्थस्य वासना सर प्रकीतिता॥"

पूर्व अभ्यासवश चित्तमें जो निवास करे, इसको वासना कहते हैं। विपय उपस्थित होनेसे वह अनुकूल वा प्रतिकूल बोध होती है—वह भी पूर्वकी दृढ़ भावना और पूर्णानुभूता विषयमें रहनेवाला है। कोई पदार्थ इन्द्रियके सामने पड़नेपर पूर्वापर विचार न करके पूर्व दृढ़ भावनावश जो मानसिक व्यापार द्वारा उसका ग्रहण हो, उसे वासना कहते हैं।

वासना
मलिना (विषयस्पृक्त तमोमयी)
शुद्धा (दैवी संपत्प्राप्त जन्य मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा)
बाह्य
आभ्यन्तर (इससे काम क्रोधादि आसुरी सम्पत्स्वरूप मानसी वासना उत्पन्न होती हैं)
लोक वासना (लोकमें बड़ाईकी चाह)
शास्त्र वासना
देहवासना
पाठ व्यसन
बहु शास्त्र व्यसन
अनुष्ठान व्यसन
आत्म भ्रान्ति
गुणाधानभ्रान्ति
दोषात्मभ्रान्ति
लौकिक
शास्त्रीय
शास्त्रीय
लौकिक
(समीचीन शंकादि विषय सम्पादन)
(गंगा स्नान-शालग्राम शिला सम्पादन)
(वैदिक व्यवस्था स्नान आचमन द्वारा अशौच निवारण)
(चिकित्सा द्वारा-रोग प्रतीकार साधन)

जबतक वासनाका त्याग न कर सकोगे तबतक तुम्हारी नित्य शान्ति किसी प्रकार न होगी; वासना और उसके कार्य सब मिथ्या हैं। आत्मा जबतक मिथ्यामें रहेगा, तबतक तुम किसी क्रिया योगमें नहीं जुड सकते हो। मिथ्याको मिथ्या कहना ज्ञान है। ज्ञानसे जो कुछ दृश्य देखा जाता है, वह सब वासना ही है। इस कारण सब ही अनास्था करने योग्य है। जिस समय जो सङ्कल्प मनमें उठे वा जब जो कार्य सन्मुख आवे, उसे असत्य समझकर, उसमें कुछ आस्था वा ममता एक न रखकर, तुम व्यवहार करो तो क्रमसे सब वासना त्यागकर अमर हो जाओगे। एकमात्र सत्य वस्तु ही आत्माराम वा अधिष्ठान चैतन्य वा इष्ट देवता वा श्रीगुरु वा मन्त्ररूपी अक्षर है, इससे अन्य जो कुछ है, वह सब वासना ही है। अतएव मिथ्या वस्तुमें विश्वास त्याग कर सर्वदा अधिष्ठान चैतन्यके ध्यानमें रहना ही जीवन्मुक्ति है।

वासना त्यागके विषयमें शास्त्रका यह सिद्धान्त है। एक साथ वासना त्याग नहीं कर सकते हो, प्रथम शुभ वासना करो, शुभ वासना करनेसे वाह्य और अभ्यन्तर मलिन वासना अपने आप छूट जाती हैं।

मानसी वासना पूर्वं त्यक्त्वा विषय वासनाः।
मैत्रादि वासनाः राम गृहाणामल वासनाः॥

आत्मा कर्ता नहीं है और अकर्ता भी नहीं है—यह विचार केवल आत्माका अखण्डत्व समझनेके लिये है। परन्तु आत्मा

को अखण्ड जान लेनेपर भी तुम्हारी वासना क्षीण नहीं हो जाती है। सङ्कल्प वा वासना ही चित्तको चलायमान करके आत्माको खण्डवत् करती है। विषयस्पृक्त तमोमयी वासना-समूह प्रथम त्याग करके तुम मैत्री, करुणा, मुदिता-उपेक्षा, भावना नामकी निर्मल वासनाएँ ग्रहण करो। और बाहरसे मैत्री आदि द्वारा व्यवहार परायण हो। मैत्री आदि आयत्त होनेसे साधक दूसरोंके सुख दुःख, इष्ट अनिष्टको अपना ही समझता है और सर्वत्र समदर्शी होता है। फिर इसको भी त्याग कर चैतन्यको अन्तरमें आश्रय दो और समुदय बाह्य चेष्टा शून्य होकर केवल चैतन्यमें दृढ़ भावना करो, फिर इसको भी त्याग कर एक आत्मतत्वमें स्थिर समाहित होओ। जिसके हृदयसे सर्व प्रकारका विश्वास वा अभिमान छूट गया है, वह चाहे समाधिस्थ हो और चाहे कर्म करे, वह निस्सन्देह मुक्त है। जिसका मन वासना रहित हुआ है, उसको निष्क-र्मता, कर्म समाधि वा जय किसीसे प्रयोजन नही है। अध्यात्म शास्त्रका विचार करो, उसीका दूसरोंके साथ आलोचन करो, और विषय वासना त्याग पूर्वक मौनावलम्बन करनेकी अपेक्षा और कोई उत्तम साधन नहीं है।

अर्जुन—काम जय किस प्रकार होता है, यह मेरा अन्तिम प्रश्न था। यद्यपि वह वासना-त्याग व्यापारके व्याख्यानमें एक प्रकारसे समझा गया है पर आपके मुखसे फिर सुननेकी इच्छा है।

भगवान—काम जयके सम्बन्धमें जो साधन है, वह फिर कहेंगे-यहाँ केवल यह समझ लो, कि तम और रजोगुण अग्निरूपी परमात्माके धूम और भस्म स्वरूप हैं। (अनुगीता २४) काम निग्रह ही धर्म और मोक्षका बीजस्वरूप है (काम गीता १३ म० भा० अश्वमेधपर्व।)

निर्ममता और योगाभ्यासके विना काम जय नहीं होता। भगवानके नामका जप, रूप और गुणका ध्यान वा चिन्ता एवं आत्म विचार—इसके सिवाय जो कुछ सङ्कल्प उठते हैं, वे मिथ्या हैं, विश्वासके योग्य नहीं है। अभ्यास द्वारा क्रमसे सत्य पदार्थको पाकर कामको जयकर सकोगे।

शिष्य—हे गुरु! आपने विश्वामित्र और वसिष्ठ मुनिके पराक्रमका वर्णन किया, वह मैंने सुना। पर वह विश्वामित्र रजोगुणी थे—यह भी आपने कहा है; परन्तु यह तो समझाइये कि रजोगुणमें दोष किस प्रकारसे होता है. और उसका स्वरूप क्या है?

गुरु—हे भाई! इस शरीरमें सत्व, रज और तम ये तीन गुण रहते हैं, उनमें सत्वगुण श्रेष्ठ है। सत्वगुणसे उत्तम पुरुषार्थ मिल सकता है। सत कार्यमें श्रद्धा होती है और रजोगुणसे संसार वन्धनमें वन्ध जाते हैं। जैसे मक्खी मकड़ीके जालेमें फँस जाती है, हाथ पैर मलती है, पर उसमेंसे निकल नहीं सकती। उसी प्रकार रजोगुणी फँस जाता है और तमोगुणी तो केवल अज्ञान प्राप्त करानेवाला है। इन तीन गुणोंमें उत्तम, मध्यम

और कनिष्ठ ये तीन भाग कल्पित हैं। जिसमें जिस गुणका आवरण विशेष होता है, वही गुण उसमें प्रधान रहता है और वह मनुष्य उसीके अनुसार कार्य करता है। जिसमें रजोगुण अग्रणी होगा, वह सतोगुणको दबा लेगा। रजोगुणका लक्षण अनुगीतामें इस प्रकार लिखा हैं:—

ब्रह्मोवाच—रजोऽहं वः प्रवक्ष्यामि यथा तथ्येन सत्तमाः।
निबोधत महाभागा गुणवृत्तं च राजसम् ॥१॥
संतापोरूप मायासः सुख दुःखे हिमातपौ।
ऐश्वर्यं विग्रहः सिद्धिर्हेतुवादोऽरतिः क्षमा ॥ २ ॥
बलं शौर्यं मेदौ रोषौ व्हायाम कलहावपि।
ईर्ष्येप्सा पैशुनं युद्धं ममत्वं परिपालनम् ॥ ३ ॥
वध वन्ध परिक्लेशः क्रयोविक्रय एवच।
निकृन्तच्छिन्धि भिन्धीति परवर्मावकर्तनम ॥४॥
उग्रं दारुणमाक्रोशः परचित्तानुरागिता।
लोक चिन्ताऽनुचिन्त च मत्सरः परिभापणम् ॥५॥
वृथा शास्त्रं मृपावादो विकल्प परिभापणम्।
निन्दा स्तुतिः प्रशंसा च प्रतापः परिधर्षणम् ॥६॥
परिचर्या च शुश्रूपा सेवा तृष्णा व्यपाश्रयः।
व्यूहोनयः प्रमादश्च परिवादः परिग्रहः ॥ ७ ॥
संस्कारा येच लोकेपु प्रवर्तन्ते पृथक् पृथक्।
नृपु नारीपु भूतेपु द्रव्येपु शरणेपु च ॥ ८ ॥
संतापोऽ प्रत्ययश्चैव व्रतानि नियमाश्च ये।

प्रधान माशीर्युक्तं च सततं मे भवत्विति ॥ ६ ॥
स्वाहाकारो नमस्कारः स्वधाकारो वषट् क्रिया ।
याजनाध्यापने चोभे यजनाध्ययने अपि ॥ १० ॥
दामं प्रतिग्रहश्चैव प्रायश्चित्तानि मङ्गलम् ।
इदं मे स्यादिदं मेस्यात्स्त्रेहो गुण समुद्भवः ॥ ११ ॥
अभिद्रहस्तथा माया निकृतिर्मान एव च ।
स्तैन्यं हिंसा जुगुप्साच परितापः प्रजागरः ॥ १२ ॥
दंभो दर्पोऽथ रागश्च भक्तिः प्रीतिः प्रमोदनम् ।
द्यूतंच जनवादश्च सम्बन्धाः स्त्री कृताश्चये ॥ १२ ॥
नृत्यवादित्र गीतानां प्रसंगा ये च केचन ।
सर्वे एते गुणा विप्रा राजसाः सं प्रकीर्तिता ॥ १४ ॥
रजोगुणा वो बहुधानुकीर्तिता यथावदुक्तं गुण वृत्त मेव च ।
नरोऽपि योवेद गुणानिमान्सदा सराजसैःतर्व गुणैर्विमुच्यते ॥
(अनुगीता ३८ अध्यायः)

हे शिष्य ! अब मैं रजोगुणके और लक्षण कहता हूं । सुन—

मेरा घर, मेरा संसार, मेरे मा बाप, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरी कन्या, मेरी बहिन, मेरी भतीजी, आदिकी चिन्ता हो। मोदक, पेढ़े मालपूवे आदि। अच्छे अच्छे भोजनकी इच्छा हो, मादक पदार्थोंकी इच्छा हो। अच्छे अच्छे वस्त्र आभूषण पहरनेकी इच्छा हो। पराया धन हजम करनेकी इच्छा हो, धर्मादामें अथवा लूले लङ्गड़े तथा अशक्त मनुष्योंको धन देने वा पुण्य करनेकी इच्छा न हो, पाप पुण्यका विचार न हो, तीर्थ

व्रत समझे नहीं, अतीत अभ्यागतकी सेवा न जाने, धन धान्य के संग्रह करनेमें लगा रहे, अपना मन निरन्तर धन प्राप्तिमें ही रक्खे, अत्यन्त कंजूस हो, मैं जवान हूं, देखनेमें बड़ा सुन्दर कान्तिवाला हूँ, मैं बलवान हूं, बुद्धिमान और चतुर हूं, ऐसा अभिमान रखनेवालेको रजोगुणी जानो। मेरा देश, मेरा गांव, मेरा घरबार, मेरा बाग, ऐसा समझनेवालेको रजोगुणी जानो। कपट-मत्सर तथा तिरस्कार दृष्टि, पर स्त्री भोगनेकी इच्छा ये सब रजोगुणीको होती हैं। अपनी संतान, अपनी स्त्री अपने घरकी तमाम वस्तुओंपर प्यार रक्खे, अपने मित्रपर ममता तथा प्रेम रक्खे, संसारके कष्ट दूर करनेकी इच्छा रक्खें, दूसरों-का वैभव देखकर वैसा वैभववाला होना चाहे। वैभव न मिलनेसे उदास हो, दूसरेकी हँसी करनेमें प्रसन्न रहे, इश्कबाजीमें, गाने बजानेमें, मौज शौकमें, राग-रङ्गमें, तान-तालमें, हँसी दिल्लगी में मग्न रहे, व्यर्थ विवाद करनेमें प्रसन्न रहे। परस्पर लोगोंकी निन्दा तथा विवाद करनेमें तत्पर रहे, अंगमे आलस्य विशेष हो, गम्मतमें कुछ रम्मत् करनेको मन हो, खान, पान, इश्क आदिमें पड़नेको मन हो, गवैयोंमें बैठने, स्त्रियोंमें भटकने तथा भाड़ भगतियोंके तमाशे देखने, नट कंजरोंका नाच देखना और उनमें खर्च करना ऐसी इच्छा हो, दूसरोंके दिखानेको द्रव्य खर्च करना कि मैं बड़ा आदमी हूं, ऐसा लोगोंके मनमें आवेश प्राप्त कराना जिससे लोग धनी कहें—यह बातें रजोगुणीके पसन्द आती हैं।

शराब, भङ्ग, गांजा, आदि मादक पदार्थ सेवन करना चाहे, और करे, नीचकी सङ्गतिमें मस्त रहे, पराये छिद्र खोजता रहे, दूसरेकी छिपी बात जानना चाहे, चोरी करनेकी तरंगें मनमें उठनी रहें, और ऐसी अनीतिको मनमें कुछ भी चिन्ता न हो देवभक्ति और कर्मनिष्ठामें चित्त न लगे, चटोरपन पसन्द हो, पेटार्थू हो, इश्कबाजीकी बातें और शृङ्गारकी पुस्तकें पसन्दहो, वैराग्यकी बातें, वेदान्त विषय तथा भक्ति और ज्ञानमार्गकी बातोंमें चित्त न लगे, परमात्माको छोड़कर मायिक पदार्थोंमें मन रखे, ये सब रजोगुणी हैं।

हे शिष्य ! इस प्रकार रजोगुणका स्वरूप समझ लेना। महाभारतमें कौरव पाण्डवोंका चरित्र तुमने सुना होगा, उनमें एक तरफ पाण्डवोंके नायक सतोगुणी धर्मराज युधिष्ठिर थे। और कौरवोंके पक्षका नायक रजोगुणी और तमोगुणी अधर्म करनेवाला राजा दुर्योधन था। हस्तिनापुरका राज्य सम्पादन करनेके लिये कौरवोंकी खटपट, उनका कपट, उनकी निर्दयता, इत्यादिका इतिहास पढ़नेसे जाना जाता है, कि दुर्योधनने राज्यके लोभके कारण कपटके पासे बनवाकर सत्यवक्ता धर्मादिक पांचो पाण्डवोंको हराया था, अन्तमें उनको स्वदेशसे हटाकर वनवासको भेजा था, यह सब करतूत रजो गुणी दुर्योधनकी थी और सत्य धर्म पालक सतो गुणी पाण्डव वन-वास भोगने चले गये थे।

हे शिष्य ! इस प्रकार रजोगुणीके पहचाननेवाले जो ज्ञानी

पुरुष हैं, वे उस गुणका त्यागकर सत्वगुणमें प्रवेश करते हैं। जब सतोगुणरूपी भूषण समझनेमें आता है तब आत्मज्ञान पहिचाननेकी प्रथम कक्षामें प्रवेश होनेका अधिकारी होता है। इससे तू रजोगुणको पहचानकर उससे दूर रह।

रजोरागात्मकं विद्धि तृष्णासंग समुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनाम्॥ गीता १४।७

हे अर्जुन! अप्राप्ताभिलाषः तृष्णा, आसङ्गः प्राप्तेऽर्थे प्रीतिः।

रजोगुणको रागात्मक तथा तृष्णा और असंगका उत्पादक जानो। वह देहीको कर्मके साथ बाँध देता है। जिससे जन्म हो वही रजोगुण है। रजः रञ्जन क्रियाको भी कहते हैं, जैसे सफेद वस्त्र किसी रङ्गसे रङ्ग लेना। निर्मल ब्रह्ममें माया विकार अहंकार लगाकर जीव बनानेकी क्रियाका नाम भी रज है। यह रजोगुण अनुरागमय है। इस अनुरागसे ही तृष्णा और आसङ्गकी उत्पत्ति होती है। अप्राप्त विषयकी अभिलाषाका नाम तृष्णा और प्राप्त विषयमें मनकी प्रीतिका नाम आसंग है। यह समस्त ही क्रिया है, मैंके बिना और दूसरे एकको प्राप्त होनेके लिये जो प्रेरणा करता है वही रजोगुण है। इस प्रेरणाका सूत्र ही अनुराग है। इस अनुरागकी शक्ति ही आसक्ति है, उस आसक्तिसे ही अधीनता स्वीकार की जाती है। अधीनता स्वीकार ही बन्धन है, उस स्वीकार अंशको कर्म और अधीनता अंशको बन्धन जानना। रजोगुणसे ही जीव अनुरागका वशवर्ती होकर कर्ममें आबद्ध होता है।

पन्द्रहवीं लहर.

सत्वगुण दर्शन।

तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुख संगेन वध्नाति ज्ञान संगेन चानघ॥ गी० १४।६

उन तीन गुणोंमें सत्वगुण स्वच्छ और सबका प्रकाशक तथा शान्त है। इस कारण सुख (सु=सुन्दर +ख=शून्य अर्थात् कष्ट विहीन अवकाश अवस्था) के साथ और ज्ञानके साथ मेल कराता है, अर्थात् मैं सुखी हू, मैं ज्ञानी हूं, इत्याकार मनोवृत्ति उत्पन्न करता है। इस मिलनका नाम उपद्रव वा वन्धन है, क्योंकि मैं अवधि रहित महान्के सिवा और कुछ भी नहीं हूँ। तथापि दूसरी एक अवस्तुको सुख नाम देकर "मैं" के साथ मिलाता है, जिस 'मैं' में और कुछ आनेकी जगह नहीं है। फिर ज्ञानके साथ भी मिला देता है। यह जो आत्मविस्मृति (भ्रम) है, यही वन्धन है।

ज्ञान शब्दमें ज, ञ, आ, न ये चार वर्ण हैं। इनमेंसे ज का अर्थ जायमान अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति, नाशशील जो कुछ है वही और ञ का अर्थ है गन्धाणु, अर्थात् पञ्चतन्मात्रा, शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्धकी मिश्रित क्रिया जिसमें प्रकाश पाती है वही। यह दोनों वर्ण मिलकर 'ज्ञ' हुआ। इस 'ज्ञ' शब्दका अर्थ हैं उत्पत्ति, स्थिति, नाशशील, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध

युक्त जो कुछ है। 'आ' वर्णका अर्थ हैं आसक्ति और 'न' वर्णका अर्थ है नास्ति। तब ज्ञान शब्दका अर्थ हुआ—उत्पत्ति। स्थिति, नाशशील, शब्द, स्पर्श, रूप, रस; गन्ध युक्त जो कुछ है, उसमें आसक्ति न रहनेकी अवस्था। जो इस ज्ञानके साथ मिला देता है, वही सत्वगुण है। अब साधको समझ लो कि सुखके साथ और ज्ञानके साथ मिलकर जो बन्धन है, वह कैसा हैं?

शिष्य—हे कृपालु गुरु! आपने रजोगुणका जो वर्णन किया, उसका पूरा चित्र मेरे हृदयमें आपकी कृपा कटाक्षसे चित्रित हो गया है, पर अब सत्वगुणका स्वरूप देखनेकी मैं इच्छा करता हूँ, वह कृपाकर समझाइये।

गुरु—हे पुत्र! तेरा प्रश्न सुनकर मुझे आनन्द होता है, बारम्बार जिस जिस विषयका तू प्रश्न करता है, उस प्रश्नके समाधानसे तेरा हृदय पवित्र होता जाता है और इसी कारण तेरे प्रति मेरी ममता है।

हे भाई! योगी लोग सत्वगुणसे ही स्थिरता पाते हैं। इस सत्वगुणसे ही परमेश्वरका ज्ञान होता है, यही सत्वगुण उत्तम गति देनेवाला तथा सायुज्य मुक्ति प्राप्त करनेवाला है, परमार्थका मण्डन, महन्तोंका भूषण सत्वगुण है, रज और तम इन गुणोंसे अधम स्थिति प्राप्त होती है, अधम स्थितिको विदारण करनेवाला सत्वगुण है। हे भाई! यह सत्वगुण आनन्दकी लहरें उठानेवाला, जन्म मरण दूर करनेवाला, परलोकका मार्ग बतानेवाला और उत्कृष्ट ज्ञानरूप नौका दिखानेवाला है।

यह सत्वगुण संसारका दुःख मिटानेवाला, भक्तिका निर्मल मार्ग दिखानेवाला, भजन क्रियामें आनन्द दिखानेवाला, परमार्थ पर प्यार उपजानेवाला, ईश्वरपर भाव रखनेवाला, परोपकारके कार्यमें तत्पर रखनेवाला, स्नान संध्यादिमें दृढ़ वृत्ति करानेवाला, अन्तःकरणसे वासनाकी मलिनता निवारण करनेवाला, यज्ञ करने और करानेवाला, दशास्त्रके ऊपर वृत्ति और दृष्टि रखवानेवाला है।

हे शिष्य! सुन, जो त्यागी पुरुष है अर्थात् जिसने ज्ञानेन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले विकारोंका त्याग किया है तथा जिसने इस जगतके मिथ्या सुखके साधन, उसका जगत्का व्यवहार त्याग किया है, तथा सुत, वित, दारा, और माता पिताका ममत्व त्याग किया है तथा षड्विकाररूपी दुर्जनोंका त्याग किया है, उसको त्यागी कहा जाता है। वह त्यागी और गृहस्थाश्रमी अर्थात् जगतमें रहकर सुत वित बन्धु स्वजन पक्ष समूहमें रहकर जगतको नीतियुक्त व्यवहारमें चलनेवाला है, उस गृहस्थाश्रमी पुरुषमे तत्वगुणका निवास सदा एक रंग रहता है। गृहस्थाश्रममें रहकर सतोगुणी मनुष्य साधु सन्तोंकी सेवा करेगा, वह घोड़ा, हाथी, गाय तथा वस्त्रालङ्कारादि रत्नोंका दान करेगा; विद्वान ब्राह्मणोंके मुखसे वेद मन्त्र उच्चारण कराकर उन्हें सन्तुष्ट करेगा, अनेक तीर्थोंमें जाकर स्नान करके पवित्र स्थानोंमें जाकर श्रद्धायुक्त वन्दन करेगा, सन्त समागमके लिये उसके अन्त.करणमें पवित्र श्रद्धा

रहेगी, यथाशक्ति दान करेगा; द्रव्यकी शक्ति पूर्ण हो तो देवालय मन्दिर बनवावेगा। निष्काम वृत्तिसे तीर्थयात्रा व उपवास करेगा, ब्रह्म भोजन करावेगा, तीर्थोंमें स्नान दान करेगा; बावरी, कूप, तालाव; सरोवर आदि लोगोंके कल्याणके लिये बनवावेगा, साधु सन्त और यात्रियोंके रहनेके लिये धर्मशाला बनवावेगा, बाग बगीचा और छायादार वृक्ष लगावेगा, तपस्वियोंको शान्त करेगा, देश-हितकी सदा चिन्ता रखकर अपनी शक्तिभर उपाय करेगा, निरभिमान रहकर सबसे समान व्यवहार और प्रेम दरसावेगा।

परोपकारके काम नौकरकी भांति करेगा, योगी और ज्ञानी पुरुषोंका अन्तःकरण प्रसन्न रखेगा, धनका मद त्यागकर निष्काम वृत्तिसे सन् शास्त्र पढ़ेगा, सन्त और वृद्ध ज्ञानी पुरुषोंके चरणोंकी रज अपने मस्तकपर चढ़ावेगा, यह शरीर नाशवान है, यह समझकर सत्कर्म करेगा, अनेक प्रकारके भोग विलासोंपरसे वृत्ति उठाकर सदा उदासीन वृत्तिसे रहेगा, इस प्रकारकी स्थितिवाला सत्वगुणी कहलाता है।

और शान्ति, दया, क्षमा, आर्जव इन गुणोंसे जो युक्त रहता है उसे जानना कि इसमें सत्वगुण है, अपने दरवाजेपर अतिथि वा अभ्यागत आया हो तो उसे भूखा न जाने देवे, जो सत्वगुणी और ज्ञानी हो और यात्रासे थक गया हो, उसे सत्कार पूर्वक अपने यहां ठहरावे, ऐसी बुद्धिवाला सत्वगुणी कहलाता है। जिसने जिह्वाको जीता है, जिसकी वासना तृप्त हुई है, जो

निराश है, जिसने मनके संकल्प विकल्पोंको दवाया है, वह तो सत्वगुणी होनाही चाहिये, ईश्वरको जाननेके लिये जिसने देहादिक विषयेन्द्रियोंका त्याग किया है, उसे सत्वगुणी जानना चाहिये ।

शरीर चाहे जैसे संकटमें आपड़े पर भूख और प्याससे घवाड़वे नहीं, और अन्तरमें ईश्वरपरही जिसका विश्वास रहे वह सतोगुणी है, श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा समाधान पाकर जिसे शुद्ध आत्मज्ञान हो वह सतोगुणी होता है, सबसे नम्रतासे बोले, धर्मकी मर्यादा रखकर सबसे नीति पूर्वक वर्ते, लोगोंको संतोष देवे, अन्तरमें अहंकार न रक्खे, ज्ञान, वैराग्य, दया हो, सबके साथ मित्रता हो, परोपकारमें तत्पर हो अपना काम छोड़कर परकाम करनेमे तत्पर रहे, पराये गुणदोष मनमें न लावे, सागर समान गंभीर जिसका पेट हो, नीचके कटु और हलके बोल सहकर प्रत्युत्तर न दे, ऐसा शान्त हो, क्रोधरूप विषका प्रासन करके हजम करनेवाला हो, अवगुण करनेवालेके ऊपर क्षमा हो, दुर्जनपर द्वेष करनेवाला न हो, अपनी निन्दा करनेवालेका उपकार माननेवाला हो, मनको वश करनेवाला हो, दुर्वलकी मदद करनेवाला हो, वह सत्व-गुणी कहा जाता है।

शिष्य— हे गुरु ! जो त्यागी (विरक्त) साधु है उसके अंतः-करणमें जो सत्व गुण है उस त्यागवृत्ति द्वाराही सत्वगुणका भास होता है ।

गुरु—हे शिष्य! मैं तुम्हें त्यागी पुरुषके हृदयस्थलमें सत्व-गुणके निवाससे साधुवृत्तिका दर्शन कराता हूँ और उसकी एक वार्ता कहता हूँ सो सुन।

श्रद्धापुर नामक एक उत्तम नगर था। उस नगरके चारो तरफ पर्वत श्रेणी थी। उस पर्वतपर अनेक प्रकारके वृक्ष और लताएं शोभायमान थीं, उस पर्वतपर सजीवन जलके झरने सदा झरते रहते थे, वह सब मिलकर दीर्घ श्रेणी नामक नदी उस नगरके दक्षिण भागमें बहती थी, उस नगरमें चारों वेदोंके ज्ञाता ब्राह्मण रहते थे। उनमें विश्वदत्त नामक ब्राह्मण गृहस्थाश्रमी, विद्वान, पंडित षट्शास्त्र संपन्न था, अनेक प्रकारके पुराण वांचकर श्रोताओंको मन रंजन करता था। एक समय वह अपने यजमानके यहां शिवालयमें शिवलिङ्गका स्थापन करनेके लिये बुलाया गया। उसका यजमान विश्वपुर नामक ग्राममें रहता था जो उसके गांवसे १२ कोसपर था। विश्वपुरकी ओरका मार्ग बड़ा विकट था। इस कारण उसने एक हथियारबंद मनुष्य अपनी रक्षाके लिये साथ ले लिया और उसीके कंधेपर खाने पीनेके सामानकी पोटली रख दी थी।

दोनो जने बातें करते हुए जा रहे थे। इस प्रकार वे कुछ दूर तक चले गये। अब अत्यन्त विकट स्थान आया। दोपहाड़ियोंके बीचमें पगडंडी थी। इस समय डेढ़ पहर दिन चढ़ा था, तथापि वहांपर क्रूर जन्तुओंका भय अवश्य था, पर उस प्रदेशमें रहने वालोंका अंतःकरण हिम्मतवाला होनेके कारण जगदीश्वरका नाम लेकर

दोनों उस मार्गमें चले, और ३ कोसतक उस भयानक मार्गमें गये अब उन दोपहाड़ियोंके बीचमें एक बड़ी झाड़ी मिले उसमें ऐसे घने वृक्ष थें कि जिनकी सघनताके कारण सूर्यकी धूप भी उसमें प्रवेश नहीं कर सकती थी। इन दोनों मुसाफिरोंको प्यास लग रही थी, और मध्याह्न काल वीत गया था, इस कारण भूख भी लग रही थी। इतनेमें उन्हें एक बड़ा सरोवर दिखाई पड़ा। उस सरोवरके किनारे विश्वद्त्त ब्राह्मण अपने सिपाहीके साथ जा पहुंचा। सरोवरसे इच्छा पूर्वक जल पिया और एक लोटेमें जल भर लिया, और वहीं वृक्षकी छायामें बैठकर भोजन भी कर लेना स्थिर कर सरोवरके किनारे एक वटवृक्षके नीचे दोनों आदमी कुछ देर तक खड़े रहे। इतनेमें उस वृक्षके नीचे सूखे पत्तोंपर एक दिगम्बर नग्न साधुको उन्होंने सोते हुए देखा, वह आपने आनंदमें मस्त था। ये लोग उस साधुके पास जा खडे हुए, और जब ध्यान पूर्वक उसे देखा तो जान पड़ा कि उस साधुकी दायीं टांग सड़ी हुई है। जिसमें दो दो अंगुल गढ़े पड़ रहे थे, और बहुत सूजन आनेसे खाल भी उपड़ गई थी, घावोंमें कीड़े अनगिनत किलबिला रहे थे, राध वह रही थी। यदि उस राधके साथ कोई जन्तु नीचे गिर पड़ता तो उसे धीरेसे उठाकर वह साधु उसी घावमें रख देता था। यह तमाशा देखकर समीप खड़े हुए विश्वदत्तको बड़ा आश्चर्य हुआ। यद्यपि ये दोनों उस साधुके समीप ही खड़े थे, तो भी उस मस्त साधुने उनकी ओर बिलकुल निगाह नहीं की थी। उसकी दृष्टि केवल

आकाशकी ओर थी, कभी वह खिलखिलाकर हँसता था, और कभी चकित होता था, कभी वृक्षकी डालीके पत्तेकी ओर देखने लगता था, कभी वह दोनों नेत्र बंदकर स्तब्ध हो रहता था, इस साधुका शरीर हृष्ट पुष्ट था, वह बड़ा मजबूत और मोटा ताजा था, उसे देखते ही अच्छा वैद्य भी यह समझता कि इसको कोई व्याधि नहीं है, परन्तु ऐसे निर्जन स्थानमें यह उदर पोषण कैसे करता होगा और यह नग्न शरीर है, इस कारण किसी गांवमें तो जाता ही होगा, इत्यादि वह पंडित विचार करने लगा और साथही उस साधुकी टांगपर जो व्याधि है उसमेंसे जमीन पर गिर पड़नेवाले जीवोंको उठाकर घावपर रख देता है यह क्या है।

इस विषयमें भी उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। यह दशा देखकर वह मुसाफिर उस साधुसे दश हाथ अलग बैठ गया, और साथमें भोजन था उसका डिब्बा खोला। उसमें लड्डू थे, दो दो लड्डू आप और अपने साथीको दिये, पासही पलासका वृक्ष था उसके हरे हरे पत्ते तोडकर दो दोने बनाये, उनमेंसे एक दोनेमें मगदके तीन लड्डू, और दूसरेमें जल भरकर उस साधुके पास जाकर विश्वदत्तने रख दिये, और हाथ जोड़कर उसके चरणोंकी ओर खड़ा हो गया। उधर खड़े रहनेका कारण यह था कि उस साधु की मेरी ओर दृष्टि हो, तो जो वस्तु मैंने रक्खी है उसके लेनेके लिये प्रार्थना करूं। इस विचारसे वह कितनी ही देर तक खड़ा रहा। जब घड़ी पूरी हो गई तब उस साधुने मुसाफिरकी ओर

देखा और प्रसन्न वदनसे यह मस्त साधु बोला, कि अरे तू कौन है? यहां क्यों खड़ा हो रहा है? क्या विचार करता है?

विश्वदत्तने कहा—हे महाराज। मैं मुसाफिर हूँ। यहांसे ५।६ कोसपर गांव है वहां जरूरी कामके लिये जाता हूँ। मुझे भूख लगी थी और थक गया था। इस कारण भोजन करने और विश्राम करनेके लिये यहां बैठ रहा हूँ। हे महाराज! आप अपने पैरकी असह्य वेदनाके कारण यहां दुःखी होकर पड़ रहे हैं, आप संत हैं, आपको भूख लगी होगी। यह विचारकर एक दोनेमें मगद, कलीका लड्डू और दूसरे दोनेमें जल रख दिया है, सो कृपाकर आप इन्हें उपयोगमें लाइये।

साधु—हे भाई! मगद क्या चीज़ होती है?

विश्वदत्त—हे महाराज! इसमें घी, शकर और मूंगका घृतमें भुना हुआ मैदा मिला हुआ है, यह बड़ा स्वादिष्ट और क्षुधाको शान्त करनेवाला है, इस कारण आप इसे पाइये और जल पीजिये।

साधु—यह पदार्थ स्वादिष्ट है, इसकी परीक्षा कौन कर सकता है, सो तुम जानते हो?

विश्वदत्त—(थोड़ी देर विचार करनेके बाद) महाराज! इसकी परीक्षा जीभ करती है।

साधु—जीभको तो कुछ भूख-प्यास नहीं लगती और न स्वादकी ज़रूरत पड़ती है।

विश्वदत्त—तो फिर उस स्वादको कौन जानता है?

साधु—स्वादकी परीक्षा जीभ करती है, हे मुसाफिर ; पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं, उनमेंसे जीभ स्वाद (रस) को जानती है। पर मेरी जीभ तो ऐसे स्वादकी इच्छा नहीं रखती है।

ये वातें कर ही रहे थे, कि इतनेमें वहांपर एक और बटोही जो भिक्षुक था आ निकला, उसको दो दिनसे भोजन नहीं मिला था, वह अनायास वहां आगे आकर खड़ा हो गया, और उसने मगदके लड्डू एक दोनेमें रक्खे हुए देखे, इससे वह वहीं बैठ गया, कि किसी प्रकार ये मुझे खानेको मिल जावें तो अच्छा हो। इस इच्छासे वह इकटक दृष्टिसे दोनेकी ओर देखने लगा, पर भूख ऐसी भोंड़ी है कि सारे शरीरको निस्तेज और निर्बल कर डालती है, तो भी उस दीन मुसाफिरकी ओर दृष्टि करके उस मस्त महात्माने कहा कि हे महात्मा ! तुम भूखे होगे, अतएव यह दोनों लड्डू और जल उठा लो, और अपनी आत्माको शान्त करो। महात्माका वचन सुनते ही उस भिखारीने झट दोना उठा लिया। यह तमाशा देखकर विश्वदत्तको बड़ा आश्चर्य हुआ, उसने जल्दीसे भोजन किया और भोजन करके मस्त साधुकी सेवा करनेकी इच्छा की। इस कारण साधुके पास जाकर विश्वदत्त बोला कि हे महाराज ! आपकी टाँगके नीचेका भाग बिलकुल सड़ गया है, जिसमें सैकड़ों जीव खदबद कर रहे हैं ; हजारों घाव हो रहे हैं जिसमेंसे पीव बह रहा है, ये कीड़े आपका सारा पैर खा जायँगे, आप दुःखी होते हैं, इसलिये आपकी आज्ञा हो तो

इस सरोवरमेंसे निर्मल जल लाकर सब घाव धो डालूं, और इसमें जो जीव पड़े हुए हैं, इनको निकाल डालूँ, इनको न साफ करनेके बाद यह वनस्पति, जिसको मेघनाद कहते हैं उसका रस निचोड़ कर ऊपरसे उसीकी पट्टी बाँध दूँगा, तो फिर इसमें कीड़े नहीं पड़ेंगे, और घाव सूख जायगा। महाराज! आपके दुःखसे मेरा अन्तःकरण खिन्न होता है। जो जीव खदबद करते ज़मीनपर पड़ जाते हैं, उन्हें उठाकर आप फिर घावपर रख लेते हो, इस प्रकारसे तो यह पग सड़कर कुछ दिनमे गिर जावेगा, इस कारण यह दास आपके पास खड़ा है, इसकी प्रार्थना स्वीकार करो, तो यह सेवक सेवा करनेको तय्यार है।

मस्त साधु मुसाफिर विश्वदत्तका वचन सुनकर खिल-खिलाकर हँसा और बोला कि हे मुसाफिर! तेरे हृदयमें सत्वगुणका निवास है, इससे तेरी दया वृत्ति है। भाई! इस गुणसे तुम जगत्में सुखी होगे।

विश्वदत्त—हे महाराज! मैंने जो विनती करी उसका उत्तर मुझे नहीं मिला।

मस्त साधु—हे भाई! दुःख-सुख मानना यह मनका धर्म है। इस शरीरको तो आख़िरमें मरना ही है, और 'शरीरं व्याधि मन्दिरम्' शरीरमें व्याधियाँ तो भरी हुई हैं ही, काल किसीको छोड़ता नहीं, अतएव झूठा उपचार क्यों करना चाहिये? जो जीव जिसमेंसे उत्पन्न हुआ है, वह उसीको खाकर गिरता है। इस

कारण मैं तो जीवोंकी रक्षा करता हूं, और उसीमें छोड़ देता हूं।

विश्वदत्त—हे महाराज! इस पीड़ासे आपको असह्य वेदना होती होगी।

मस्त साधु—इस वेदनाका जाननेवाला इस शरीरमें है उसको तो वेदना होती नहीं, पर ज्ञानेन्द्रियाँ ऐसा मानती हैं कि मुझको वेदना होती है। अहंपद माननेवाला जीव ऐसा मानता है कि मैं दुःखी हूं और मुझे वेदना होती है, परन्तु वह वेदना जीवको अथवा आत्माको नहीं, बल्कि शरीरको होती है, शरीरमें रहनेवाला जीव जब यह मानता है कि मुझमें वेदना होती है; तो वह बहुत दुःखी हो जाता है, पर मैं तो यह नहीं मानता कि मुझमें वेदना होती है।

विश्वदत्त—हे महाराज! आप कहते हैं सो बात ठीक है, पर जब वेदना होती है, तब चित्त स्वस्थ नहीं रहता—यह अनुभव की हुई बात है। जब भूख लगती है तब भोजनपर वृत्ति जाती है, भूखमे ईश्वरके भजनपर वृत्ति नहीं जाती, जो पंचकोश हैं, वे अपने धर्म नहीं त्यागते हैं। और मन बुद्धि आदिक जो हैं, वे पञ्चकोशोंके साथ और ज्ञानेन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध रखनेवाले हैं, तब वेदनामें चित्त गये बिना कैसे रहेगा?

मस्त साधु—शाबास मुसाफिर! तेरी शंका ठीक है, पर तू चकोर पक्षीको पूछ कि चन्द्रमाके सामने व्यर्थ क्यों देख रहा है, तू चातक पक्षीको पूछ कि स्वाति नक्षत्रके जल बिना

दूसरा जल क्यों नहीं पीता? तू कमलको देखकर निश्चय कर कि वह सूर्य्यके प्रतिबिम्बके आगे क्यों प्रफुल्लित रहता है, मछलियोंकी ओर नज़र कर कि वे जलमेंसे निकलकर क्यों मर जाती हैं? लज्जावती औषधिको देख कि वह स्पर्श करते ही क्यो संकुचित हो जाती है?

विश्वदत्त—हे महात्मा, चकोर, चातक, कमल, मछली और लज्जावती आदिमें यह स्वभाविक गुण जो हैं, वे गुणके अनुसार काम करती हैं, परन्तु जो गुण मनुष्य-देहमें हैं वे ऊपर कहे हुए प्राणियोंमें नहीं हैं, इस कारण यह दृष्टान्त इस देहके ऊपर कैसे घट सकेगा?

मस्त साधु—जबतक अनुभव नही होता, तबतक खबर नहीं पड़ सकती, शरीरके जो धर्म हैं, तथा ज्ञानेन्द्रियोंके जो धर्म हैं वे, और विषय-विकारादि जो व्यापार हैं, वे सब विवेक पूर्वक मनसे हटाये जा सकते हैं। तब फिर जो कुछ होता है, वह अनुभव करनेसे ही जाना जा सकता है। तब ही दुःख सहन करनेकी शक्ति और अभ्यास होता है।

विश्वदत्त—शरीरमे पीड़ा होने देनेसे मन व्यग्र रहता है, और शरीर अच्छा होता है तो आनंद प्राप्त होता है, तिसपरभी आप त्यागी हैं, मस्त हैं, इस कारण आपके आनंद प्राप्तिके लिये शरीरका अच्छा होना नितान्त आवश्यक है। हे महाराज! जो जीव-जंतु आपकी टांगके घावमें पड़ते हैं, उनको यदि उसमेंसे निकाल दिया जाये, तब तो कोई बुराईकी बात नहीं होगी।

मस्त साधु—जो जीव हमारे स्थूल शरीरमें हैं, वही जीव तमाम प्राणियोंमें हैं। तब फिर उस जीवको क्यों मारना चाहिये? कुदरतके योगसे पीड़ा हुई है और कुदरत हीके योगसे वह जीव अपने आप स्थूलमेंसे निकलेंगे और कुदरतसेही जैसा पैर था वैसा होगा, ऐसा विचार क्यों न रखना चाहिये?

विश्वदत्त—हां महाराज! कुदरतके योग (रासायिनिक संयोग) से चातुर्मासमे अनंत जीव होते हैं और वे जीव जब गर्मी पड़ती है, तब कुदरतसे (अपने आप) ही मर जाते हैं। हम चलते हैं, उससे भी जीव मरते हैं और अनंत जीव पेटमें जाते हैं। हमारे पेटमे भी कृमि आदि जीव हैं, हे महाराज! वे सब अपने आप पैदा होते और मरते रहते हैं, मैं भी प्राकृतिक बुद्धि अनुसार आगे पैरको अच्छा करूँगा और जीव मरेंगे। इसमें क्या दोष होता है?

साधु—हां, अपने आप भले ही मरें, पर अपने हाथसे जीवोंका नाश करना उचित नहीं। इच्छापूर्वक बुद्धिसे जान-बूझकर जीवोंका नाश करना ही दोष है।

इतनेमें लकड़ियोंका दो मनका भार सिरपर रक्खे हुए एक लकड़हारा वहाँ आया और उस बड़के नीचे विश्राम लेने लगा। उसने अपना बोझा एक तरफ रख दिया और खड़ा हो गया। उसे देख मस्त साधुने उससे पूछा—भाई! तू यह लकड़ीका बोझा लेकर कितनी दूरसे चला आता है?

लकड़हारा—महाराज! मैं तो ५।६ कोससे चला आ रहा हूँ।

मस्त साधु—अरे भाई! लकड़ियोंकी तो यहां भी कमी नहीं है। तव तू इतनी दूर क्यों गया था?

लकड़हारा—महाराज! इस जंगलमें सूखे पेड़ नहीं हैं, मैं तो सूखी लकड़ी काटने गया था।

मस्त साधु—ठीक ठीक। ये वातें होही रही थीं, इतनेमें उसी मार्गसे आनंदसे नाचता-कूदता और परस्पर वातें करता हुआ तीन चार कोलोंका टोल नये-नये गीत गाता हुआ आ रहा था। वे लोग भी उसी वड़के नीचे सरोवरपर जल पीनेको खड़े हो रहे। उन्हें देखकर मस्त साधुने पूछा कि भाई! तुम वड़े आनंदमें मस्त जान पड़ते हो!

कोलोंने कहा—आज हमने लकड़ियोंके वोझ वेचे तो हमको दूने दाम मिले हैं, इस कारण कलके खानेको खर्च हमारे पास हो गया है, इसीसे हम खुश हो रहे हैं। फिर परसोंकी वात परसों देखी जायगी। यह कहकर वह कोल लोग और वह लकड़हारा अपना भार सरपर रखकर चले गये।

अव उस मस्त साधुने उस मुसाफिरसे कहा—हे मुसाफिर! तेरे मनमें जो-जो शंकाएँ हुई थीं, उनका समाधान तो इन लकड़हारोंने कर दिया।

विश्वदत्त—कहिये महाराज! किस प्रकार? मेरी समझमें तो आया नहीं?

मस्त साधु—क्या तू दो मनका भार उठाकर ५।६ कोस तक ले जायगा?

विश्वदत्त—नहीं महाराज! मैं तो दस कदम हीमें अधमरा हो जाऊंगा।

मस्त साधु—तो फिर यह लकड़हारा (कोल) क्यों नहीं मर गया! और जो दुःख तू मानता है, वह दुःख उसने क्यों नहीं माना?

विश्वदत्त—हे महाराज! आपका कहना सत्य है, कि अभ्याससे दृढ़ शरीर और दृढ़ चित्त होता है।

मस्त साधु—हे मुसाफिर! ये जगत् झूठा है। स्वप्नके सदृश है। इसी प्रकार यह शरीर भी नाशवंत है और इस नाशवंतमें जो-जो रचना देखनेमें आती हैं, वह सब प्रकृतिका चित्र समझाती हैं, जैसा कि तू आप दुःखी होता है, वैसा ही दूसरोंको भी दुःखी समझता है और अपनेको दुःखी न मानकर पराये दुःखका निवारण करना यही उत्तम धर्म है। क्योंकि सब लोग समान वृत्तिवाले नहीं होते हैं। देखो उन लड़की बेचनेवालोंको केवल एकही दिनके भोजन योग्य पैसे अधिक मिल गये थे, इससे उनको कितना बड़ा आनंद है! पर वह आनंद थोड़ी ही देर तकका है, क्यों कि उनको तीसरे दिन पेट पोषणके लिये फिर वही कार्य करना होगा, परन्तु जो आनन्द विग्रह रहित तथा उपाधि रहित है, उस आनन्दपर व्याधि और उपाधि कुछ भी असर नही करती। हे मुसाफिर! तू जिस कामके लिये जाता है, उस कामके बदलेमें, काम करनेके बाद जो कुछ पैसा मिलनेकी तू इच्छा

रखता है, उससे यदि कुछ अधिक मिलेगा तो तुझे भी आनंद मिलेगा परन्तु वह आनन्द क्षणभरका होगा, परन्तु जो गृहस्था-श्रमी पुरुष सुख दुःखको समान माननेवाला, राग द्वेष रहित और सत्व गुणवाला है, वह निरन्तर आनन्दमें रहता है। हे मुसाफिर! मैं अन्नकी परवाह नहीं रखता हूं, इस स्थूल शरीरमें जो अन्नमय कोश है, उसे सूखे पत्ते, बड़के, नीमके, इमलीके और कंद मूल फल फूल जिनको तपस्वियोंके सिवाय अन्य लोग जान भी नहीं सकते, इनका प्रयोग करते हैं। जिनके लिये अग्नि और काष्ठकी भी आवश्यकता नहीं पड़ती। हे मुसाफिर! मनको वश करनेकी शक्ति तथा इस शारीरिकि व्याधिकी लापरवाही रखनेकी शक्ति यह सब अभ्यास पर निर्भर है। साथ ही दया, क्षमा, नम्रता और समदर्शीपन भी अवश्य चाहिये। इसी कारण इस नाशवंत शरीरमें एक जीवके लिये अनेक जीवोंका नाश करना मैं पसंद नहीं करता हूं। मेरे पैरमें तू जितना दुःख देखता है, उतना दुःख मैं नहीं देखता हूं। इस जंगलमें पड़ा रहनेका जो सुख मैं मानता हूं, उस सुख माननेके अनुभवका तूने अभ्यास नहीं किया हैं, इस कारण जिस स्थितिमें मैं आनंद मानता हूं, उसीमें मैं मस्त रहता हूं।" मस्त साधुका वचन सुनकर उसके आस पास प्रदक्षिणा कर और दंडवत् प्रणाम करके आज्ञा मांग कर विश्वदत्त आगे चला गया।

हे शिष्य! यह दृष्टान्त मैंने तुझे सत्वगुणी साधुका दिया है अर्थात् त्यागी साधु जो सतोगुणी होता है, वह जंगलमें

निवास करके भी आत्माका ही शोधन करता है। वह अहं भेद रहित, नम्र और निष्पक्ष पात होता है और गृहस्थाश्रमी जन मुसाफिरके समान हैं जो कि साधुकी सेवाके लिये तत्पर हुआ था, और साधुसे नम्रता पूर्वक अपनी शंका समाधानका संवाद किया था। अतएव हे शिष्य ! सत्वगुणका स्वरूप इस प्रकारका समझ लेना चाहिये ।

सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एवच।
प्रमाद मोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥गीता १४।१७
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्य गुण वृत्तस्था अधो गच्छन्ति तामसा ॥ १८ ॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देह समुद्भवान्।
जन्म मृत्यु जरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

सतोगुणका प्रकाश होनेसे "मैं" को समझा देता है कि यह "मैं" क्या है। उसे जाननेका नाम ही ज्ञान है। रजोगुणमें पराये द्रव्यको किसी प्रकारसे अपना कर लेनेकी लालसा बढ़ती है और तामसिक अवस्था प्रमाद मोह और अज्ञानताकी लीला भूमि है ॥

सत्वगुणमें स्थित साधक गण ऊर्ध्व गति (स्वर्गके निम्नस्तरसे आदि लेकर विष्णुदेवताके गोलकादिस्थान भोग, परब्रह्ममें लय पर्यन्त) को प्राप्त होते हैं। इसका लीला क्षेत्र आज्ञाचक्रसे प्रारम्भ होकर ऊंची दिशामें है। रजोगुणमें रहनेसे वासनाके वश कामकाज करना पड़ता है, इसलिये

रजोगुणी मनुष्य न ऊंचे न नीचे मध्य भागके लोकमें (कर्मभूमि मनुष्य लोकमें) रहकर जन्म मृत्युके अधीन होकर आवागमन-में लगे रहते हैं। इसका लीला क्षेत्र अनाहत चक्र है। जघन कहते हैं कटिदेशकी सन्मुख दिशाके निम्न स्थानको तमोगुणका लीलाक्षेत्र कामपुर चक्र होनेसे इसको जघन्य कहते हैं। मूर्त्ति मान काम और रति इस चक्रमें निवास करते हैं। यह रति और काम मिलित वृत्तियां जिसके अन्तःकरणमें खेलती रहती हैं, उसको जघन्य गुण वृत्तिस्थ कहते हैं। इनका लक्ष्य ऊर्ध्व दिशामें न रहकर अधोदिशामे रहता है, इस लिये अधोगतिको प्राप्त होता है। गीताके प्रथम श्लोककी व्याख्या देखो। ऊपरके वर्णनसे समझा जाता है कि यह तीन गुण ही कार्य कारण और विषय वनकर रूप वदलते हुए वहुरूपियेका खेल खेलते रहते हैं। वालू, मिट्टी, पत्थर आदिमें निर्जीवका और मनुष्य पशु पक्षी आदिमें सजीवका दृश्य दिखाकर एक जगत खड़ा करके झगड़ा करते हैं। इस झगड़ेका कर्ता भी उन तीन गुणोंके सिवा और कोई नहीं हैं। दृढ़ अभ्यासके वलसे जो विद्वान इन तीन गुणोंको ही उन सव अवस्थाओंका कर्ता रूपसे प्रत्यक्ष करते हैं तथा गुणोंसे अतीत साक्षी स्वरूप आत्माको जानते हैं वह पुरुष ही उन गुण व्यापारोंके साक्षी होकर "मैं" का स्वरूप अर्थात, "वासुदेवः सर्वमिति" इस अपरोक्ष ज्ञानको प्राप्त होते हैं अर्थात उन तीन गुणोंके वनाये हुए स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरमें उस विद्वानको वह परिचित गुण समूह फिर छिपाकर नहीं रख

सकते हैं। उसके सामने उन तीन गुणोंका टूटा हुआ इन्द्रजाल फिर जुड़ नहीं सकता। देह ही उत्पन्न होकर जन्म, मृत्यु जरा दुःख भोग करवाता है। परन्तु जब उस देहके उत्पन्न होनेका कारण ही नष्ट होगया तब फिर कार्य प्रकाश नहीं होता है। भोगाधारके अभावसे (देह-ज्ञान न रहनेसे) जन्म मृत्यु जरा व्याधि आदि जो दुःखके अनुत्थान हैं (न उठना है) उसीको त्रिगुण तीन स्वरूप प्राप्ति तथा देहीका अमरत्व लाभ वा मुक्ति कहते हैं। वही होता भी है।

अर्जुन उवाच—कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणो नेतानतीतो भवति प्रभो।
किमा चारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानति वर्तते ॥ २१॥

गुण कर्म और विकारके नाशसे चलने फिरनेमें अध्यस्त साधक।

गुणातीत अवस्थावालेका चाल-चलन स्थिति और देह धारण करके अमृतभोग करनेवालोंके चिन्ह और आचार कैसे होते हैं? और इन तीन गुणोंका अतिक्रमण किस प्रकार होता है? गुणातीत महात्माओंको किस लक्षणसे पहचाना जाता है? अर्थात् उनके आचार व्यवहार कहिये।

श्रीभगवानुवाच।

प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेवच पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि ननिवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥
उदासीन वदासीनो गुणैर्योनि विचाल्यते।

गुणावन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेंगते ॥ २३ ॥
सम दुःख सुखः स्वस्थः समलोष्टास्म काञ्चनः ।
तुल्यप्रिया प्रियोधीरः तुल्य निन्दात्म संस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयो स्तुल्यः तुल्योमित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भ परित्यागी गुणातीतः सउच्यते ॥ २५ ॥

हे पाण्डव ! जो प्रकाश (सत्वकार्य) और प्रवृत्ति (रजोगुणका कार्य) और मोह (तमोगुणका कार्य) हैं इनमें जो साधक अनुराग वा विराग (द्वेष) न करके उदासीनवत रहते हैं। गुण समूहके कार्य द्वारा विचलित नहीं होते, बल्कि समझते हैं कि गुण भी गुण हैं और गुणोंके कार्य समूह भी रूपान्तरित गुण हैं, इस प्रकार समझकर स्थिर भावमें रहते हैं, चञ्चल नहीं होते, सुख दुःखमें जिस साधकको समान ज्ञान है, जो साधक स्वस्थ (आत्मामें स्थित) है। ढेला, पत्थर और सुवर्णमें जिसका समान ज्ञान है, प्रिय और अप्रिय जिनके लिये बराबर हैं, जो धीर हैं, जो निन्दा और प्रशंसामें तुल्य, मान अपमानमें तुल्य हैं, मित्र और शत्रुपक्षमें भी जिनका समान ज्ञान है, और सब प्रकारके उद्यमके परित्यागी हैं, वही गुणातीत कहे जाते हैं। इस प्रकार जो महात्मा स्वरूप प्राप्त होनेके लिये प्रवृत्तिका त्याग और कष्ट तथा मूढ़त्वका लोप करनेके लिये निवृत्तिकी आकांक्षा करे, वही गुणातीत हैं।

जो ऊँचे स्थानपर बैठा है, उसको नीचे बैठा हुआ जिस प्रकार छू नहीं सकता, तैसे ही गुण और गुणोंके कार्यसे पृथक्

होकर जो साधक गुण और गुणोंके कार्य द्वारा बाधा विघ्न बोध न करे, सदा स्व स्वरूपमें स्थित रहे, प्रिय और अप्रियसे जिसके अन्तःकरणमें दुःख न हो अर्थात् जिनको निन्दा स्तुति, मान अपमान, शत्रु मित्रमें भेद बोध नहीं है, जिस साधकमें सब प्रकार प्रारम्भका ही परित्याग हो चुका, उन्हींको गुणातीत कहते हैं ॥ २२।२५ ॥

मांच योऽव्यभिचारेण भक्ति योगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यै तान् ब्रह्म भूयाय कल्पते ॥२६॥
ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

जो मेरी अनन्य भक्तियोग द्वारा सेवा करते हैं, वे इन समस्त गुणोंको सम्यक् अतिक्रम करके ब्रह्म स्वरूप प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं क्योंकि मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा (प्रतिमा) तथा अव्ययका, अमृतका, शास्वत धर्मका और ऐकान्तिक सुखका प्रतिष्ठा (आश्रय हूँ) ॥ २६।२७ ॥

यह जो "मैं" है वह अकेला है, इसमें कोई संयोग वियोग रूप व्यभिचारका छाप लगाया नहीं जा सकता। ऐसे मैंको गुरुपदिष्ट मतसे अव्यभिचारी रहकर जो साधक मिल जानेकी चेष्टा करते हैं, वे साधक समस्त गुणोंको अतिक्रम करके ब्रह्म शब्दका जो अर्थ है वही हो जाते हैं। यह ब्रह्म ऐसा है जो केवल है ही है, जिसका कोई परिमाण नहीं, जो अव्यय और चिरन्तन है जो अत्यन्त सुख है, वही ब्रह्म है।

"ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठा हं" इस वचनका अर्थ यह है कि मैं ब्रह्मकी प्रतिमा अर्थात् घनीभूत ब्रह्म वा कूटस्थ चैतन्य हूँ, जैसे घनीभूत प्रकाशको सूर्य मण्डल कहते हैं। तथापि जब वही तेज एक स्थानमें जमते-जमते, उष्णता बढ़ते-बढ़ते घनीभूत हो ज्योतिमय रूप धारण करके अग्नि शिखा कहा जाता है, तैसे ही सर्वव्यापी अति सूक्ष्म अदृश्य चैतन्यसत्वा (ब्रह्म पदार्थ) कूटस्थमें घन होकर प्रकाश रूप धारण कर 'अहं' नाम ग्रहण करता है, इसलिये इस अहं वा 'मैं' को घन चैतन्य कहते हैं। इसी कारण अरूप ब्रह्मकी प्रतिष्ठा (प्रतिमा वा मूर्त्ति) है। 'अहं' 'मैं' ब्रह्म, अव्यय स्वरूप, अन्यय, अमृत स्वरूप, शाश्वत, धर्म स्वरूप और ऐकान्तिक सुख स्वरूप है, परन्तु 'अहं' ब्रह्मकी प्रतिमा हूं। इसीलिये परमानन्दरूप यह 'अहं' कूटस्थ चैतन्य उत्तम पुरुष इन सबकी ही प्रतिष्ठा है। (स्वामी राम तीर्थके उपदेश) जो तू है सो मैं हूँ, जो मैं हूं सो तू है न कुछ जुस्तजू है। बसा राम मुझमें, मैं बसा राममें हूं, न इक है न दोहै, सदा तू ही तू है।

उठा जब कि मायाका पर्दा ये सारा।
किया गम खुशीने भी मुझसे किनारा॥
ज़ुबांको न ताक़त न मनको रसाई।
मिली मुझको अब आपनी बादशाही॥ १॥
न ग़म दुनियाँका है मुझको न दुनियाँसे किनारा है।
न लेना है न देना है न हीला है न चारा है॥

न अपनेसे मुहब्बत है न नफ़रत ग़ैरसे मुझको।
सभोंको जात हक देखूं यही मेरा नजारा है॥
शादीमें मैं शैदा हूँ गदाईमे न ग़म मुझको।
जो मिल जावे सोई अच्छा वही मेरा गुजारा है॥
न कुफ़्र इसलामसे फारिग़ न मिल्लतसे गरज मुझको।
न हिन्दू गवर मुसलिम हूँ सभोंसे पंथ न्यारा है॥२॥
अपने मज़ेकी ख़ातिर गुल छोड़ ही दिये जब।
रूये जमींके गुलशन मेरे ही बन गये सब॥
जितने जबांके रस थे कुल तर्क कर दिये जब।
बस जायके जहाँके मेरे ही बन गये सब॥
खुदके लिये जो मुझसे दीदोंकी दीद छूटी।
खुद हुस्नके तमाशे मेरे ही बन गये सब॥
निजकी गरजसे छोड़ा सुननेकी आरजूको।
अब राग और बाजे मेरे ही बन गये सब॥
अपने लिये जो छोड़ी ख्वाहिश हवाख़ोरीकी॥
बादे सबाके झोंके मेरे ही बन गये सब॥
जब बिहतरीके अपनी फिकरो ख़याल छूटे।
फिकरो ख़याल सङ्गों मेरे ही बन गये सब॥
आहा अजब तमाशा मेरा नहीं है कुछ भी।
दाग़ा नहीं जरा भी इस जिस्मो इस्मपर भी॥
ये दस्तो पा है सबके आँखें ये है तो सबकी।
दुनियांके जिस्म लेकिन मेरे ही बन गये सब॥३॥

न बाप बेटा न दोस्त दुश्मन, न आशिक और सनम किसीके।
अजब तरहकी हुई फ़राग़त, न कोई हमारा न हम किसीके॥
न कोई तालिब हुआ हमारा, न हमने दिलसे किसीको चाहा।
न हमने देखी खुशीकी लहरें, न दर्दोग़मसे कभी कराहा॥
न हमने बोया न हमने काटा, न हमने जोता न हमने गाहा।
उठा जो दिलसे भरमका पर्दा, तो उसके उठते ही फिर अहाहा!
यह बात कलकी है जो हमारा, कोई था अपना कोई बेगाना।
कहीं थे नाती कहीं थे पोते, कहीं थे दादा कहीं थे नाना॥
किसी पै फटका किसी पै कूटा, किसी पै पीसा किसी पै छाना।
उठा जो दिलसे भरमका थाना, तो फिर तभीसे ये हमने जाना॥
अभी हमारी बड़ी दुकाँ थी, अभी हमारा बड़ा कसब था।
कहीं खुशामद कहीं दरामद, कहीं तवाजै कहीं अदब था॥
बड़ी थी जात और बड़ी सफ़ात और बड़ा हसब और बड़ा नसब था।

खुदीके मिटते ही फिर जो देखा,
न कुछ हसब था न कुछ नसब था॥
अभी ये ढब था किसीसे लड़िये।
किसीके पांवों पै जाके पड़िये॥
किसीसे हकपर फिसाद करिये।
किसीसे नाहक लड़ाई लड़िये॥
अभी ये धुन थी दिल अपनेमें।
कहीं बिगड़िये कहीं झगड़िये॥

दुइके उठते ही फिर ये देखा।

कि अब जो लड़िये तो किससे लड़िये ॥४॥

उड़ा रहा हूँ मैं रङ्ग भरभर।

तरह तरहके यह सारी दुनियाँ॥

चे खूब होली मचा रखी थी।

पै अब तो हो--ली ये सारी दुनियाँ ॥

मैं सांस लेता हूं रङ्ग खुलते।

मैं चाहूं दमम अभी उड़ा दूँ ॥

अजब तमाशा है रङ्ग रलियाँ।

हैं खेल जादू है सारी दुनियाँ॥

पड़ा हूं मस्तीमें गर्क बेखुद,

न गैर आया चला न ठहरा।

नशेमें खर्राटा सा लिया था,

जो शोर बरपा है सारी दुनियां॥

भरी हैं खूबी हरेक खराबी,

में ज़र्रें ज़र्रें है महर आसा।

लड़ाई शिकवे में भी मज़े हैं,

यह ख्वाब चोखा है सारी दुनियां॥

लिफाफा देखा जो लम्बा चौड़ा,

हुआ तुहप्पर कि क्या ही होगा।

जो फाड़ देखा अहो! कहूं क्या,

हुई दी कब थी ये सारी दुनियां॥

ये राम सुनियेगा क्या कहानी,
शुरू न इसका खतम न होगा।
जो सत्य पूछो है राम ही राम,
ये महज है धोखा सारी दुनियां ॥ ५ ॥

स्वामी ब्रह्मानन्दजीके उपदेश ॥

जो ईश का उपकार था, तुझे याद हो कि न याद हो ॥
करी गर्भ में तेरी पालना, फिर दुःखसे वाहिर निकालना।
कुचियोंमें दूधका डालना, तुझे याद हो कि न याद हो ॥ जो० ॥
सूरज वा चांद सितार हैं, जल पवन भोग अपार हैं।
तेरे वास्ते ये वहा है, तुझे याद हो कि न याद हो ॥ जो०
नर जन्म ये वहु कामका, तुझको दिया वेदामका।
अव भजन उसके नामका, तुझे याद हो कि न याद हो ॥ जो०
हरिके भजन विनु वेवफ़ा, तुझको मिले न कभी नफ़ा,
ब्रह्मानन्द का कहना सफा, तुझे याद हो कि न याद हो ॥ जो०
जो नामका परताप है, तुझे याद हो कि न याद हो ॥
जव दैत्य चावुक मारिया, प्रहलाद नाम उचारिया,
नख से असुरको विदारिया, तुझे याद हो कि न याद हो ॥ जो०
ध्रुवको पिता निकाल दिया हरिनाममें मन ला दिया,
उसे अचल धाम दिला दिया, तुझे याद हो कि न याद हो ॥ जो०
गजराज पै विपता पड़ी, मनमें जपा जो हरी हरी,
ग्रह मारके मुकती करी, तुझे याद हो कि न याद हो ॥ जो०
द्रुपदी की लाज उतारिया, जव कृष्ण कृष्ण पुकारिया,

ब्रह्मानन्द चीर वधारिया, तुम्हें याद हो कि न याद हो ॥जो०॥ ७
जो मौतका दिन आयेगा, तुझे याद हो कि न याद हो ।
दुनियांमें दिलको मिला दिया, हरिके भजनको भुला दिया,
मनुषा जनमको रुला दिया, तुमें याद हो कि न याद हो ॥ जो०
जब रोग आय सतायगा, खटियामें तुझको लिटायगा,
कोई कार काम न आयेगा, तुझे याद हो कि न याद हो ॥ जो०
सुत मीत बांधव नारियां, धन माल महल अटारियां,
तेरी छूट जायगी सारियां, तुझे याद हो कि न याद हो ॥ जो०
यम दूत लेकर जायगा, तुझे नरक बीच गिरायेगा,
ब्रह्मानन्द फिर पछतायगा तुझे याद हो कि न याद हो ॥ जो० ८

ऐ ! ईश मेरी विनती अब तो सुना रही ।
दिन बीत गया बातमें अब रात आ गई ॥
मिली मनुज की देह तेरे भजनके लिये ।
घर काम काज बीच तेरी याद ना रही ॥
बालक था फिर जवान हुआ बिघर हो गया ।
मनकी मिटी न आश होत है नई नई ॥
आया था लाभके लिये दुनियांके सफरमें ।
चोरोंने लिया लूट पास खरच भी नहीं ॥
जनम मरणके फेरमें पड़ा हूं मैं सदा ।
ब्रह्मानन्द काटो फन्द नाद देरियां भई ॥ ६ ॥

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥

जिसको नहीं है बोध तो गुरु ज्ञान क्या करे।
निज रूपको जाना नहीं पुराण क्या करे॥
घट घटमें ब्रह्म जोतका परकाश हो रहा।
मिटा न द्वैत भाव तो फिर ध्यान क्या करे॥
रचना प्रभूकी देखके ज्ञानी बड़े बड़े।
पावे न कोई पार तो नादान क्या करे॥
करके दया दयालुने मनुष जनम दिया।
बन्दा न करे भजन तो भगवान क्या करे॥
सब जीव जन्तुओंमें जिसे है नहीं दया।
ब्रह्मानन्द वरत नेम पुण्य दान क्या करे॥१०॥
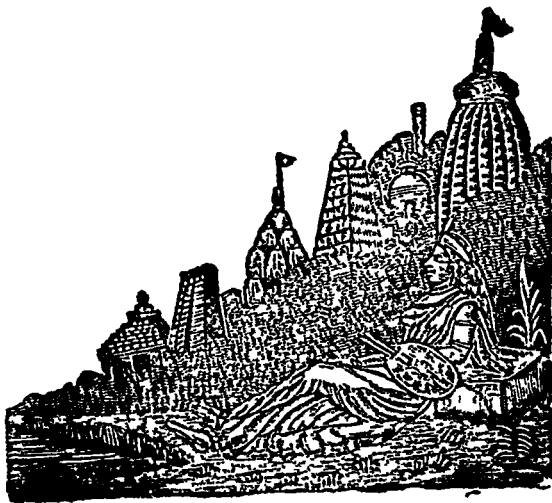
सोलहवीं लहर ।

गीता परिचय और गीताऽदर्श (परिवर्द्धित)

शिष्य—हे गुरु—पन्द्रहवीं लहरमें आपने गीताके चौदहवें अध्यायके कुछ श्लोक सुनाकर बड़ा आनन्दित किया। जिनको सुनकर गीतामें मेरी बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हुई है, अतएव अब कृपाकर यह समझाइये कि गीता क्या है? उसमें कितने अध्याय हैं, उन प्रत्येकमें क्या क्या विषय हैं? गीता भक्ति प्रधान है, वा योग अथवा ज्ञान और भाषामें गीतापर कौन कौन टीका है। कृपया उनके दो एक आदर्श (नमूने) प्रारम्भके प्रथम श्लोक पर सुनाइये फिर उनमेंसे जो मेरी बुद्धिके योग्य होगा उसीका परिशीलन करूँगा, क्योंकि संस्कृत टीका समझनेमें असमर्थ हूं। गीताका माहात्म्य भी कुछ सुनाइये।

(२) लोग कालको चक्र (पहिये) की भांति वर्णन करते हैं तो पहियेकी भांति किस प्रकार घूमता है। संक्षेप इसका भी कुछ हाल समझाइये।

गुरु—हे शिष्य। तेरे सब प्रश्नोंके उत्तर संक्षेपसे इस सोलहवीं लहरमें वर्णन किये जाते हैं और साथ यह प्रथम भाग भी समाप्त किया जाता है।

गीता परिचय ।

अवतरणिका ।

"सम्यग् जानाति वै कृष्ण कश्चित् कौन्तेय एव च ।
व्यासो वा व्यास पुत्रो वा, सञ्जयो वेत्ति वानवा ॥" इति ।

गीताका अनुशीलन करना हो तो पहले यह जानना चाहिये, कि गीता क्या है ? श्रीमत् स्वामी शङ्कराचार्य देवने स्वकीय गीता भाषाकी उपक्रमणिकामें इस विषयको विशद रूपसे विवृत किया है। गीता सेवियोंके जाननेके निमित्त, इसलिये कि गीता क्या है, वे अच्छी तरह समझ जावें, उनकी उपक्रमणिकाका अविकल अनुवाद नीचे लिखनेकी चेष्टा की जाती है।

"पर ब्रह्म नारायणसे अव्यक्त अर्थात् मूल प्रकृतिकी उत्पत्ति हुई। अव्यक्तसे एक अण्डकी उत्पत्ति हुई और उसी अण्डके भीतर इन समस्त लोक और सप्तद्वीपा मेदनीकी सृष्टि हुई।

ॐ नारायणपरोऽव्यक्ता दण्डमव्यक्त सम्भवं ।
अण्डस्यान्तस्त्विमेलोका. सप्तद्वीपाच मेदिनी ॥

इस श्लोकका ॐकार ब्रह्म है, नारायण पुरुषोत्तम है, अव्यक्त मूल प्रकृति है, अण्ड चतुर्विंशति तत्वोंकी समष्टि है और लोकाः सप्तद्वीपाच मेदिनो—चौबीस तत्वोंसे निर्मित

चतुर्दश भुवन हैं। भगवान नारायणने इस जगतकी सृष्टि करके इसकी स्थितिके लिये मरीचि प्रभृति, प्रजापतियोंका सृजन किया, और उनको वेदोक्त प्रवृत्त लक्षणाक्रान्त धर्म ग्रहण कराया। फिर सनक सनन्दनादि मुनियोंको उत्पन्न करके उनको ज्ञान और वैराग्य लक्षणाक्रान्त निवृत्ति धर्म बतलाया।

वेदोक्त धर्म दो प्रकारका है, प्रवृत्ति लक्षण और निवृत्ति लक्षण। उनमेंसे एक जो जगतका कारण है, जो प्राणियोंका साक्षात् सम्प्रदाय और निःश्रेयस अर्थात् मुक्तिका मूल कारण है, उस धर्मको दीर्घ श्रेयः कामी ब्राह्मणादि वर्णाश्रमी लोग पालन करते चले आये हैं। कुछ कालसे वर्णाश्रमियोंकी विषय-कारण वासना द्वारा उनका विवेक ज्ञान संकुचित हो जाने एवं धर्म अभिभूत और अधर्मकी वृद्धि होनेकी वजह, वह आदि कर्ता नारायण जगत्की स्थिति और पालनका अभिलाषी होकर पृथिवीस्थ ब्राह्मणोंके ब्राह्मणत्वकी रक्षा "साधुओंके साधुत्व-मनुष्यत्वकी रक्षा" के लिये देवकीके गर्भमें वसुदेवके औरससे श्रीकृष्णनाम ग्रहण कर अंशके साथ अवतीर्ण हुए। इसका कारण यह है, कि ब्राह्मणत्वकी रक्षा होनेसे वैदिक धर्मकी रक्षा होती है और उसके अधीन वर्णाश्रमकी रक्षा होती है।

"ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज सम्पन्न वह भगवान जन्ममृत्यु रहित भूत गणोंके ईश्वर और नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त-स्वभाव होकर भी त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति स्वरूपा स्वकीय वैष्णवी मायाके वशीभूत करके लोकानुग्रहके निमित्त

साधारण देह धारियोंके सदृश जन्म ग्रहण करते हैं। अपना कुछ प्रयोजन रहनेपर भी जीवोंपर दया करके शोक-मोह-सागरमें निमग्न अर्जुनको उन्होंने उस द्विविध-वैदिक धर्मका उपदेश किया, कारण कि अधिक गुणयुक्त पुरुप जिस धर्मका ग्रहण और अनुष्ठान करते हैं, उसका औरोंमें प्रचार होता है। सर्वज्ञ भगवान वेद व्यासने भगवदुपदिष्ट उस धर्मको (महा-भारतीय भीष्म पर्वके गीता पर्वाध्यायमें) सातसौ श्लोकोंमें 'गीता' नामसे सङ्कलन किया है।

"वेदार्थके सार-संग्रह रूप इस गीता शास्त्रका अर्थ दुर्विज्ञेय है। उस अर्थको खुलासा करनेके लिये वहुतेरे लोगोंने पद, पदार्थ, वाक्यार्थ और न्याय समूह विवृत किया है। परन्तु उन सबमें परस्पर अत्यन्त विरोध और अनेकार्थ बोधक होनेसे यथार्थ अर्थ निर्धारणके लिये परमहंस श्रीप्रणवानन्दजी काशीस्थ ने लौकिक अर्थको ग्रहण करके संक्षेपसे विवृत्त किया हैं। (यह पुस्तक वङ्गला और हिन्दी दोनों अक्षरोंमें छप चुकी है पर तव भी दुर्लभ हैं। मूल्य शायद ५) और ३) था। हिन्दीमें १५०० पृष्ठ को दो जिल मैंने श्रीविद्यानिधि पं० गिरधरशर्म्माजी चतुर्वेदी प्रिंसपल स० ध० सं० कालेज लाहौरके यहां देखी थी। शिव०)

"सहेतुक संसारकी अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् परामुक्ति ही इस गीता शास्त्रका मूल प्रयोजन है। सर्व कर्म संन्यास करके आत्मज्ञान निष्ठारूप धर्मके ग्रहणसे ही इसको प्राप्त किया जाता

है। इसी प्रकार गीतार्थ धर्मको उद्देश्य करके ही श्रीभगवानने अनुगीतामें कहा है कि 'जिससे ब्रह्मपद प्राप्त किया जाता है, वही सुपर्याप्त धर्म हैं।' उसमें और भी कहा है कि 'जो पुरुष एकासनमें बैठकर मौन होकर कुछ भी चिन्ता न करके पर-ब्रह्ममें लीन होते हैं, उनके लिये शुभाशुभ धर्माधर्म कुछ भी नहीं है।' और भी कहा है 'संन्यास लक्षण ही ज्ञान है।' इस गीताके अन्तिम भागमें भी अर्जुनको कहा है—'सर्व धर्मोंको परित्याग करके एकमात्र मेरे ही शरणापन्न हो जाओ। जो प्रवृति लक्षण धर्म सम्प्रदाय और वर्णाश्रमके उद्देश्यसे विहित हुआ है, वह देवादिस्थान प्राप्तिका कारण होने पर भी उसको निष्काम भावसे ईश्वरार्पण बुद्धि पूर्वक अनुष्ठान करनेसे उससे सत्व शुद्धि होती है। शुद्ध सत्व पुरुषज्ञान निष्ठाके अधिकारी होते हैं और ज्ञानोत्पत्तिसे मुक्ति लाभ होती है, इसी अर्थको लक्ष्य करके श्रीभगवानने गीतामें कहा है—'योगी लोग यतचित और जितेन्द्रिय होकर कर्म समूह—ब्रह्ममें अर्पण करके और निःशङ्क होके आत्म-शुद्धिके लिये कर्मका अनुष्ठान करते हैं।'

निःश्रेयस प्रयोजन और परमार्थ तत्व ये दो प्रकारके धर्म और परब्रह्म रूप वासुदेवको विशेष रूपसे व्यक्त करके मैंने विशिष्ट प्रयोजन सम्बन्ध अभिधेय युक्त गीता शास्त्रकी यथार्थ व्याख्या करनेकी चेष्टा की। इसलिये कि गीतार्थ अवगत होनेसे ही समस्त पुरुषार्थकी सिद्धि होती है।

श्रीमत शङ्कराचार्यजीकी उस उपक्रमणिकाका पाठ करनेसे

गीताका पूरा परिचय मिलता है। असल बात यह है कि गीता व्यासदेवकी लिखी हुई, श्रीभगवन्मुखनिःसृत श्लोकमाला है। इस कारण गीता माहात्म्यमें उक्त है "या स्वयं पद्मनाभस्य मुख-पद्माद्विनिःसृता" गीताकी भित्ति कवि कल्पना नही है, सचमुच यह ऐतिहासिक घटनामूलक है। जो लोग गीताकी ऐति-हासिकताके विषयमे तर्क वितर्क करते हैं, वह लोग दूरदर्शी नहीं हैं। गीताकी सत्यता देशकाल पात्रादिसे भी विच्छिन्न नहीं है, यह विश्वजनीन अविच्छिन्न ज्ञान-प्रवाह स्वरूप है। इस विषयमें कुछ आलोचना की जाती है।

किसी समयमें इस आर्य भूमि भारतवर्षमें श्रीकृष्ण नामक स्थूल शरीरधारी एक सर्व शक्तिमान महापुरुष आविर्भूत हुए थे, उन्होंने अपनी असाधारण शक्ति सम्पन्न कृति शिष्य अर्जुन को युद्ध क्षेत्रमें ही, इस गीता शास्त्रका उपदेश किया था। कोई कोई कहते हैं, कि युद्धक्षेत्रमें युद्ध प्रारम्भ होनेके ठीक पूर्व गीता जैसे वृहत् व्यापारका संघटन होना असम्भव है, कुरुक्षेत्र युद्धके साथ इस गीताका संस्रव कवि कल्पना मात्र है। उनको सम-झानेके लिये इतना ही कहा जा सकता है कि पहले तो श्रीकृष्ण भगवान स्वयं सर्व शक्तिमान हैं, उनका कार्य मनुष्य प्रकृतिसे अतीत है, दूसरे गीताका उपदेश करनेके समय वह योगस्थ हुए थे, अर्जुनको भी योगस्थ किया था। योगस्थ अवस्थामें सूक्ष्म शरीरमें क्रिया होती है, उस समय क्षणभरमें एक युगकी क्रिया भी हो सकती है, जैसा कि स्वप्नावस्थामें हमलोग दो एक

मिनटमें एक दीर्घकाल व्यापी बृहत् व्यापारका सम्भोग कर लेते हैं। इस कारण गीताके साथ कुरुक्षेत्र युद्धके संस्रव सम्बन्धमें सन्देह करनेका कुछ कारण नहीं है।

किसी किसीके मनमें यह भी उदय हो सकता है कि कुरुक्षेत्र युद्धके समयमें भगवानने अर्जुनको आद्यन्त गीताका उपदेश किया, उनके सम्बन्धमें सब ही सम्भव है, परन्तु क्या युद्ध करनेमें प्रवृत्त होकर योगकी आलोचनामें प्रवृत्त होना समयोचित है? इसके उत्तरमें यह कहा जाता है, कि नहीं, ऐसा नहीं। यह स्वाभाविक व्यापार—मानव प्रकृतिका अङ्ग है। किसी कर्म करनेके प्रारम्भमें मन स्वभावतः पार्श्ववर्ती और आनुषङ्गिक व्यापार और अवस्थाके वश विशेष प्रकारसे चलायमान होता है। जैसा कि किसी पवित्र देव स्थानमें किसी दुष्कर्मका अनुष्ठान करनेके लिये उद्यत होनेपर उस पवित्र स्थानके माहात्म्यसे, मन स्वभावतः एक मुहूर्तके लिये भी अनुष्ठेय कर्मका दोष गुण विचार करनेमें प्रवृत्त होता है। यहांपर भी ठीक उसी प्रकार है। अर्जुन युद्धमें प्रवृत्त हुए सही, परन्तु जिस क्षेत्रमें उनके ख्यातनामा पूर्व पुरुषगण अनेक प्रकारके धर्म कार्यका अनुष्ठान कर गये, जिसकी गौरव-स्मृति उनके हृदयमें सर्वदा जागृत थी, उसी क्षेत्रमें पदार्पण करके याग यज्ञादि न करके स्वजन और ज्ञातिनाशक कार्यमें प्रवृत्त होनेसे क्या उनके मनमें कुछ भी द्विधाभावका उदय होना सम्भव नहीं है? विशेषकर जिस कर्मका परिणाम अतीव भयावह और जीवन

संशय कर है, वैसे कठिन कार्यमें प्रवृत्त होनेसे साधारणतः अतीव उद्वेगसे आक्रान्त और संशय युक्त होकर क्षणकालके निमित्त भी कर्तव्याकर्तव्यके विचारमें "मैं—मेरा" के स्वरूप निर्णयमें स्वभावतः नियुक्त होता है। अर्जुनकी भी वैसे ही अवस्था हुई थी। इन सब संशयोंकी मीमांसा करना ज्ञानका विषय है, परन्तु योग बिना ज्ञान होता नही, और ज्ञान बिना योग भी नहीं ठहरता। यह दोनों परस्पर सापेक्ष पदार्थ हैं। अतएव ऐसी अवस्थामें युद्ध क्षेत्रमें योगका उपदेश असम्भव नहीं है।

और एक बात है। कोई ऐसा भी कह सकते हैं कि यदि गीता इतिहास और अध्यात्म शास्त्र दोनों ही हों, तो भी गीताका ऐतिहासिक व्यक्तियोंका मान व चित्तकी विविध प्रकार वृत्तियोंका नामस्वरूप गणना करना क्या कष्ट कल्पना नहीं है? इस कारण गीता अवश्य कवि कल्पना रूपक मात्र है, इतिहासके साथ वास्तवमें इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार उक्तिका उत्तर देना साधारणतः कुछ कठिन मालूम होता है, परन्तु जो लोग हिन्दू शास्त्रको मानते हैं, उनके लिये कुछ कठिन नहीं है। शास्त्रमें लिखा है और श्रीमत् स्वामी शङ्कराचार्य देव भी अपनी गीता भाष्यकी उपक्रमणिकामें कहते हैं कि भगवान भूभार हरण और धर्म राज्यका संस्थापन करनेके लिये ही (जैसे युग युगमें अवतीर्ण होते हैं वैसे ही) उस समय भी 'अंश' के साथ अवतीर्ण हुए थे। उनका अंश क्या है? वह

विश्वरूपी हैं, इस जगतमें जितने प्रकारके चरित्र होना संभव है वह समस्त ही उनका अंश है। विशेषतः जगतमे (प्रवृतिकी क्रीड़ामें) कालवश 'महता कालेन' परम्परा प्राप्त ज्ञान नष्ट हो जानेसे, उस ज्ञान धर्मको उज्वल और स्थायी रूपसे वाह्य जगतमें पुनः प्रकाश करनेके लिये, जिस जिस प्रकृति और चरित्रका प्रयोजन होता है, श्रीभगवानने आत्मविभूतिविस्तार करके उस प्रकृति और चरित्रको भी स्थूल रूपसे सृजन कर, आप भी लीलामय शरीर धारण किया था। यह कहना कि उस समय जिन सब प्रकृति और चरित्रोंको उन्होंने स्थूल रूपसे वाह्य जगतमें प्रकाश किया था, वह सब अन्तजर्गत् (मानव हृदय) में चिरन्तन वृत्ति रूपसे वर्तमान है अत्युक्ति है। अन्तजर्गतकी अनुरूप क्रिया वाह्य जगतमें प्रकाश करके धर्म संस्थापन करनेके अभिप्रायसे ही वे आविर्भूत हुए थे। इसलिये गीताको कवि कल्पित रूपक कहा नहीं जा सकता। गीतास्वयं 'पद्मनाभि' के मुखपद्मसे निकला है। जिस ज्ञानसे तीनों लोकोंका पालन होता है, गीता उसी ज्ञानकी समष्टि है (गीता ज्ञान समाश्रित्य त्रिलोकी पालयाम्यहं)। इसलिये यहां भी कोई असंगत भाव लक्ष्य नहीं होता और भी गीता उपदेशका देश, काल, पात्र "सएवायं मयातेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः। भक्तोऽसि मेसखा चेति रहस्यं ह्य तदुत्तमम् ॥४।३॥ विचार करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवानने अपने भक्त और सखा अर्जुनको कुरू क्षेत्र समरप्रांगणमें उभय पक्षके मध्य स्थानमें, गीताका उपदेश

करके उनके योग राज्यके कुरुक्षेत्रके अनुरूप ही भोगराज्यमें कुरुक्षेत्रका संगठन किया था। इसका विपरीत भाव अनुमान करके कवि कल्पित रूपक कहना ठीक नहीं है।

भगवानने अर्जुनको इस प्रकारसे गीताका उपदेश किया था, तव संजयने व्यास देवके प्रसादसे दिव्य दृष्टि प्राप्तकर श्रीष्ण मुखनिःसृत उस वचनावलीसे विदित होकर धृतराष्ट्र के निकट अविकल वर्णना की। सर्वज्ञ भगवान वेद व्यासने जगतके हितके लिये श्रीकृष्ण अर्जुनकी वही कथा सव अविकल लिपिवद्ध करके धृतराष्ट्र संजय-संवाद रूपसे महाभारतमें सन्नि-विष्टकी है। सच है कि गीताका उपदेशक वह महापुरुष स्थूल शरीर धारण करके यहां वर्तमान नहीं है, परन्तु वह सूक्ष्माति सूक्ष्म आत्म स्वरूपसे सव प्राणियोंके अन्तरमें वर्तमान है, वह नित्य है और अनादि कालसे सव प्राणियोंके हृदयमें विराजमान रहकर वंशी वजा रहा है"

वंशी विभूषित करान्नवनीरदाभात्
पीताम्वरा दरुण विम्व फला धरोष्ठात्।
पूर्णेन्दु सुन्दर मुखादरविन्दनेभात्
कृष्णात्परं किमपितत्वमहं न जाने ॥ शिव०

मनुष्य वासनाके वश होकर विषयके फंदेमें फंस जानेसे उनका वह मोहन रूप (तेज) देखनेपर जो (भूमध्यके द्विदलमें है) और वंशी (अनाहत) ध्वनि सुन नहीं पाता है। जो आत्म योगानुष्ठानसे आवरण शक्तिको हटाकर विषय अतिक्रम कर

सकेंगे, वही उस पुरुषका साक्षात्कार लाभ कर सकेंगे, वही उन भगवानको अपने शरीरके 'धर्म क्षेत्र-कुरुक्षेत्र' में प्रवृति निवृति समूहके बीचमें सारथी रूपसे पावेंगे, और उनके मुखसे निः सृत गीता श्रवण करेंगे, यह बात अभ्रान्त सत्य है, निर्मूल कल्पना नहीं है। परन्तु ऐकान्तिक चेष्टाका प्रयोजन है। उद्यमशील पाण्डवोंने भक्तिके बलसे भगवत्कृपा प्राप्त करके जिस प्रकार पृथ्वीपर राज्य स्थापन किया था, साधक भी उद्यमशील और भक्तिमान होनेपर ठीक उसी प्रकारसे भगवत्कृपा प्राप्त करके अपने शरीरमें "असपत्नं ऋधं राज्यं" अर्थात् आत्म राज्य स्थापन कर सकेंगे। इसलिये गीता एकाधारमें ऐतिहासिक घटना भी है, और आध्यात्मिक घटना भी है। इसलिये कहा गया है कि गीता इतिहास मूलक होनेपर भी अविच्छिन्न ज्ञान-प्रवाह स्वरूप है।

गीताका अधिकार

गीता ब्रह्मविद्या स्वरूपिणी है, इसलिये सर्वविद्या ही इसके अन्तर्गत हैं।

गीताकी सम्यक् आलोचना करनेसे वह कल्पवृक्षकी भांति फलदाता है। गीता समुदय शास्त्रोंका सार है, इस कारण इसका प्रत्येक श्लोक तथा प्रत्येक वाद सूत्र सदृश अनन्तभाव प्रकाशक है, अतएव गीता सर्वतोमुखी है। इसको गुरूपदेशानुसार भक्ति पूर्वक अनुशीलन करनेसे सर्व शास्त्र वेत्ता हुआ जाता है। पृथक् रूपसे अन्य किसी शास्त्रका अध्ययन करना नहीं पड़ता। एक भावसे गीताको ज्ञानमयी कहा जा सकता है। इस जगतमें कोई जो भाव लक्ष्य करता है, गीताके अवलम्बनसे वह अपने अभीष्ट पक्षको सम्यक् उद्भासित देखता है। समुदय कर्म क्षेत्रमें गीता ध्रुवज्योति सदृश नित्य और स्थिर है। इसका व्यवहार जाननेसे यह घूर्णायमान आलोक (प्रकाश) के सदृश निरन्तर इच्छित मार्गको लक्ष्य करा देती है। श्रीभगवानने स्वयं कहा है—

"गीता ज्ञाने समाश्रित्य त्रिलोकी पालयाम्यहम्।"
ये यथामां प्रपद्यन्ते तांस्तथैवभजाम्यहम्॥"

वस्तुतः गीताका यह वाक्य बिल्कुल सत्य है। गीताका व्यवहार जो जिस भावसे करेगा, वह उसी भावसे इसको अपने

अनुकूल फलदायक देखेगा। असल बात यह है, कि गीता योगीके लिये योग शास्त्र, दार्शनिकके लिये दर्शन, ज्योतिविद्के लिये ज्योतिष, वैज्ञानिकके लिये विज्ञान, नैतिकके लिये नीति और साधुके लिये सदाचार है। आर्य ऋषिके वाक्यानुसार विना संकोचसे कहा जा सकता है कि—

"ज्ञानेष्वेव समग्रेषु गीता ब्रह्म स्वरूपिणी।"

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्र विस्तरैः।

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।"

गीता जो योगशास्त्र और विज्ञान दोनों है, यह बात क्रियावान साधकको विशेष रूपसे जानना आवश्यक है; क्योंकि एक मात्र गीताका आश्रय करके ही वह ज्ञान विज्ञान वित् होकर परम कारणमे चित्त लय कर सकेंगे। इसलिये गीताके योग और विज्ञानके विषयमें कुछ अलोचना की जाती है—

गीता योग शास्त्र है—मनुष्यके चितकी अनेक वृत्तियां है। असंख्य होने पर भी उनमें ५ मुख्य हैं। शेप उन्हींके अवान्तर हैं वे पांच इस प्रकार हैं।

क्षिप्त—मनकी अस्थिर या चञ्चल अवस्थाका नाम क्षिप्त अवस्था है। इस अवस्थामें मन किसी न किसी विषयको ग्रहण और त्याग करनेहीमें लगा रहता है। स्थिर नहीं होता-यही इसका स्वभाव है।

(२) मूढ़—जब मन, काम, क्रोध, निद्रा, आलस्य प्रभृति द्वारा अभिभूत होकर कर्तव्याकर्तव्य ज्ञान-शून्य होता

है, तब ही मनकी मूढ़ावस्था हो जाती है ।

(३) विक्षिप्त—किसी एक सुखके विषयको पानेपर मन उसीमें आकृष्ट होता है और उसीको अवलम्बन करके क्षणकालके लिये स्थिर होता है। परन्तु स्वभाव-दोषके वश उसी दम फिर अस्थिर और चञ्चल हो जाता है, इस क्षण-विशिष्ट चञ्चल अवस्थाका नाम ही विक्षिप्त अवस्था है ।

(४) एकाग्र—जब मन अन्तरके अथवा बाहरके किसी एक लक्ष्यको अवलम्बन करके (रजो गुणकी चञ्चलता और तमोगुणकी अभिभूता अवस्था व निश्चेष्टता त्याग पूर्वक) केवल सत्वके सहारेसे उसी लक्ष्यमें स्थिर होकर उसीका स्वरूप प्रकाशित करता रहता है, दूसरा कुछ अवलम्बन नहीं करता, तब ही मनकी एकाग्र अवस्था कही जाती है ।

(५) निरुद्ध—और जब मन इस प्रकार एकाग्र होकर अपनेको भी भूल जाता है कोई वृत्ति या क्रिया रहती नहीं, अवलम्बन भी नहीं रहता, एक दम वृति-विहीन निरावलम्बा वस्था प्राप्त होकर अपने कारणमें मिलित वा युक्त होता है, तब ही मनकी वा चित्तकी निरुद्ध अवस्था कही जाती है।

इन पांच अवस्थाओंकी प्रथम तीन अवस्था ही साधारण हैं, शेष दो अवस्थाओंको अभ्याससे आयत्त करना पड़ता है। चित्त वृत्तिकी उस निरोध अवस्थाका नाम ही योग है। उस निरोध अवस्थाकी प्राप्तिके लिये कौन कौन अवस्था भोग करनी पड़ती हैं और पीछे क्या होता है, यही सब बात अर्थात् योगके साधन

प्रकरण तथा पूव और परावस्था ही गीतामें शुरूसे आखिरी तक (आदिसे अन्ततक) लिखी हैं। गीता अध्ययन करनेसे ही यह बात स्पष्ट मालूम होती है। इस कारण उसको सप्रमाण करना आवश्यक नहीं।

साधनाकी तीन अवस्थाएं हैं। पहले विश्वास करके क्रिया करनी पड़ती हैं, उसीसे विश्वास दृढ़ होता है। विश्वास दृढ होनेसे भक्तिका विकास होता है। भक्तिके परिपाकसे ज्ञानका उदय होता है। साधनाका यह विश्वास-भक्ति-ज्ञान ही यथा क्रमसे गीताका कर्म उपासना-ज्ञान यह तीन विभाग हैं। गीताका प्रथम ६ अध्याय कर्म, द्वितीय ६ अध्याय उपासना और अन्तिम ६ अध्याय ज्ञान है। गीता इन तीन षट्कोंमें विभक्त है।

गीताका एकके पीछे एक अध्याय योग साधनका क्रम है। योग साधनमें प्रवृत होकर साधक एक एक करके जैसी जैसी अवस्थाको प्राप्त होता है, वही गीतामें एक एक अध्याय करके लिखा है यथा—साधक मायाके वशसे 'अहंममेति' संसार मोहसे मोहित रहनेके लिये पहले ही वैराग्य द्वारा संसार-वासनाको नाश करनेमें उद्यत होते ही विषाद ग्रस्त होते हैं (१ अध्याय) सत और और असत्की पृथकता समझ करके (२ य अ०) कर्मानुष्ठानमें प्रवृत होते हैं (३ य अध्याय) उसके बाद कर्ममें अभिज्ञता (ज्ञान) प्राप्त करके (४ र्थ अ०) प्राणकं समता साधन पूर्वक शुद्धचित्त होकर कर्मका वेग नाश करते

हैं (५ य अ०) उसके पीछे स्थिर धीर अवस्था प्राप्त होकर ध्यानमें प्रवृत्त होते हैं (६ ष्ठ अ०) यही ६ अध्याय गीताका कर्म काण्ड हैं।

पश्चात ध्यानके फलसे क्रमानुसार ध्येय वस्तुका सामीप्य प्राप्तकर साधक ज्ञान विज्ञान विद् होते हैं (७ म० अ०) तत्पश्चात अपूर्ण नरा वृत्ति गति प्राप्तिके उपाय स्वरूप तारक ब्रह्म योग अवगत होता है (८ म अ०) तदनन्तर आत्माका जंगद्विलास प्रत्यक्ष करके राजविद्या राजगुह्य योगारूढ़ होकर (९ म अ०) सर्व विभूति प्रकट होती हैं (१० म अ०) परमेश्वरकी विभूति मालूम होते ही मनके उदार हो जानेसे विश्व रूप दर्शन होता है। (११ य अ०) विश्वरुपमें आत्माका अनन्त रूप दर्शन करके साधकको भक्ति वा आत्मैकानुरक्तिका चरम विकास स्वरूप आत्मज्ञान लाभ होता है। (१२ श अ०) ये ६ अध्याय ही गीताके उपासना काण्ड हैं। इनमें कर्म और ज्ञान मिला हुआ है। आत्मज्ञान लाभ होनेसे ही यथाक्रम प्रकृति पुरुषकी पृथकता (१३ श अ०) गुणत्रपकी पृथकता (१४ श अ०) क्षर अक्षर, और पुरुषोत्तमकी पृथकता (१५ श अ०) दैवासुर सम्पदकी पृथकता (१६ श, अ०) और श्रद्धात्रयकी पृथकता (१७ अ०) इन सब विषयोंका ज्ञान लाभ होता है। उसके वाद संन्यासका तत्व अवगत होकर साधक सर्व धर्म परित्याग करके मोक्ष लाभ करते हैं (१८ श अ०) ये अन्तिम ६ अध्याय गीताका ज्ञान काण्ड हैं। इससे जान पड़ता है और क्रियावान

साधक अब अच्छी तरह समझ सकेंगे कि योगानुष्ठान करनेमें यही गीता उनका एक मात्र अवलम्बन है।

गीता विज्ञान शास्त्र है—स्वभावके कार्य विषयमें विशेप प्रकार ज्ञानका नाम विज्ञान है। स्वभाव वा प्रकृति दो प्रकारकी है। जड़ वा चैतन्य। जड़ विषयमें जो विशेष ज्ञान है वह जड़ विज्ञान है। और चैतन्य विपयमें जो विशेष ज्ञान है वह चैतन्य विज्ञान है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, ये पंचभूतके जड़ाश्रय होनेसे-इनका विशेप ज्ञान जड़ विज्ञान है। और मन बुद्धि, चित्त, अहङ्कार इन चार प्रकारके चैतन्य होनेसे, इनके संबन्धमें जो विशेष ज्ञान है, उसको चैतन्य विज्ञान कहते हैं।

पांचों तत्वोंका मिश्र तथा अमिश्र क्रिया कलाप देखना और इनमेंसे स्थूलके ऊपर सूक्ष्मकी कार्यकरी शक्तिका प्रयोग तथा तत्साधनोपयोगी विविध उपाय उद्भावन प्रभृति क्रिया ही जड़ विज्ञानका विपय है। जड़ तत्वकी आलोचना करनेसे मालूम होता है कि तत्व जितना सूक्ष्म होगा, उसको संयत करनेसे स्थूल तत्वके ऊपर उसकी कार्यकरी शक्ति उतनी ही अधिक होवेगी, अब इन स्थूल पंच तत्वोसे मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार यह चार पाद विशिष्ट अन्तः करण अतिसूक्ष्म है। इस चित्तादि विशिष्ट सूक्ष्म तत्वको संयत करनेसे इन पृथिव्यादि स्थूल समूहके ऊपर किस प्रकार क्रिया करके किस जगह फल उत्पन्न करना है और इसको अपने कारणमें युक्त

करनेसे भी इसका किस प्रकार प्ररिणाम होता है, उस विषयका तत्वानुसन्धान करना ही चैतन्य विज्ञानका विषय है। जड़ विज्ञानसे केवल मात्र विषय श्री की वृद्धि होती है, परन्तु चैतन्य विज्ञानसे विषय, श्री तथा परमार्थ श्री दोनोंकी वृद्धि होती है। जड़ विज्ञान चैतन्यके ही अन्तर्गत है। चैतन्य विज्ञान विदु होनेसे सर्वज्ञत्व शक्ति आती है, जिसमें जड़ विज्ञान भी आयत्त होता हैं। ज्ञान विज्ञान विद्‌ योगियोंने निर्णय किया है कि अन्तः करणकी वृत्ति वा चित्त वृत्तिको संयत करके प्रकृति तत्वपर अरोपित करनेसे विभूति लाभ होता है और अपने कारणमें युक्त करनेसे कैवल्य प्राप्ति होती है, यह सब वैज्ञानिक तत्व एक मात्र योगानुष्ठानसे ही विदित हो सकता है। गीतामें भी उसी योग मार्गको प्रत्यक्ष कराके किस प्रकार विज्ञान विद्‌ हुआ जाता है, तथा ज्ञान लाभ किया जाता है; उसीका उपदेश किया है। गीताके चतुर्थ अध्यायका द्रव्य यज्ञ ही जड़ विज्ञान है और अन्यान्य ज्ञान यज्ञ ही चैतन्य विज्ञान हैं। इसके सिवाय, भगवत्सत्वा और उसके विश्वरूपम विभिन्न विलास ही यथा क्रमसे ज्ञान और विज्ञान रूपसे ७ म अध्यायमें वर्णित किया है। विज्ञान विद्‌ होनेसे जिस जिस विभूतिका विकास होता है वह १० म अध्यायमें वर्णित हुआ है। और ज्ञान द्वारा संन्यास अवलम्बन करनेसे जो कैवल्य स्थिति वा परा शान्ति प्राप्त होती है उसका प्रकरण १८ हवें अध्यायके ६१, ६२ और ६५, ६६, श्लोकोंमें व्यक्त हुआ है। इस गीताकी क्रिया अनुष्ठान

की जितनी आलोचना की जायगी, उससे उतना ही ज्ञात होगा कि यह (गीता)विज्ञान शास्त्रका सार है "गीतामें भक्तिका प्राधान्य आगे पृष्ठ २३ में देखिये"

गीताकी व्याख्याका कारण और उद्देश्य

पूज्यपाद श्रीशङ्कराचार्य तथा श्रीधरस्वामी प्रभृति महात्माओंने भाषा टीका आदि लिखकर गीताके रहस्यपूर्ण अर्थको सरल कर दिया है और वर्तमान कालमें भी हिन्दी वंगला प्रभृति भाषाओंमें गीताकी व्याख्या करके मानवोंका विशेष हित साधन किया है। वह सब ही टीकाएं मनुष्यकी आदरणीय हैं। उन सबके वर्तमान रहनेपर गीताके दूसरे व्याख्यान की आवश्यकता नहीं है परन्तु गीता योग शास्त्र है, जो लोग योग मार्गमें विचरण करना आरम्भ करते हैं, वे लोग इन सब भाषा टीका टिप्पिणी प्रभृतिसे अपनी क्रिया पद्धतिका यथार्थ अभ्यास प्राप्त नहीं कर सकते, इसका कारण यह है कि एक तो संस्कृतके सब लोग विद्वान नहीं हैं। दूसरे शंकराचार्य प्रभृति महात्माओंने गीताका समुदय रहस्य भेद करके भी लौकिक वहिर्मुख अर्थ प्रधान व्यक्त कर दिया है। अतः अल्पज्ञ लोग इनमें से अन्त मुर्ख अर्थको ग्रहण करनेम समर्थ नहीं होते, असलमें अब तक (इसटीकाके तयार होनेसे पूर्व) यथार्थमें कोई योग शास्त्रीय व्याख्या नहीं है। इधर योग साधनमें गीताको छोड़कर दूसरा उपाय भी नहीं है। साधक लोग जो कुछ करेंगे प्रति पदमें उनको गीताका आश्रय लेना ही पड़ेगा, नहीं तो विघ्न

ग्रस्त होंगे, परन्तु गीताका सम्पूर्ण अभिप्राय नहीं समझ सकते। इसी अभिप्रायसे यह टीका महात्मा परमहंस श्रीस्वामी प्रणवानन्द्जी महाराजने प्रकाशितकी थी और बहुत ही सरल व्याख्या इस कारण की थी कि गीता सर्व साधारणकी सम्पति है इसके भाव ग्रहणसे किसीको वञ्चित करना हमलोगोंका अभिप्राय नहीं है।

गीताके कुछ शब्दोंके अर्थ।

गीता उपनिषदोंका सार और महाभारतका अङ्ग है इस, लिये प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्म दोनों इसके अन्तर्गत हैं। प्रवृति मार्गमें केवल भोग और सृष्टि है, निवृत्ति मार्गमें त्याग और मुक्ति है। योगसाधना निवृत्ति धर्म है, गीताका योगार्थ समझना हो, तो निवृत्ति धर्मके अनुसार शब्दोंका अर्थ करना होगा। इस कारणसे प्रवृत्ति निवृत्ति मार्ग भेदसे एक ही शब्द किस तरह भिन्न भिन्न अर्थयुक्त होता है, उसको गीतामेंसे कुछ शब्दोंका अर्थ उदाहरण स्वरूप दिखाया जाता है।

(१) कर्म--विकर्म--अकर्म। कुछ करना ही 'कर्म' है। वह बाह्य क्रिया हो या आभ्यन्तरिक हो, इसमें कुछ बात नहीं है। एक कर्म करनेसे चित्तमे जिस संस्कारकी उत्पत्ति होती है, वह अवस्था भेदसे परवर्ती कर्मका पोषक, बाधक अथवा नाशक होता है। आशय यह है कि जिस प्रकार कर्मसे संस्कार

उत्पन्न हुआ है, परवर्ती कर्म उसीके अनुरूप होते ही वह संस्कार उसका (परवर्ती कर्मका) पोषक होता है। नहीं तो वाधक अथवा नाशक, यह संस्कार ही विकर्म है। यह जन्म जन्मान्तरीय कर्मों के फल होनेसे ही दैव कहा जाता है। इसीसे जन्म और संसार भोग होता है। कर्मानुष्ठानसे इसीका क्षय करना पड़ता है। प्रवृत्ति निवृत्ति मार्ग भेदसे कर्म और विकर्मका अर्थ भिन्न रूपसे नहीं लक्ष्य होता, केवल अकर्म सम्बन्धमें भिन्नार्थ लक्ष्य होता है। शास्त्रोंने जिन कर्मोका अनुष्ठान करना निषेध किया है, वही सब शास्त्र निषिद्ध कर्म प्रवृत्ति मार्गके अकर्म हैं और कर्मानुष्ठान द्वारा कर्म क्षय होकर जो कर्म विहीन अवस्था आती है उसीको निवृत्ति मार्गका अकर्म और 'नैष्कर्म्य' (१८ अ० ५४ श्लो०) कर्म कहते हैं। जो कर्म शास्त्र निषिद्ध नही है, उसका अपव्यवहार होना ही कुकर्म कहा जाता है।

(२) ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान—आत्मज्ञानका नाम ज्ञान है और प्रत्येक तत्वके पृथक् पृथक् ज्ञानका नाम विज्ञान है। बहुतेरे टीकाकार विज्ञानका अर्थ विगतज्ञान अर्थात् ज्ञानकी अतीत अवस्था 'असंप्रज्ञात समाधि' को बतलाते हैं, पर इस योग शास्त्रीय टीकामें उसको नही लिया गया है, तत्वोंके विशेष ज्ञानका ही व्यवहार किया है। इस व्याख्यामें अज्ञानका अर्थ ज्ञानकी अतीत अवस्था मानी गई है। इस कारण प्रवृत्ति निवृत्ति भेदसे अज्ञानके दो अर्थ होते हैं। जीव मायाके वशसे विषय वासनामें लिपट कर संसार-मोहसे मोहित और आत्म

विस्मृत होकर जो 'मेरा-मेरा' करके भ्रमित होता है, वही प्रवृत्ति मार्गका 'अज्ञान' है और लय योगसे अकर्ममें उपनीत होनेके वाद जो वृत्ति-विस्मरण-अवस्था आती है, जब अपनेको भी भूल जाना होता है, 'मैं' कहनेको भी कोई नहीं रहता है, वही निवृत्ति मार्गका अज्ञान है, उसी अज्ञानको 'असम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं।

(३) धर्म-अधर्म—जिस शक्तिको अवलम्बन करके इस विश्वकी सृष्टि स्थिति लय क्रिया सम्पन्न होती है, उसीको धर्म कहते हैं, वही सत्य स्वरुप है, उस सत्यमें मिथ्याका आरोप होनेसे ही प्रवृत्ति मार्गका अधर्म होता है। इस अधर्मको पाप कहते हैं, इसीलिये ज्यों ज्यों मिथ्याकी वृद्धि होती है, त्यों त्यो अधर्मकी वृद्धि होती है। परन्तु जो शक्ति, सृष्टि, स्थिति, लयकी धारक है, उसी शक्तिके अतीत पदमें जहां सृष्टि, स्थिति, लय क्रिया नहीं है, केवल निरालम्बावस्था ही वर्तमान है, वही निवृत्ति मार्गका अधर्म है। इस अधर्मको ही कैवल्य स्थिति कहते हैं। अतएव कर्मके द्वारा कर्म क्षय करते करते ज्यो ज्यों निरालम्बावस्थाकी वृद्धि होती है त्यों त्यों अधर्मकी वृद्धि होती है "यदा यदा हि धर्मस्यग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थान-मधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ४।७

धर्म—व्यक्तिगत, जातिगत, वा समाजगत भावसे विभक्त होनेवाला नहीं है, वह विश्व जनीन अविच्छिन्न वस्तु है। लोग इस विश्व जनीन धर्मके उद्देश्यसे जो जो क्रम वनाते

हैं वा भिन्न भिन्न पन्थोंका अवलम्बन करते हैं, उसीको विधम कहा जाता है। विधर्म सापेक्ष है, किसीको साथ लिये बिना। अतएव हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान प्रभृति जितने धर्म हैं वह सब (परस्पर) एक दूसरेका विधर्म है, वैसे हो आत्म धर्मके पास प्राकृतिक धर्म विधर्म है, फिर एक तत्वके धर्मके पास दूसरे तत्वका धर्म विधर्म है। गीताका यह पद "परधर्मोभयावहः" इस वाक्यका पर धर्म ही विधर्म है। विधर्म व्यभिचारग्रस्त होनेसे ही कुधर्म होता है।

५--साधन प्रकरण

यह विश्व जगत् आत्मासे विनिर्गत हुआ है "विश्वमात्मा विनिर्गतम्" इसलिये योगी लोग आत्माको छोड़ स्वतन्त्र ईश्वर वा किसी देव देवीकी आराधना नही करते। वे आत्म साधक हैं, आत्म प्रतिष्ठा वा ब्राह्मी स्थिति ही उनका परम पुरुषार्थ है। जो पदार्थ इस विश्व ब्रह्माण्डका मूल कारण है और सर्व शक्तिका आश्रय है, जो स्वभावतः सर्व व्यापी है और सर्व जीवोके भीतर चैतन्य रूपसे प्रकाशमान है, उस अद्वितीय पदार्थमें मनः संयोग करना ही उनका आशय है कारण कि मनुष्य सुख चाहता है। तत्वदर्शी योगीन्द्र देखते हैं, कि जगतमें जितने पदार्थ हैं, उनमें मन लगानेसे जो तृप्ति और सुख मिलता है, वह [illegible] में थोड़ा और अनित्य है इसलिये परित्याग करनेके

योग्य हैं, परन्तु जो वस्तु इन समस्त सांसारिक पदार्थोंकी सृष्टि स्थिति और नाशका कारण है, उसमें मनको संयुक्त करनेसे जो सुखका उदय होता है, उसका फिर नाश नहीं होता। वह अनन्त और नित्य होनेके कारण 'उपादेय है'। इसीलिये योगीगण अपने शरीरके भीतर ही उस अद्वितीय वस्तु सर्व शक्तिके कारणमे मनःसंयोग करनेका अभ्यास करते हैं।

वह सर्वशक्ति कारण अद्वितीय वस्तु ही 'परमात्मा' है, वह इस शरीरमें कहां है और किस प्रकारसे उसमे मनः संयोग किया जाता है, तत्वदर्शी योगीन्द्रगणने उसका भी निर्णय किया है। वह लोग देखते हैं, कि वह वस्तु सर्वव्यापी होनेपर भी मस्तिष्कके भीतर ब्रह्मरन्ध्रमें ही चैतन्यमय स्वरूप विकाश है और प्रणव ही उसका वाचक है, उस ब्रह्मरन्ध्रमें उपस्थित होना हो, तो प्राणको अवलम्बन करके ब्रह्ममन्त्र प्रणवके साथ मेरुदण्डके भीतर मनको क्रमानुसार एक चक्रसे दूसरे चक्रमें उठाते उठाते भ्रूमध्यमें लाकर स्थिर करना पड़ता है, उसके वाद मन किसी अलौकिक शक्तिसे प्राणकी सहायता विना अनायास मस्तिष्कमें जाकर ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश कर सकता है और वहां पर उस सर्व शक्ति कारणमे संयुक्त होकर अनन्त ब्रह्मानन्दमें विभोर हो जाता है, यही अति मृत्युपद है। यहां आनेसे फिर जन्म मृत्युके चक्करमें नहीं पड़ना होता। इस आनन्द अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि यह अष्टाङ्ग योगका अभ्यास

करना पड़ता है। इन साधनोंके बाद मनको २४ तत्वोंमेंसे कहीं भी संयम कर सकते हैं। इसीसे ८ सिद्धियां प्राप्त होती हैं। इत्यादि—

"गीता महात्म्य"

अध्यायं श्लोक पादं वा नित्यंयः पठते नरः।
स याति नरतां यावन्मन्वन्तरं वसुन्धरे ॥१॥
द्वौत्रीनेकं तदर्द्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः।
चन्द्रलोक मवाप्नोति वर्षाणामयुतं ध्रुवम् ॥२॥

हे वसुन्धरे! जो एक अध्याय वा श्लोकका एक चरण नित्य पाठ करता है, वह मन्वन्तर पर्यन्त मनुष्यत्वको पाता है ॥१॥ और जो दो, तीन एक अथवा श्लोक पाठ करता है, वह १०००० वर्ष तक चन्द्रलोकमें वास करता है ॥२॥ आगे लिखी रीतिसे जो १ श्लोकसे १ अध्याय तक भी नित्य साधन करे तो उक्त फल वास्तवमें प्राप्त हो सकता है, १ पाद चौथाई साधन करे, पर केवल अक्षरोंके पढ़नेहीसे इतना उक्त फल चाहे सो नहीं होता। जैसे भोजनका नाम रटनेसे यह तो समझा जाता है कि यह भोजन चाहता है—परन्तु विना खाये भूख:नही बुझती किन्तु भोजन जीमनेसे भूख दूर होती है, अतः गीता पढ़िये, सुनिये, अभ्यास कीजिये और ब्रह्मानन्द रूपी अमृतपान कीजिये। जिस आनन्दका स्वाद प्राप्त होनेपर ही 'गूंगे को गुड़-वत्' अनुभव होता है वाणीसे कहा नहीं जा सकता है।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामका. पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जयः ॥ १ ॥

हे सञ्जय ! युयुत्सवः (योद्धुमिच्छन्तः) मामकाः (दुर्योधनादयः मत्पुत्राः) पाण्डवाश्चैव (युधिष्ठिरादयः पाण्डुपुत्राः) धर्मक्षेत्रे समवेताः (मिलिताः सन्तः) किं अकुर्वत ? ॥१।१॥

अनुवाद—धृतराष्ट्र पूछते हैं, हे सञ्जय ! युद्धकी इच्छावाले मेरे पुत्रोंने तथा पाण्डु पुत्रोंने युद्ध करनेके लिये धर्मक्षेत्र रूप कुरुक्षेत्रमें मिलकर क्या किया ?

व्याख्या—धृतंराष्ट्र' येनसः 'धृतराष्ट्रः' धृत शब्दका अर्थ है कि जो पहलेसे धारण कर रहे हैं और राष्ट्रका अर्थ है राज्य। अर्थात् जो महाशय पहलेसे राज्यको धारण कर रहे हैं उन्हींको धृतराष्ट्र कहा जाता है। इस शरीररूपी राज्यमें सर्वत्र जिनका प्रभाव फैला हुआ है। शरीररूपी राज्यका और सुख दुःखका जो भोगनेवाला है, वही धृतराष्ट्र है। अतएव मन हीको धृतराष्ट्र जानना। और मनको स्वयं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) विषय भोगनेकी शक्ति नही है। ज्ञानेन्द्रिय (कर्ण, त्वचा, चक्षु, रसना नासिका) की सहायतासे जो विषय समूह शरीरके भीतर लिया गया है वा लिया जाता है, मन ही उसका भोग करनेवाला है। इसलिये मनको अन्धा कहा जाता है। धृतराष्ट्र भी अन्धे हैं।

"धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे" इस शरीरका नाम क्षेत्र है 'इदंशरीरं कौन्तेयः क्षेत्रमित्यभिधीयते' (गीता १३।२) सत्व, रज, तम

तीन गुणोंकी क्रिया विभाग करके यह शरीर तीन अंशोंमे विभक्त है। दशों इन्द्रियां यह प्रथम अंश है। पीठकी रीढ़ (मेरुदण्ड) को आश्रय करके जो सुषुम्नानाडी मूलाधारसे सहस्रार पर्यन्त विस्तृत है, वह सुषुम्णा संलग्न षट्चक्र द्वितीय अंश है। और आज्ञा चक्रके ऊपरसे सहस्रार पर्यन्त 'दशाङ्गुल स्थान' तृतीयांश है। प्रथम अंशमें वहिर्जगत्की क्रिया समूह सम्पादित होती हैं, यह स्थान रजस्तमो प्रधान है। यहाँ निरवच्छिन्न कर्म प्रवाह वर्तमान रहनेसे इसका नाम "कुरुक्षेत्र वा कार्यक्षेत्र" है। और तृतीय अंश सत्वतम् प्रधान है, इस स्थानमें क्रिया विहीन स्थिर आकाश वर्तमान है, इस कारण इसका नाम 'धर्मक्षेत्र' हुआ। और द्वितीय अंश जो मन, वुद्धिकी लीलाभूमि है, जहांसे सूक्ष्मभूत समूह वहिमुख होकर इन्द्रियोंको क्रियाशील करते हैं, पुनश्च अन्तर्मुख होकर आत्मज्योतिको प्रकाश करता है, वही सुषुम्णा संलग्न षट्चक्र रजः सत्व प्रधान है। यह अंश धर्म-कर्म दोनोंकी आश्रय भूमि है, इसलिये इसका नाम 'धर्मक्षेत्र—कुरुक्षेत्र' हुआ। शरीरका यह अंश रजः सत्व प्रधान होनेसे भी इसके विशेष-विशेष स्थानमें उन दोनों गुणों की क्रिया अल्पाधिक (थोड़ी वहुत) परिमाणमें है। जो स्थान मूलाधारके पास और कुरुक्षेत्रके निकट है वहाँ रजोगुणका परिमाण अधिक और सत्वगुणका कम है, वैसे ही जो स्थान [illegible] चक्रसे मिला हुआ और धर्मक्षेत्रके निकट है वहाँ सत्वका [illegible] अधिक और रजोगुणका कम है, और मूलाधारसे

आज्ञा चक्रके नीचेतक फैले हुए अंशके बीचमें अर्थात् मणिपूर चक्रमें उन दोनों (रजः सत्व) गुणोंका परिमाण बराबर है। इसलिये यहाँ 'समान वायु' का निवास है, इस धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रकी बात ही इस श्लोकमें कही हुई है। यही योग माग है। और आज्ञाचक्र अज्ञानतामय है, इसलिये इसका दूसरा नाम अज्ञानचक्र है। क्रिया विशेषसे इस योगमार्गके भीतरसे उस अज्ञानचक्रको भेदकर परम शिवमें कुल कुण्डलिनी शक्तिके मिलन करनेका नाम ही 'योग' है।

'मामकाः—पाण्डवा.'—मामकाः मनोवृत्तियोंको और पाण्डवाः बुद्धि वृत्तियोंको जानना। अर्थात् स्वरूप ज्ञानके प्रकाश करनेवाली वृत्तियोंको बुद्धिवृत्ति और विपरीत ज्ञानका प्रकाश करने वाली वृत्तियोंको मनोवृत्ति कहते हैं। विपरीत उसे कहते हैं, जैसे दर्पण (आईना) के सामने खड़े होनेसे उसमें जो छायामूर्ति दिखलाई पड़ती है, उस छायाको कायाका स्वरूप विकाश कह कर मन पहिले ही मान लेता है। परन्तु बुद्धिके द्वारा विचार करनेसे निश्चय होता है, कि वह कायाका स्वरूप-विकाश नहीं है किन्तु विपरीत विकाश है। अर्थात् शरीरका दक्षिण अंश छायामें वाम अंश रूपसे दिखाई पड़ता है इसीलिये पूज्य—पाद आचार्य लोग कह गये हैं—"विश्वंदर्पण दृश्यमान नगरो तुल्यं" तद्रूप आत्मज्ञान और जगद्भ्रम काया-छाया सम्बन्धवत् 'विना सूतका गुथा हुआ फूलका हार' सदृश है। मन सामने जो कुछ देखता है उसीको सच्चा मान लेता है, और उसीमें

आकृष्ट होकर, संकल्प विकल्प रूप क्रिया करता है। इन्द्रियोंमें प्रधान होनेसे और इन्द्रिय-ग्राह्य विषयों द्वारा परिवेष्टित रहनेके कारण मन सर्वदा विषयोंमे आसक्त रहता है, क्योंकि संगसे ही आसक्तिकी उत्पत्ति होती है "संगात्संजायते कामः" इसीलिये कहता हूं कि अन्तःकरणका जो प्रवाह केवल विषयकी ओर दौड़ता है, उसीको मनोवृत्ति जानना। यह प्रवाह स्थान विशेषमें दिग्भेद करके भिन्न २ भावसे तरंगायित है। उस एक एक तरंग-को एक एक वृत्ति कहते हैं। यह जो विपयाभिमुखी श्रोतकी विभिन्न भंगिमा है, वही 'मामकाः' अर्थात् कामना समूह है। यही सब धृतराष्ट्र (मन) के शतपुत्र वा दुर्योधनादि शतभाई हैं। इन सबको प्रवृत्ति (संसार मुखी वृत्ति..वा अकर्तव्य निश्चय) कहते हैं, यथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरता, निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, राग, द्वेष, स्नेह, ममता इत्यादि। बुद्धि सामने जिसको देखती है उसीको निश्चय कर लेती है अर्थात् माप लेती है। आत्मा ही इसका मापनेवाला मानदण्ड (गज या गरीब) है, और मापने वा तौलनेसे वस्तु दो अंशोंमें विभक्त हुई है, प्रथम सत्—'तदर्थीय कर्म परिणामी होनेपर भी सतमें पहुंचा देनेके सबबसे इसीके अन्तर्गत जो नित्य,और अपरिणामी है और दूसरा असत् अनित्य और परिणामी हैं। आत्मा की तुलनामें सत् और असत् रूपसे वस्तु विभाग करनेको 'वस्तु विचार कहा जाता है। इस वस्तु विचारमें आत्मा मानदण्ड (तराजू) होनेके कारण बुद्धि वृत्ति अतीव सूक्ष्म भावसे तथा

निरवच्छिन्न रूपसे आत्माकी ओर प्रवाहित रहती है। यही अन्तः करणका द्वितीय प्रवाह है। यह भी भूत समूहक संयोगसे भिन्न भिन्न भावोंमें तरंगायित है। आत्माभिमुखी प्रवाहको विभिन्न-भंगिमा ही 'पाण्डवा.' (पण्डा इति ज्ञाने) अर्थात् कतव्य निश्चय है।

इन सबको निवृत्ति (असंसार मुखी वृति) कहते हैं। यथा विवेक, वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधानता, मुमुक्षता इत्यादि।

मनुष्यमें सदा ही ये दोनों प्रवाह किया करते रहते हैं। उसके फल स्वरूप विभिन्न विषय संसर्गसे चाहे पहिला या दूसरा या दोनों ही मिश्र रूपसे, अदल वदल कर कुछ कालके लिये प्रवलतर हो उठते हैं, लेकिन कोई भी स्थायी नहीं होता, परन्तु वैज्ञानिक विजलीके भंडारमें विजलीकी धाराके दोनों मुख युक्त कर देनेसे जैसे दोनों प्रवाहोंके भीतर एक अभिभूत और दूसरा प्रवलतर हो कर वृत्ताकारसे अखण्ड श्रोतमे वहा करता है, वैसे ही यदि पुनः अन्त·करणकी इन दोनों वृतियोंको जोड़ दिया जावे (इस की युक्ति गुरुद्वारा जानों) तो पहली वृत्ति (विषयाभिमुखी) अभिभूत और दूसरी आत्माभिमुखी प्रवलतर होकर निरन्तर आत्माकी ओर प्रवाहित होती हैं, यही युक्तावस्था वा योगस्थ हो कर कर्मावस्था है। यह अवस्था ऊर्ध्वगतिमें लाकर भूत और भविष्यत नामक काल विभागको दूर करके केवल वर्तमानको ही विद्यमान रखती है और इस प्रकार त्रिकालज्ञ बना देती है। यही चरम निवृत्तिका प्रथम सोपान है।

"समवेता युयुत्सवः"

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र ही योगमार्ग है। युद्ध करनेकी इच्छा होनेसे ही इस स्थानमें समवेत (सम्मिलित) होना पड़ता है। अर्थात् साधकको संसारभ्रम आत्मज्ञानमें लय करना हो तो इस स्थानमे आना पड़ता है, यहाँ आनेसे साधकको देख पड़ेगा कि बहुतसा पुञ्जीकृत संस्कार क्रमानुसार आकर उनपर आक्रमण करता है और लक्ष्य भ्रष्ट करके बहुत दूर फेंक देता है, पुनश्च वैसे ही इकठ्ठा हुआ दूसरे प्रकारका संस्कार आकर मनमें धृत-उत्साहादि शक्ति उत्पन्न करके उनको पुनः लक्ष्यकी ओर भेजता है, प्रथम संस्कार समूह विषय संस्कार जन्य और दूसरा सत् संसग जन्य है। मन विकारग्रस्त होनेसे ही सद्वस्तु ग्रहण करनेमें असमर्थ और विषयोंमें आसक्त होता है। और विचार युक्त होते ही सद्वस्तु ग्रहण करनेमें समर्थ होता है। अतएव पहिला मानसिक विकारका फल है, इसीलिये 'मामकाः' और दूसरा मानसिक विचारका (वि-विगत, चार—चलना फिरना) अर्थात् ज्ञानका फल है, इसलिये 'पाण्डवा'। मनका संकल्प विकल्प परित्याग करके जो स्थिरता और बुद्धिकी क्रिया संक्रमण होती है और मिट भी जाती है, परन्तु सिद्धान्त स्थिर नहीं होता—इस प्रकारका अवस्थान ही मानसिक विचार व्यवस्था है।

गुरूपदिष्ट क्रिया कालमें मनसूक्ष्मावलम्बी होनेसे विस्तारको प्राप्त होता है, तब उसकी संकीर्णता नष्ट हो जाती है, इसलिये इस जन्म और पूर्व जन्मके अर्जित 'सु' 'कु' कर्म संस्कार समूह प्रत्यक्ष

होते रहते हैं। आजन्म विषय वासना द्वारा जड़ित रहनेसे साधकका विषय संस्कार, सत् संस्कारसे अधिकतर शक्ति संपन्न होकर उसको लक्ष्य भ्रष्ट तथा वशीभूत कर लेता है, परन्तु गुरुपदेशका संस्कार (कूटस्थ चैतन्य वा श्रीकृष्ण) सदा जागृत रहनेसे उसके प्रकाश द्वारा सत् संस्कार समूह पुनरुद्भासित होकर उनको पुनः कक्ष्याभिमुखी करता है। यह विषय संस्कार ही 'प्रवृति' और सत् संस्कार 'निवृत्ति, है। नदीमें फेंका हुआ लकड़ीका टुकड़ा ज्वार (समुद्रसे उठी हुई बाढ़) भाटा (समुद्र की ओरको जलका खिच जाना) के वश अर्थात् विकर्षण और आकर्षण (श्वाशवत्) से संचालित होनेपर भी अन्तमें जैसे विशाल सागरमें गिरता ही है, विकर्षणका वेग उसे रोक नहीं सकता, वैसे ही धैर्य धारण करके गुरुउपदेशानुसार क्रिया करते रहनेसे प्रवृत्ति समूह चाहे कितना ही प्रवल हो, अन्तमें विशाल शान्तिसागर (ब्रह्मपद) तक पहुचा ही देता है। सत् चेष्टाशील साधक मात्रको यह आक्षेपण और विक्षेपण मालूम है, क्रियाके प्रारम्भसे ये ही होते रहते हैं, इसलिये कहा है कि यथेच्छु होनेसे ही समवेत होना पड़ता है।

"किमकुर्वत सञ्जय" दश दिनके युद्धमें भीष्मके पतित होनेके पश्चात् रणक्षेत्रसे हस्तिनापुरमें (कर्मक्षेत्रमें जहाँ धृतराष्ट्रका मन रहता है) संजयने लौट आकर भीष्मके पतनकी वार्ता सुनानेके लिये उपस्थित हुए। धृतराष्ट्रने संजयसे युद्धका हाल पूछना आरम्भ किया। संजयने युद्धका विवरण क्रमानु-

सार श्रीकृष्णार्जुन सम्वाद (गीता) रूपमे वर्णन किया। इसका अर्थ यह है, कि—मणिपुरस्थ दशदल अतिक्रम करके चिन्ता नाड़ी के भीतर प्राणवायु प्रवेश करानेसे ही कुलकुण्डलिनी चैतन्य युक्त होती है, तव साधकका वाह्यज्ञान स्थिर होकर वैषयिक अहंत्व (अर्थात्) चिदाभास वा अस्मिता जो दशों दिशाओमे प्राप्त होकर जीवोंका जीवत्व प्रतिपादन कर रहा है, निस्तेज हो जाता है। इसीको भीष्मपतन कह कर निर्देश किया गया है। कुलकुण्डलिनीको जाग्रत करनेसे स्थिर आत्मज्योति प्रकाश करनेवाले मानस चक्षुका उदय होता है। उस चक्षुसे तीनों काल (भूत-भविष्यत-वर्तमान) की घटनावली प्रत्यक्ष होती रहती है। उसके वाद विकर्मताड़नके द्वारा साधक जव फिर कर्मक्षेत्रमें अवतीर्ण होता है, तव विषयोसे वेष्टित हो जानेपर आत्मज्योति परोक्ष होने पर भी स्मृति जागरित रहती है। इस लिये 'धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र' में आदिसे अन्त तक संघटित व्यापार समूहकी छाया मात्र उसके मनमें उदय होती रहती है। तव साधक उन व्यापारोंको लेकर मनही मन प्रश्न करता रहता है वे प्रश्न (गुरुपदिष्ट क्रियालब्ध) दिव्य दृष्टिशक्तिसे मीमांसित (प्रत्यक्षीभूत) होते रहते हैं। इसीको गीतामें (धृतराष्ट्र-संजय सम्वादरूप) कथन कहा है। साधककी जागृतावस्थाका नाम धृतराष्ट्र और उसकी क्रियालब्ध मानस दृष्टि, अन्तर्दृष्टि वा दिव्य दृष्टिका नाम सञ्जय है, (११।३५ की व्याख्या देखो)

क्रियाके प्रारम्भसे चिदाभास नष्ट होनेतक प्रकृतिकी ताड़ना

और निवृत्तिकी प्रेरणा आदि जो जो घटनाएं उपस्थित हुई हों, उन सबका आनुपूर्विक स्मरण करना ही साधकका उद्देश्य है। 'इसके बाद क्या किया' 'उसके बाद क्या किया' इस प्रकार अपनी की हुई अतीत घटनाएँ चिन्ता करके स्मरण करते जाने से मनमें जिस प्रकारके प्रश्न उदय होते हैं, यह भी उसी प्रकार का सरल प्रश्न है, अतएव धृतराष्ट्रने संजयसे ऐसा प्रश्न क्यों किया, इसमें शंका उठनेका कोई कारण नही हैं ॥ १ ॥

इति महात्मा परमहंस श्री स्वामी प्रणवानन्दः

उपरोक्त नमूना योगशास्त्रीय है।

परमानन्द-ब्रह्मानन्द-आत्मानन्द-शतानन्द !!!

'अज्ञोभवति वै बालः' हमारे संयुक्तप्रान्त यू० पी० में दीपमालिका पर खांड़ (चीनी) के खिलौने लकड़ीके नाना-प्रकारके सांचोंमें भरकर बनाये जाते हैं, बच्चे हलवाईकी दूकानसे खरीद कर धानकी खीलोंके साथ खिलखिलाते हुए खाते हैं और कहते हैं कि यह हाथी है, यह घोड़ा है, यह ग्वालिनी मटकी सिरपर दहीको रखे हुए दधि वेचनेको जाती है। नानारूप होने पर भी स्वादमें सब मीठे और वालकोंको प्रियमोद और प्रमोद दायक हैं। इसी प्रकार गीता सब प्रकारसे मधुर है, किसी

प्रकार इसका आस्वादन कीजिये ऊपर 'योगमार्ग रूपी' चाटका वर्णन हुआ। इसका आनन्द योगिराज लेवें। आगे भक्त जनोंके आनन्दके नमूनेको पढ़कर भी आनन्दित होइये।

भगवद्गीतामें भक्तिका प्राधान्य !

+—※※※※—+

"गुजराती" बम्बई ता० २४, १२, १६२२ से हिन्दी अनुवाद

"सर्वशास्त्रमयीगीता" गीता सर्वशास्त्रमयी है इस कारण सब आस्तिक दर्शनोंसे भरपूर है। यह केवल ऐसे शुष्क ज्ञानका गायन नहीं करती जिससे नास्तिकता घुस जावे, विना भक्तिके कर्मोंको नहीं बतलाती। संस्कृतके अनुसार तो जो गायी है, वा गायी जाती है, वह गीता गिनी जाती है। शुष्क वेदान्तियोंका ज्ञान अन्त करण और इन्द्रियोंसे अगम्य होनेके कारण अथवा अवस्तु रूप होनेसे वह गाया नहीं जा सकता। १८ अध्यायोंमें पहले ६ अध्याय सूत्रोंकी तरह हैं। ७ से १२ अध्याय तक वृत्तिके समान हैं। १३ से १८ अध्याय तक भाष्यके समान हैं। गीताका उपक्रम तथा उपसंहार अर्थात् आदि और अन्त भक्ति हीका प्रतिपादन करता है, आरम्भमें अर्जुन अपनी अपूर्णता दिखाता है "शिष्यस्तेऽहं

शाधिमां त्वां प्रपन्नम्" हे श्रीकृष्ण! मैं आपकी शरण हूं, आपका शिष्य हूं, इसलिये मुझे उपदेश दीजिये', इस प्रकार कहता है। भक्तिके अङ्गरूप सेव्य सेवक भावसे गीताका प्रारम्भ होता; इस कारण गीता विशेष कर भक्तिमयी गिनी जाती है। आरम्भमें जैसे सेव्य सेवक भावसे गीताका प्रारम्भ होता है, उसी प्रकार उपसंहाररूप अन्तके सिद्धान्तमें भी "मद्भक्तिं लभतेपराम्" सर्वमे समभाव वाला होकर मेरी पराभक्ति पाता है। इस प्रकार गीताका उपक्रम उपसंहार दोनोंको जाननेवाले सारी गीतामें भक्तिका ही प्राधान्य देखते हैं। पराभक्तिके लिये चित्त शुध्यर्थ कर्मयोग, स्नेह दूर होनेके लिये साँख्ययोग, तथा आत्मा आनात्माके विवेक द्वारा स्वरूप योग्यता सिद्ध होनेके लिये दूसरे अध्यायसे आठवें अध्यायतक ज्ञान कहा गया हैं, नवमें अध्यायमें "इदन्तुते गुह्यतमम्" अत्यन्तगुप्त विषय कहनेकी प्रतिज्ञा की है "भजन्त्यनन्यमानसः" अनन्य भक्तिको सिद्ध किया, अंगरूप दूसरे देवोंकी भक्तिसे भी अनुक्रमसे अपनी 'भक्तिकी' प्राप्ति सूचितकी है। दसवें अध्यायमें "शृणुमे परमेवचः" मेरा परम वचन सुनो, वहाँसे प्रारम्भकर सुदृढ़ स्नेह सिद्ध होनेके लिये साँख्य योगका निरुपण कर आत्मा अनात्माका विवेक सिद्ध किया है। "नमे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः" मेरा प्रभाव देवता और महर्षि भी नहीं जानते, वहाँसे और भी अवज्ञा आदि दोषोंसे रहित होनेके लिये महात्म्य निरूपण करते हैं, "इतिमत्वा भजन्तेमां" "भजतां प्रति पूर्वकम्" बुध अर्थात्

ज्ञानी मुझको भजते हैं, प्रेमसे भजनेवाले मुझे पा सकें ऐसा बुद्धि-योग मैं तुमसे कहता हूं। बुद्धि योगरूप साक्षात्कार कह कर अज्ञान दूर होनेका उपाय बताया है, फिर अर्जुनके पूछनेसे स्वरूपभूत विभूतिका संग्रह हुआ है। ग्यारहवें अध्यायमें विश्वरूप दर्शन कराकर भक्तिको दृढ़कर अर्जुनपर अनुग्रह किया है।

बारहवें अध्यायमें अर्जुनको "तेषां के योग वित्तमाः" इत्यादि प्रश्नका उत्तर देते हुए अक्षर ब्रह्मकी उपासनासे पुरुषोत्तमकी उपासनाकी उत्तमता कही है, भक्तिके प्रकार कह कर भक्ति सिद्ध होनेका उपाय "अद्वेष्टा सर्व भूतानां मैत्र. करुण आत्मवान्" अद्वेषः मित्रभाव दया और आत्म दृष्टि आदि कह कर ज्ञानीकी अपेक्षा भक्तका उत्कर्ष अर्थात् विशेषता बताई है, तेरहवें अध्यायमें प्रकृति पुरुपक्षेत्र आदि जाननेके लिये प्रश्न किया, इस कारण प्रकृत्यादिके लक्षण कहे हैं। चौदहवें अध्यायमें ज्ञान कहा है, प्रकृति, पुरुप क्षेत्र और ज्ञान इन सबका भक्ति होनेमें उपयोग बताया है, इस प्रकार प्रासङ्गिक बातोंका परिहार करके पन्द्रहवें अध्यायमें अपने पुरुषोत्तमका सर्व वेद वेदत्व और उसकी भक्तिसे कृतार्थता बताई है। सोलहवें अध्यायमें आसुरी स्वभावका निषेध कर दैवी प्रवृत्तिकी श्रेष्ठता कही है, क्योंकि दैवी स्वभावसे भक्ति शीघ्र सिद्ध होती है। सत्रहवें अध्यायमें हीन अधिकारवाले जो शास्त्र विधि छोड़ कर उपासना करते हैं, उनकी निष्ठा कही है। बिना श्रद्धाके होम, दान, तप इत्यादि सब व्यर्थ है, इस लोक तथा पर लोकमें श्रद्धा रहित पुरुपको सुख नहीं, यह

स्पष्टतासे कहा है। अठारहवें अध्यायमें संन्यास आदिका निरू पण कर विशुद्ध बुद्धिवाला होनेको कह कर 'अहंता' और 'ममता का जाल काट कर ब्रह्ममय होनेको कहा है, ब्रह्ममय होनेसे ज्ञानी सदा प्रसन्न रहता है, वह किसी प्रकारका शोक नहीं करता और न कुछ आकांक्षा रखता है "नशोचति नकाङ्क्षति" ॥

ऊपर लिखे अनुसार ब्रह्मरूप ज्ञानवान् समत्व बुद्धि होनेके पश्चात् वह 'मद्भक्तिं लभते पराम्" परी भक्तिको प्राप्त होता है अर्थात् ज्ञानका फल भक्ति है, यह निश्चय किया है "भक्त्या मा-मभि जानाति" भक्तिसे मुझे जानता है। इस वाक्यमें भक्तिसे साक्षात्कार होना कह कर शुष्क ज्ञानका निषेध कर "मत्प्रसा-दादवाप्नोति शाश्वते पदमव्ययम्" मेरे प्रसादसे-अनुग्रहसे भक्तिसे अविनाशी पदको पाता है, यह सिद्ध किया है। "सर्व गुह्यतमं" इस वाक्यसे अत्यन्त गुप्त भक्तिका निरूपण करनेकी प्रतिज्ञा की है। "मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु" मुझमें मन रखने-वाला हो, मनका रखना योगशास्त्रका सिद्धान्त सिद्ध हुआ स-मझो। मेरा भक्त हो, भक्त होनेसे उपासना काण्डकी सिद्धि हुई। मेरा यजन करनेवाला हो—इससे कर्मकाण्ड सिद्ध हुआ, "मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिज्ञाने प्रियोऽसिमे" हे अर्जुन! इस प्रकार वर्त्तनेसे तू मुझे पावेगा, तू मेरा प्रिय है, इस कारण तुझसे सत्य प्रतिज्ञा कर कहता हूं, अन्तमें "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" दीनता रख कर केवल मेरी शरणमें रह—लौकिक-व्यवहारिक कामनावाले धर्म त्याग कर निस्साधन, निष्किञ्चन

भावसे शरणमें आनेसे तुम्हें मैं सर्व पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू किसी प्रकारका शोक मतकर। इस प्रकार अन्तमें शरणागतका उपदेश कर गीता ग्रन्थका उपसंहार किया है। कर्म तथा ज्ञान से भी पराभक्तिको मूर्धन्य शिरोमणि रूप गिना है।

कोई २ जो "ज्ञानवान्माँप्रपद्यन्ते—मामेव ये प्रपद्यन्ते" इत्यादि स्थलमें प्रपत्ति अर्थात् शरणागतरूप अर्थ न लेकर दुराग्रहसे प्रपत्ति का अर्थ ज्ञान करते हैं, पर इससे उपक्रम और उपसंहारमें विरोध आता है उसका विचार नहीं करते। श्रीधर स्वामी प्रपत्ति अर्थात् भक्तिका ऐसा स्पष्ट अर्थ करते हैं, भक्तिमें अरुचि रखनेवाले तो आगे बढ़कर, "आत्मतत्वानु सन्धान भक्तिरित्यभिधीयते" कहते हैं, कि आत्माके जाननेका नाम भक्ति है, ऐसा असम्बन्ध अर्थ करते हैं। आप ही परब्रह्म बन बैठे फिर भक्ति किसकी और किस लिये की जावे? इस सिद्धान्तका अनुसन्धान उनसे हो नहीं सकता। "चतुर्विधा भजन्तेमाम्" इस श्लोकमें चार प्रकारके भक्त कहे हैं। उनमें ज्ञानीको अर्थात् ज्ञान होनेके पश्चात् भक्ति करनेवालेको उत्तम गिनाया है। सब भक्तोंमें ज्ञानी भक्त 'एकभक्ति विशिष्यते' मेरी एक (अनन्य) भक्ति करनेवाला विशेष होता है, इस प्रकार भगवान आप ही ज्ञानी अर्थात् अपने माहात्म्यके ज्ञानवाले भक्तका बखान करते हैं। इस कारण भक्तिका प्राधान्य गीतामें स्पष्ट रीतिसे कहा हुआ है, कोई २ कहते हैं, कि पूर्णावतार राम और परिपूर्णावतार श्रीकृष्णकी भक्तिमें उलझना नहीं। हमारे वेदान्त ज्ञानमें और भी कुछ है। आगे भी कुछ

है अवश्य, पर वह यदि कुछ हो तो अन्तःकरण तथा इन्द्रियाँ जान सकें। अन्तः करण और इन्द्रियाँ जिसको जान नहीं सकतीं, तथा जिसमे धर्म, आकार, वा किसी प्रकारकी क्रिया नहीं हैं, उस वस्तुका वर्णन नहीं किया जा सकता। शून्यरूप अवस्तु किसीके हाथमें आ नहीं सकती, तथा नास्तिकपन आ जाता है, इसकी अपेक्षा राम कृष्णादिकी दिव्य मूर्तिकी स्फूर्ति अहर्निशि रहा करे, ऐसी निर्दोष प्रेमभक्ति करते रहना उत्तम है। गीता-मुख्य कर इस सिद्धान्तका निरूपण करती है, वह ज्ञान और परमात्माका माहात्म्य समझाती हैं। माहात्म्य समझनेके वाद सवसे अधिक ऐसा अपार स्नेह पुरुषोत्तममें रखनेका नाम भक्ति है। श्रीकृष्ण परमात्मा अपने श्रीमुखसे गीता कहते हैं, तथा आपको ही सवका उत्पादक, पालक और नाशक कहते हैं, अपने विराट ब्रह्मका स्वरूप अर्जुनको दिखाते हैं, अर्जुनको चर्म चक्षुके वदले दिव्य चक्षु देते हैं, अर्जुन अकुला कर व्याकुल होता है तव विराटरूपको वदल कर फिर चतुर्भुज रूपसे दर्शन देकर अपनी शरणमें आनेका उपदेश करते हैं। शरणमें आनेसे अनेकोंका कल्याण हुआ है, उनके उदाहरण आप देते हैं। अर्जुनके मनमें संशयका अङ्कुर भी उत्पन्न न हो, इसलिये अन्तमें प्रतिज्ञा पूर्वक कहते हैं, कि तू मेरा हो। मेरी शरणमें आ, तो मैं तुझे सर्व पापोंसे मुक्त कर दूँगा। इस प्रकारके उत्तम उपदेश भक्तकी पुष्टि करने-वाले हैं—इस कारण गीता भक्तिमयी है। विशेष विचार भक्ति सिद्धान्तकी ८—१०टीका छपी हैं उनमें देख लीजिये॥इति संक्षेपः॥

गीतासार शिक्षा क्या है ?

—*०*—

कोई कोई महात्मा कहते हैं कि गीताका सार कर्तव्य-विमुख को कर्तव्यमें नियुक्त करना है। कोई कहते हैं ईश्वरतत्व शिक्षा देना, कोई ईश्वरभक्ति प्रचार करना, कोई मनुष्य संसारमें रहता हुआ किस प्रकार ईश्वरका ज्ञान प्राप्त कर लोक और परलोकमें श्रेय प्राप्त कर सकता है, इस समस्याकी मीमाँसाकी गई है। कोई कहते हैं कि ज्ञानके और योगके रहस्य की शिक्षा दी गई है, इस प्रकार कोई कर्म, कोई ईश्वर ज्ञान, कोई भक्ति और कोई योग गीताकी शिक्षाका सार कहते हैं। ये सब ही बातें ठीक हैं किन्तु असम्पूर्ण हैं, ये समस्त विषय गीताके एक एक अंगमात्र हैं पर इनका समुदय अर्थात् समष्टि गीताका अवयव सार-शिक्षा है।

गीता पूर्वोक्त चारो मार्गोंकी समान प्रशंसा करती है एवं चारो मार्गोंका सामञ्जस्य सुस्पष्ट रूपसे प्रतिपादित करती है। गीता कहती है कि प्रथम कर्म कर, विना कर्मके ज्ञानका पूर्ण विकाश नहीं होता, जो व्यक्ति आत्मश्लाघा (अपनी बड़ाई) दम्भ, कुटिलता, हिंसा, प्रवञ्चना, विलास प्रियता, स्वार्थपरता, असत् संसर्ग, प्रभृति परित्याग करे एवं जन्म मृत्यु जरा व्याधि प्रभृति दुःखके पर्य्यालोचन करके संसारकी असारता हृदयङ्गम

कर भक्तिपूर्ण हृदयसे ईश्वरमे चित्तस्थापन पूर्वक धर्म संगत कर्म करता जाय, वह अपने आप ज्ञान प्राप्त करे, वह संसारके अनेक प्रकारके कर्मोंमें अभिज्ञता लाभ करके जगतमें ईश्वरकी विचित्र कार्य मात्राके अद्भुत नियम, अचिन्त्य कौशल दर्शन पूर्वक अपने आप विस्मय और भक्तिमें लीन होता है। ऐसा ज्ञान और अभिज्ञता होते ही एकान्तिका भक्तिका उदय होता है, और भक्ति होते ही जीव और ईश्वरमें अविच्छिन्न-भावसे संयोजित होता है, कर्म ज्ञानका सोपान है, ज्ञान भक्तिका सोपान है, भक्ति योगका सोपान है, यही गीताकी साधारण शिक्षा है, उसके लिये कर्म, ज्ञान, भक्ति वा योगमेंसे किसी एक विशेष मार्गका पक्षपाती होकर गीताका अध्ययन करते रहनेसे स्थान २ में अर्थ-विरोध होता है और समस्त गीताका मर्मार्थ दुर्बोध्य होता है, गीताकी शिक्षा मनुष्योंके स्वभाविक नियम पर प्रतिष्ठित है। बाल्य और यौवनमें कर्म, प्रौढ़में ज्ञान और वृद्धावस्थमें भक्ति स्वभावसे ही मनुष्यके हृदय पर अधिकार करती हैं।

अतएव सर्व साम्प्रदायिक भाव परित्याग कर (मज़हबी तअस्सुब छोड़ कर) (हठधर्मी परित्याग कर) पूर्व आचार्यों (शङ्कर—श्रीधर—रामानुजादि) के पदाङ्क अनुसरण कर क्रमसे अन्वय सहित मधूकरी वृत्तिसे गीता पढ़ो (पढ़ना चाहिये)। गीताके अनेक स्थलोंमें अनेक वातें कण्ठस्थ रखने योग्य हैं, उन से समय २ पर बढ़े उपकार होते हैं, दुःख शोक-भयादिका भार जब हृदयको व्याकुल करता है तब वह समस्त वातें स्मरण रख-

नेके विचारसे ही पद्य रचना की है, क्योंकि गद्यकी अपेक्षा पद्य अधिक याद रहता है।

गीता ज्ञानका सूर्य है, शिक्षाका रत्नाकर स्वरूप है, गीतापाठ से जगतके रहस्य हृदयङ्गम होते हैं, मिथ्या विश्वास और संस्कार द्रवीभूत होते हैं। अहं भाव कम होता है, गर्व नष्ट होता है, धर्म का भाँड़ (नक्काल) नहीं होता, कर्तव्य ज्ञानका विकाश होता है, सत्यमें लक्ष्य होता है, आत्मज्ञानमें अनुराग होता है, संसारमें आसक्ति कम होती है, चित्त प्रसन्न रहता है, सदसत् विचारमें क्षमता और परोपकारमें प्रवृत्ति होती है, क्रोध द्वेष घटता है, काम क्रोधके वशसे कुकर्ममें प्रवृत्ति कम होती है और दब जाती है, शोक-दुःख भय विपत्तिमें बुद्धि स्थिर रहती है, इन्द्रियाँ संयत रहती हैं, आहार निद्रा, भोग विलासादि परिमित होते हैं। मृत्यु भयसे हृदय व्याकुल नहीं होता, अन्त समय ऊर्ध्वलोक प्राप्त होता है। इत्यादि तात्पर्य्य यह है, कि संसारके यथार्थ सुख प्राप्तिका जो कुछ उपाय हैं वे सब गीतासे प्राप्त होते हैं, "अतएव गीता पिता माता की अपेक्षा भी गरीयसी और हितैषिणी है—घर-घर गीता होनी चाहिये" ॥ गीतारहस्य

जैसे क्षत्रियकुमार तलवार लेकर क्रीड़ा करते २ कुछ कालमें शूर वीरोंमें गिना जाता है, भील सन्तान तीर कमानसे खेलते २ कुछकालमें अव्यर्थ लक्ष्य-वेधी हो जाता है, जैसे सिंहका बालक मातृ निहत हाथीकी सूंढ़पर क्रीड़ा करते २ कुछ कालमें हाथीके मारनेमें समर्थ हो जाता है, इसी प्रकार मानव सन्तान गीताका

पाठ (खेल) करते २ कभी न कभी पुरुष सिंहरूप होकर अन्वर्थ लक्ष्यसे अमंगल रूप हस्तीका संहार करेंगे।

श्री आशुतोष दासजी जिला वर्द्धवान—लिखित।

—०—

आलोचना

—*:०:*—

श्री श्री रामदयाल देव शर्म्मा एम, ए, मजुमदार कलकत्ता कृत वङ्गला भाषासे अनुवाद्—

प्रश्न। गीताको धर्मशास्त्र क्यों कहते हैं?

(उत्तर) भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको जिस २ मार्ग होकर ले गये हैं, कोई भी विषाद योगी उस उपदेशके अनुसार चलनेपर सर्व दुःखोंसे निवृत्ति वा परमानन्दको प्राप्त हो सकता है। गीताके प्रथम अध्यायमें विषाद योग है और अन्तिम अध्यायमें मोक्ष सन्यास योग है। गीता शास्त्रमें सनातन धर्मका उल्लेख है, जीवोंके पूर्ण कर्तव्य (धर्म) की बातें हैं, एवं सब प्रकारके साधनकी बातें हैं। दूसरे पक्षमें जीव अपने आत्मराज्यको भूल कर शोक मोहसे आच्छन्न हो रहा है। शोक मोहसे आच्छन्न व्यक्ति स्वधर्म त्यागकर परधर्म ग्रहण करनेकी इच्छा करता है। किन्तु खोये हुए राज्यको प्राप्त करनेके लिये पुरुषार्थ करना आवश्यक है।

हमारा आत्म-राज्य कहाँ है? किसने ले लिया है? क्यों ले लिया? अब मैं कहाँ हूँ? किस प्रकारसे स्वराज्य पर अधिकार होयगा? महामोहने हमारा राज्य हरण कर लिया है। महामोहके अनुचर काम क्रोधादि मुझको सताते हैं। जहाँ विचारका अभाव है, वहीं महामोहका राज्य है। विचार करनेसे अत्यन्त मलिन स्त्री-देह भोगके लिये व्याकुलता क्या रह सकती है? नहीं कदापि नहीं, यह विचार करे कि देह तो नष्ट होता है, फिर कर्तव्य कर्ममें अनुराग क्यों नहीं होता है? कामादि शत्रु पक्षीय सेनापति समूहको जय करना होगा, एवं मन और इन्द्रियोंको दमन करना होगा। कामनाकी निवृति ही जीवके हरण किये हुए राज्यको उद्धार करनेमें प्रधान कार्य है। शास्त्रों द्वारा बुद्धिके सहारेसे संसारी जीव भी प्रवृत्ति—और निवृत्ति मार्गमें चलनेका प्रयास करनेसे अपने हृदयमें कुरुक्षेत्रका युद्ध अनुभव करते हैं।

अतः समरमें जिन्होंने देहरूप रथ पर श्रीकृष्णजीको सारथी बना रक्खा है, वही युद्धमें विजय पाते हैं।

प्रश्न—गीताके प्रश्नोत्तर छन्दमें क्यों हैं? कथा वार्ता क्या छन्दोंमें होती है?

उत्तर—प्रथम अध्यायका परिशिष्ट देखिये।

प्रश्न—युद्ध कालमें योगोपदेशकी सम्भावना कहाँ?

उत्तर—उस समय तो युद्ध आरम्भ नहीं हुआ था, पूर्व गीता परिचयमें लिख चुके हैं।

प्रश्न—युद्ध कुरुक्षेत्रमें होता था, और धृतराष्ट्र हस्तिनापुरमें थे, तब किस प्रकार संजय उनसे युद्धका समाचार देते थे?

उत्तर—जब धृतराष्ट्रने संजयसे युद्धकी बात पूछी थी, तब युद्धको दशदिन हो गये थे। संजय प्रथमसे ही युद्धमें गये थे, अपने नेत्रोंसे भीष्मजीको शर शय्यापर पड़े हुए देख आये थे—गीता-का इससे बहुत पूर्व उपदेश हो चुका था।

जब भीष्मजीके शर-शय्यापर पड़नेका संवाद सुना तब धृतराष्ट्रने व्याकुल होकर युद्ध वृत्तान्त सुनना चाहा, तब सञ्ज-यने कहा—महाराज, मैंने प्रत्यक्ष और योग-बलसे तुरङ्ग मातङ्ग और अमित तेज बल सम्पन्न राजा, ये सब कुछ देखा है। सुनिये, शोक न कीजिये, इस समय जो घटना हो रही है, वह पूर्व ही देखी है, दिव्य दृष्टि दाता व्यासदेवको प्रणाम करके, सञ्जय युद्धके समाचार कहते हैं, किस प्रकार व्यूह रचना की थी, युद्धारम्भके दिन भीष्मजीने किस प्रकार सेनाको उत्तेजित किया था। सूर्योदयके समय किस प्रकार दोनों ओर की सेनाएँ सन्ध्या-वन्दनादि नित्य कर्म करके युद्धके लिये तैयार हुई थीं, अर्जुनने किस प्रकार वासुदेवके, संकेतसे ठीक युद्धके पूर्व दुर्गाका स्मरण किया था" यह सब बातें सुनकर धृतराष्ट्र पूछते हैं। "किम-कुर्वत" यहाँ पर धृतराष्ट्रका अभिप्राय यह है कि किस प्रकार युद्ध आरम्भ हुआ था। "धर्मक्षेत्रे" विशेषणके द्वारा कुछ गूढ़ अभिप्राय प्रगट होता है, श्रीमद् मधुसूदन सरस्वती, बलदेव विद्याभूषण, एवं विश्वनाथ चक्रवर्ती इत्यादि पूज्यपाद टीका

कारगाण धृतराष्ट्रके गूढ़ अभिप्रायके सम्बन्धमें अपना मन्तव्य इस प्रकार प्रकट करते हैं कि महाभारतके साथ इसका सम्बन्ध नहीं है। कृष्णजी जब दूत बनकर गये थे तब उन्होंने युधिष्ठिरसे कहा हैं "धृतराष्ट्र लोभवश राज्यांश प्रदान करके सन्धि करना चाहता हैं (उद्योग पर्व ७१ अ०)।

(प्रश्न) महाभारतमे किस स्थान पर गीता कही गई है ?

(उत्तर) भीष्म पर्वके त्रयोदश अध्यायसे गीता पर्व अध्याय प्रारम्भ है।

(प्रश्न) गीताका उपदेश भगवान्‌ने अर्जुनको ही लक्ष्य कर के किया है। व्यासजी और सञ्जयने इसे किस प्रकार प्रत्यक्ष किया ?

(उत्तर) व्यासदेव जीवन्मुक्त हैं। योगवासिष्ठमें देखिये, वसिष्ठजी व्यासजी की ओर अङ्गुली निर्देश करके रामजीसे कहते हैं—देखो राम ! सन्मुख ये जो मुनि श्रेष्ठ व्यासको देखते हो—ये जीवन्मुक्त हैं। हम इनको कल्पनासे सदेह देखते हैं "जीवन्मुक्त ईश्वरके समान सामर्थ्यवान होते हैं" ईश्वर नित्य मुक्त है, किन्तु जीवन्मुक्त बद्धावस्थासे मुक्ति प्राप्त करता है, और कुछ अन्तर नहीं। (यो० वा० उत्पत्ति प्रकरण देखिये) जीवन्मुक्त विषय व्यवहारमें विद्यमान रहने पर भी राग द्वेष-रहित है, सर्व व्यापारोंसे अविचलित है। सर्वदा सुशीतल शान्ति पूर्ण एवं सब पदार्थोंमें अपनी पूर्णताका अनुभव करता है, वह सूर्यरूपसे प्रकाश करता है, विष्णुरूपसे तीनों लोकोंकी रक्षा करता है, रुद्र

रूपसे संहार करता है। भूत भविष्यत वर्तमान कालत्रयमे वह दृश्यमात्र ही है।" इसलिये श्रीकृष्णके वाक्योंको भी व्यास ही का वाक्य कहा जाता है। इसी कारण व्यासको नारायण कहा है, व्यासदेवने सञ्जयको दिव्य दृष्टि प्रदान की थी, इस शक्तिका संचार होना व्यासदेवके लिये कुछ आश्चर्य की बात नहीं, गीताके पूर्वाध्यायमें इसकी भले प्रकार आलोचना अन्तमें की गई है। इति ॥ ११६ ॥

काल पुरुष दर्शन !

—※०※—

सज्जनो! यदि कभी घरसे अन्यत्र तीर्थ स्थान वा मित्र मिलन अथवा व्यवसायके लिये या सैर करनेके लिये यात्रा करनी होती है तो वहाँके जानेकी तिथि—मार्गव्यय—बाहर जाने पर कार्यका प्रबन्ध इत्यादि सब साल ६ महीने पूर्वसे ही विचार कर लिया जाता हैं। पर एक ऐसी भी नियमित यात्रा है कि उस पर बहुत से यात्री हमारे देखते २ प्रतिदिन चले जाते हैं, और फिर जब लौट कर आते हैं, तब उनको हम पहचान भी नहीं सकते और न किसीने लौट कर समाचार ही दिया कि वहाँ पर उनको क्या सुख दुःख हुआ। पर हमारे ऋषि-मुनि त्रिकालज्ञ थे—इसके साथ ही उन्हें अपनी सन्तानके ऊपर परमेश्वरकी भाँति स्नेह था—

इस कारण एक वा अनेक ऐसा साधन भी उन्होंने प्रगट कर दिये जिससे इस लम्बी यात्राका लक्षण, अरिष्टका लक्षण, कमसे कम ६ मास पूर्व जान कर सावधानीसे पुत्र कलत्रादिका मोह घटा कर परमात्मासे प्रीति तथा घरका भावी प्रवन्ध कर सकें। वह क्या? जिस प्रकार हमारे शरीरकी छाया पृथ्वी पर पड़ती है, उसी प्रकार एक और छाया भी हमारे साथ आकाशमें रहती है, इसको कोई छाया पुरुष, कोई काल पुरुष, कोई, हमजद वा चित्रगुप्त कोई साक्षात् शिवजीका दर्शन कहते हैं। इस विषयमें ज्योतिष, वैद्यक, प्रयोग-शास्त्र सबकी सम्मति है कि यह बात यथार्थ है। महात्मा खट्वाङ्गको २ घड़ी पूर्व, राजा परीक्षितको ७ दिन पूर्व अपने यात्रा कालका पता लगा था, उन्होंने इतने ही अल्प समयमें संसारकी माया-मोह त्याग कर अपनी पारलौकिक क्रिया सिद्ध कर ली थी—पर लोग इसकी ओरसे सदा अचेत रहते हैं। ऐसा लिखा है कि छाया पुरुष साधन वा स्वरोदयका विचार रखनेसे हम अपनी यात्राके समयका ६ मास पूर्व लक्षण जान सकते हैं कि उक्त छायाका जब शिर दर्शन न देवे तो अब लम्बी यात्राका प्रवन्ध करना उचित है। इसका साधन प्रत्येक पुरुष कर सकता है, जब निर्मल आकाश हो तब सूर्यके अथवा चन्द्र-माके प्रकाशमें खड़े हो १०।५ मिनट प्रतिदिन अभ्यास करनेसे अल्प कालमें इस दिव्यमूर्तिके दर्शन प्रत्यक्ष होने लगते हैं, यह अपना अनुभव किया हुआ है। जो महानुभाव इसका अभ्यास करना चाहें वे जवाबी पत्र द्वारा बात चीत करें। प्रायः आज-

कलके महात्मा लोग ऐसी सार्वजनिक वातोंको अत्यन्त गुप्त रखते हैं, पर मैं इसको उचित नहीं समझता, जो महाशय यहाँ पधारें वे इसकी रीति यहाँ अनुभव कर सकते हैं—इसके अभ्यासस्से मनुष्यको कठिन २ वीमारियोंमें भय नहीं रहता। मार्ग चलनेमें चिन्ता नहीं रहती। (इसका विशेष हाल जाननेके लिये 'कालज्ञान' पुस्तक श्रीवेंकटेश्वर प्रेस मुम्बई अथवा ज्ञानस्वरोदय चरणदास कृत लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस मुम्बई—देखिये। अन्य महात्माओंने भी छाया दर्शन ग्रन्थ लिखे हैं, पर उनको अवलोकन नहीं किया है २।४ जैसे त्रिघण्टरत्नाकर लखनऊ, तथा कालाविलास जवलपुर इत्यादिको देखा है। यह साधन सबको आवश्यक है)

ईश्वर ज्योति दर्शन—श्रीमद्भगवद् गीता अध्याय ८।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांस मनुस्मरेद्यः। सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप मादित्य वर्णांतमसः परस्तात्॥ ८।९ प्रयाण काले मनसा चलेन भक्त्यायुक्तो योग बलेन चैव। भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् सतं परं पुरुष मुपैति दिव्यम् १०

यदक्षरं वेदविदोवदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्तेपदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

सर्वं द्वाराणिसंयम्य मनोहृदि निरुध्यच।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राण मास्थितोयोगधारणाम् ॥ १२ ॥

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्
यः प्रयाति त्यजन्देहं सयाति परमांगतिम् १३।

ये श्लोक भगवद्गीताके ८ वें अध्यायके हैं। इनका अर्थ म० तिलकजीने इस प्रकार लिखा है कि "जो मनुष्य अन्तकालमें (इन्द्रिय निग्रहरूप) योगकी सामर्थ्यसे भक्ति युक्त होकर मन को स्थिर करके दोनों भौहोंके बीचमें प्राणको भली भाँति रखकर कवि अर्थात् सर्वज्ञ, पुरातन, शास्ता, अणुसे भी छोटे सबके धाता आधार अचिन्त्यरूप और अन्धकारसे परे सूर्यके समान देदीप्यमान पुरुषका स्मरण करता है, वह मनुष्य उसी दिव्य परम पुरुषमें जा मिलता है॥ ९।१० ॥ वेदके जाननेवाले जिसे अक्षर कहते हैं, वीतराग होकर यतीलोग जिसमें प्रवेश करते हैं और जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्यव्रतका आचरण करते हैं, वह पद अर्थात् ॐ कार ब्रह्म तुम्हे संक्षेपसे बतलाता हूँ ॥ ११ ॥ सब इन्द्रियरूपी द्वारोंका संयम कर और मनका हृदयमें निरोध करके

(एवं) मस्तकमे प्राण ले जा कर समाधि योगमे स्थित होने-वाला ॥ १२ ॥ इस एकाक्षर ब्रह्म ॐका जप और मेरा स्मरण करता हुआ जो मनुष्य देहको छोड़ कर जाता है, उसे उत्तम गति मिलती है।

अनन्य चेताः सततं योमांस्मरसि नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः १४
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
प्राप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमांगताः १५
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्ति नोऽर्जुन ।
मामुपेत्यतु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

प्यारे बन्धुओ तथा पूज्य महात्माओ ! "भ्रु वोर्मध्ये प्राणमा-वेश्य सम्यक्" इसका अर्थ क्या है ? यह उसी ज्योति स्वरूप भगवानके दर्शनका संकेत है । वह 'तमसः परस्तात आदित्यवर्ण है' अर्थात् तमः श्याम वर्णके पश्चात सूर्यके रंगका है । हे तात ! कृष्णको जाने दीजिये । काला कोयला तो आपने जलते देखा होगा—सुनार या लुहारकी भट्ठी तो देखी होगी । उस कोयलेमें ही से नानाप्रकारके रंगकी लौ उठती हैं । आगे कहते हैं "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति" जो इसका दर्शन करना चाहे वह ब्रह्मचर्यका आचरण करे "विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः" वीत

राग और यती पुरुष ही इस मार्गमें प्रवेश करते हैं। उसकी रीति भी साथ ही लिखी है—

सर्वद्वाराणिसंयम्य, प्ररमेकादशद्वारं, मनोहृदिनिरूध्यच, मूर्ध्न्याध्यायात्मनः भ्रूमध्येनिधाय, स ब्रह्मलोकं गच्छति-परमां गतिं मुक्तिं प्राप्नोति ॥

"गीतामाहात्म्य"

भगवन्—देनेवालोंने सैकड़ों पुस्तकें गीताकी दान कर डालीं और लेनेवालोंने भी उन्हें लेकर उसका उपयोग किया।

"गीतायाः पुस्तकं यत्र यत्र पाठः प्रवर्तते।
तत्र सर्वाणि तीर्थाणि प्रयागादीनितत्रवै ॥ ४ ॥
सर्वेदेवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगादयः।
गोपालैः गोपिकाभिश्च नारदोद्धवपार्षदैः ॥
समायान्तितत्र शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते ॥ ५ ॥
यत्र गीता विचारश्च पठनं पाठनं श्रुतम्।
तत्राहं निश्चितं पृथ्वी निवसामि सदैव हि ॥ ६ ॥
गीताश्रयोऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम्।
गीता ज्ञान मुपाश्रित्य त्रिलोकी पालयाम्यहम् ॥ ७ ॥
चिदानन्देन कृष्णेन प्रोक्तास्वमुखतोऽर्जुनम्।
वेदत्रयी परानन्दा तत्वार्थज्ञान संयुता ॥ ८ ॥

योऽष्टादश जपो नित्यं नरोनिश्चल मानसः ।
ज्ञान सिद्धिं स लभते ततोयातिपरं पदम् ॥ ६ ॥

मान्यवर महर्षियो ! ऋषियो ! एवं ब्रह्मचारियो ! एक शायरने कहा :—

गया दौरा हुकूमतका बस अब हिकमतको है बारी
जहांमें चारसू इल्मो अमलकी है अमलदारी ॥
जिन्हें दुनियामें रहना है रहे मालूम यह उनको
कि है अब जहलो नादानीके मानी ज़िल्लतोख्वारी ॥
ज़माना नाम है मेरा तो मैं सबको दिखादूंगा
जो भागेंगे दूलमसे मैं नाम उनका मिटा दूँगा ॥

आजकल ज्योतिष वैद्यक-वेदवेदान्त आदिकी पुस्तकोंकी लूट है। पर लूटके मालको उड़ाने बर्बाद करनेमें देर नहीं लगती।

लूट लो ज्योतिषियो ! लूट लो। तत्वज्ञानियो ! लूट लो। सौदागरो ! लूट लो, राजाओ लूटलो, अर्धमात्राके लाघवमें पुत्रोत्सव मनानेवाले लूट लो। वही चमचमाता हुआ हुआ "कोटि सूर्य प्रतीकाशंचन्द्र कोटि सुशीतलं ॥" श्रीजगन्नाथ भगवानके मस्तकमें देदीप्यमान हीरा ॥ यह कोहनूर नहीं है, वह तो विलायतमें है। पर एक एक अमूल्य हीरा भगवान ने सबको दे रक्खा है और दृढ पिटारीमें बंद कर दिया है।

यह मोहान्धकारको दूर करनेवाला आपके मस्तकमे भी है आप उसपर कोई मलयागिरिका चन्दन, कोई शिंगरफका चन्दन, कोई पेवरीका तिलक लगाते हैं। कबीर पन्थियोंने नासिकाग्र-

भागसे मस्तक तक रेलवे कीसी पटरी तथा श्रीवैष्णवोंने भी उसे चौड़ा करके वीचमें श्री उसीका संकेत तो किया है, शैवोंने सारे मस्तकमें उसका व्याप्त होना सिद्ध करके वीचके विन्दुसे उसका मुख्य स्थान निश्चय किया है पर बड़े परितापकी बात तो यह है कि छोटे छोटे बच्चोंके मस्तक पर भ्रूमध्यमें तिलक लगाकर संकेत करते है, कि बेटा ! ईश्वरकी ज्योति यहां पर है। शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य प्रायः सबही, ऊर्ध्वपुण्ड्र, त्रिपुण्ड्र कुछ भी लगावें पर विन्दु भ्रूमध्य पर ही लगाते हैं, पढ़े लिखे विद्वानों, वेद पाठियोंकी बात जाने दीजिये, मूर्खसे-मूर्ख स्त्रियाँ भी सिन्दूरविन्दु अपने सौभाग्यका चिन्ह इसी स्थान पर दर्शित करती हैं। पर तो भी हम उसका दर्शन करनेका अभ्यास नहीं करते हैं। परन्तु भगवानकी वह माया कैसी विचित्र है, जिसने संसारको भुला रक्खा है और सबकी हंसी उड़ाती है, बड़े २ मुनियोंकी भी हंसी होनेसे वंचित नही रक्खा है। वह कहती है कि,—

अमिली वरसों हो रही, पीपर पास न जाउं।
जामुनि भेद न पावहीं, तासों मैं अठिलाउं॥

माया कहती है, कि मैं अपने पति भगवानसे तो अ-मिली रहती हूं अर्थात् उस पर मेरा कुछ वस नहीं, उसके तो भक्त भी मुझसे भागते हैं। परन्तु तो भी मैं पी-पर (परपति) की सेवा नहीं करती। मेरे इस भेदको वा अभेदको मुनिजन भी नही

पाते। मेरे जालहीमें फँसे रहते हैं, इसीसे मैं अभिमान करती हूं। यह माया अपने पतिकी सेवा दूसरोंको नहीं करने देती है ऐसी पतिव्रता है। पर इससे मेल रखते हुए सेवा करो तो सहायक बन जाती हैं।

—:—
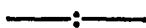
कालचक्र

वासांसि जीर्णानि यथाविहाय
नवानि गृह्णाति नरोपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा
न्यन्यानिसंयाति नवानि देही॥

(गीता २।२२)

इसका अर्थ यह है, कि मनुष्य पुराने वस्त्रको त्यागकर जैसे नवीन वस्त्रको धारण करता है, उसी प्रकार शरीरधारी पुराने शरीरको त्यागकर नवीन शरीर धारण कर लेता है। मनुष्य मनुष्यका, पशुपक्षी पशुपक्षीका शरीर धारण करता है। जैसे धोती त्यागकर उसके बदले नई धोती, पगड़ी जीर्ण हो जाने पर नई पगड़ी पहनते हैं, धोतीकी जगह वा पगड़ीकी

जगह धोती नहीं पहनते हैं, इसी प्रकार सृष्टिकाल पर्यन्त जो जीव जैसा जैसा शरीर छोड़ेगा, उसके बदले वैसा ही (घटिया वा बढ़िया) शरीर धारण करेगा। अर्थात् मनुष्यादि कल्पके आदिमे जो शरीर धारण करते हैं, वही सृष्टिके अन्त तक बदलते रहते हैं।

यह संसार परमेश्वरका रचा हुआ नाटक है, इसमें पृथिवी नाट्यघर है, सूर्य चन्द्रादि मानो उसमे प्रकाश हैं। रातदिन उसके पर्दे हैं, नदी पर्वत वृक्षादि सुन्दर दृश्य हैं और तमाम देह-धारी उसके नाटक करनेवाले हैं और ईश्वर स्वयं ही इसका दर्शक हैं। इस कुदरती नाटकमे परमात्माने जिन २ जीवोको जो जो काम दिये हैं, वे जीव उन्हीं २ कामोको जब जब यह नाटक होता है, करते रहते हैं, और जिस प्रकार प्राकृत नाटकमें मनुष्य अपने जिम्मेका काम करके छुट्टी पाते हैं और दूसरे दिन उसी नाटकमें अपना वही काम करनेको फिर उपस्थित हो जाते हैं, इसी प्रकार इस संसार रूपी नाटकमें सब जीव अपना २ काम-करके परलोक सिधारते हैं और ५०० वर्ष बीतने पर जब यही नाटक फिर होता है, तब पहिले शरीरके अनुसारही स्थूल शरीर धारण करके अपने जिम्मेका काम करनेके लिये जीव उपस्थित होते हैं। इस प्रकार पांच-पाच सौ वर्षका एक एक नाटक होनेके हिसाबसे महाराज ब्रह्माजीके दिन भरमें ८६ लाखवार एकसाही नाटक हो चुकता है। जैसे जब जब हरिश्चन्द्र नाटक होता है, तब तब विश्वामित्रजीको भी आनाही पड़ता है।

यद्यपि सूर्य चांद तारे आदि अनेक ब्रह्माण्ड हैं। परन्तु इस भूलोकमें, इसी पृथिवीके सदृश अर्थात् सूर्यादिकोंसे इतनीही दूर रहनेवाली और इतनी लंबी चौड़ी इसी प्रकार नदी पहाड़ समेत ८६४० पृथिवियां गणित द्वारा सिद्ध होती हैं। इन सब पृथिवियोका एक गोलाकार चक्र बना हुआ है और सत युगादि चारों युग इन पृथिवियोंपर हर समय रहते हैं, यह न समझिये, कि इन सब पृथिवियोंपर आजकल कलियुग ही हैं। किन्तु हर समय ३४५६ पृथ्वीपर तो सत्ययुग रहता है। २५८२ पर त्रेता-युग, १७२८ पर द्वापर और ८६४ पर कलियुग रहता हैं। अर्थात् इस समय पृथिवी नम्बर १ से लेकर ३४५६ तकपर सतयुग और नं० ३४५७ से ६०४८ तक पर त्रेतायुग, नम्बर ६४४६ से नम्बर ७७७६ तक पर द्वापर और नं० ७७७७ से ८६४० तक पर कलियुग है। यह युगादि कालरूपचक्र सदा इस प्रकार उलटी चालसे घूमता रहता है, कि पाच पांच सौ वर्षमें एक एक पृथिवीको छोड़कर दूसरीको दवा लेता है। जैसे ५०० वर्षमें सतयुगने अपनी एक पृथिवी अन्तकी ३४५६ नम्बरवाली विलकुल छोड़ देगा। क्योंकि उन पर सतयुगको आये १७२८००० वप हो चुकेगा, जव उस पृथिवीको सतयुग छोड़ेगा उसी समय उस पर त्रेतायुग अपने अग्रभागसे प्रवेश हो जायगा, जोकि त्रेताका अग्रभाग इस समय ३४५७ नम्बरको पृथिवी पर है, जव त्रेताका अग्रभाग ३४५६ पर आवेगा तो उसके वदले त्रेता अपनी अन्त-की पृथिवी ६०४८ नंवरवालीको अपना पूरा समय भोग चुकनेके

कारण छोड़ देगा। इस ६०७८ नंवरवाली पर द्वापरका अग्र-भाग प्रवेश हो जायगा और द्वापर अपने अन्तको ७७७६ नं० वाली पृथिवीको छोड़ देगा उसपर कलियुगके अग्रभागका प्रवेश हो जायगा। जो कि इस समय ७७७७ नम्बरवाली पृथिवीपर है और ८६५० नम्बरकी पृथिवी पर कलियुगका अन्त है। जब यह ७७७६ नम्बरकी पृथिवी पर आरम्भ होगा। उस समय अपने अन्तकी पृथिवी ८६४० नंवरवालीको विलकुल छोड देगा। तव उस समय सतयुग अपनी पृथिवी पर अपने अग्रभाग से प्रवेश करेगा। जिस अग्रभागको इस समय नम्बर १ की पृथिवी समझिये।

इस प्रकारसे चलते चलते चारोंयुग महाराज ब्रह्माजीके प्रातःकालसे सायंकाल तक सब पृथिवियोंपर एक हजार चक्र लगा चुकेंगे और इस युगरूपी काल भगवानके आसरे सब जीव रहते हैं। इसलिये कलियुगके इस भागके जीव भी उसी उसी पृथिवीपर चले जावेंगे, गणित द्वारा इस पृथिवीपर ७७८७ का नम्वर आता है, जव हम लोग इस पृथिवीपर अपने जिम्मेके सब काम कर चुकेंगे तव हम संसाररूपी नाटकसे छुट्टी पाकर पर-लोकमें जाकर पांच सौ वर्षमें शेष रहे वर्षोंतक आराम करेंगे और अपने जन्मको पाच सौ वर्ष समाप्त होनेपर फिर ७७८६ नं० की पृथिवी पर पावेंगे और उस पृथिवीपर भी उतना ही और वैसाही काम करेंगे, जितना और जैसा कि इस समय इस पृथिवीपर कर चुके हैं और कर रहे हैं। न्यूनाधिक कुछ भी न कर

सकेंगे। इस प्रकारसे एक एक चौकड़ी भरमें पांच पांच सौ वर्षमे क्रमसे एक एक पृथिवीपर जन्म लेते हुए सब पृथिवियों पर घूम चुकेंगे। जब ५०० वर्ष पीछे हमारा दूसरी पृथिवी पर जन्म होगा, तब यही काल वहां भी रहेगा जैसे कि इस समय कलियुगकी ५१वीं शताब्दी और महाराज विक्रमादित्यकी २०वीं शताब्दी है। उसी प्रकार दूसरी पृथिवी पर भी हमारे जन्म समय यही समय और शताब्दियां होंगी।

और मैं (यह शरीर) श्रीमहाराजाधिराज
त्रिलोकीनाथ सर्वेश्वर भगवानके
इस महोत्सवमें इसी प्रकार साक्षाद्दर्शन करूंगा,
किये थे और कर रहा हूं।

इससे यह समझ लीजिये, कि ऐसा ही जयन्ती महोत्सव, इन्हीं महाराजाधिराजने इस समयसे ५०० वर्ष पूर्व पृथिवी नं० ७७८८ पर अपनी राजधानीमें किया था और भविष्यमें पृथिवी नं० ७७८६ पर यही आनन्द इन्हीं सभासदों सहित पुनः किया जावेगा।

इसीलिये कहता हूं कि यह जयन्ती महोत्सव जो इस समय हो रहा हैं, नवीन नहीं है। श्रीभगवानने गीतामें कहा है कि—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥४।५॥

हे परन्तप अर्जुन! हमारे और तुम्हारे अनेक जन्म बीत

चुके हैं। मैं उन सब जन्मोंको जानता हूं—तुम नहीं जानते। क्योंकि मैं अज और सर्वज्ञ हूं, शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव होनेके व तथा अलुप्त विद्या शक्ति होनेसे, मुझे सब ज्ञात हैं।

कर्मोंका फल मिलनेका समय।

कर्म दो प्रकारके हैं। दृष्ट और अदृष्ट। इनमें दृष्टका फल तत्काल ही मिलता है। जैसे भोजन किया और तृप्ति हुई, गाली दी और थप्पड़ खाया। अदृष्ट कर्मका फल भोगनेका कोई समय नियत नहीं। कोई इसी जन्ममें, कोई पर जन्ममें, कोई आगेके अनेक जन्मोंमें मिलते हैं। पर सब कार्य नियम पूर्वक ही होते हैं बिना नियमके तो वृक्षका एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, संसारके चलनेकी जड़ कर्म ही है, जैसे जैसे कर्म किये जाते हैं वैसे-ही-वैसे शरीर भोगादि मिलते हैं। यही तो सृष्टिके चलनेका क्रम है, इसके फलका समय त्रिकालदर्शी ईश्वरको मालूम है। "गहनाकर्मणागतिः" मेरी समझमें तो अदृष्ट कर्मोंका फल दूसरे कल्पमें मिलता है और इस कल्पके जिस भागमें कर्म किया जायगा, दूसरे कल्पके उसी भागमें उसका फल मिलेगा।

इसी कारण वेदान्तमें आगामी, संचित और प्रारब्ध तीन तीन प्रकारके कर्म माने गये हैं। कल्पभरके सब जन्मोंमें एकसी ही चेष्टा करनी पड़ती है। यद्यपि ईश्वर प्रेरक है। परन्तु वह प्रारब्ध अनुसार ही प्रेरणा करता है।

"ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्व भूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया॥ गी०अ० १८।६१

पाँच सौ वर्ष पीछे ऐसा ही नाटक करना गणितसे इस प्रकार सिद्ध है कि ब्रह्माके १ दिनमें ४३२ करोड़ वर्ष होते हैं, जिनमेंसे १२ करोड़ वर्ष जगतकी रचनावस्थामें लग चुकने पर शेष ४२० करोड़ वर्ष रहते हैं। इनमें ८४ लाखवार जन्म होता है तो पाँच पाँच सौ वर्ष पीछे जन्म सिद्ध हो गया।

८६४० भूमण्डल होना इस प्रकार सिद्ध है कि मनुष्योंके ४३२०००० वर्ष एक चौकड़ीमें होते हैं, इनमें ५०० का भाग दिया तो ८६४० ही लब्धि मिलते हैं, प्रत्येक युगकी अवस्थामे ५०० का भाग देनेसे उसकी भोग्य पृथिवियोंकी संख्या आ-जायगी। जैसे कलियुग ४३२००० में ५०० का भाग दिया तो ८६४ पृथिवियों पर आया इत्यादि। ८६४० पृथिवियोंका गोल चक्कर लट्टूकी तरह इस प्रकार होता है कि ५०० वर्षमें एक पृथिवीकी जगह दूसरी आ जाती है अर्थात् ४३२०००० वर्षमें सब पृथिवियोंका एक चक्कर पूरा होता है, यही दशा अन्य युगोंकी समझ लीजिये। इसका विस्तार-पूर्वक व्याख्यान दूसरे भागमें लिखा जायगा।

"अद्भुत विचारसे उद्धृत"

पृथिवियोंके घूमनेका चक्र आगे पृष्ठ ३५६ पर देखिये। १०० पृथिवियोंका घूमना उदाहरणवत् समझाया गया है।

—:o:—

पृथिवियोंके घूमने और युग बदलनेका चक्र ।

१००	९९ ९८	९७ ९६	९५ ९४	९३ ९२	९१ ९०	८९ ८८	०
१		० / २१		० / ४१		० / ६१	८७ / ८६
२०	२०	२२	४०	४२	६०	६२	८५ / ८४
३०	१९	२३	३९	४३	५९	६३	८[illegible]
४०	१८	२४	३८	४४	५८	६४	[illegible]
५०	१७	२५	३७	४५	५७	६५	[illegible]
६०	१६	२६	३६	४६	५६	६६	[illegible]
७०	१५	२७	३५	४७	५५	६७	[illegible]
८०	१४	२८	३४	४८	५४	६८	[illegible]
९०	१३	२९	३३	४९	५३	६९	[illegible]
१००	१२	३०	३२	५०	५२	७०	[illegible]
	११ / ०		३१ / ०		५१ / ०		

यद्यपि भूमण्डल गोल तथापि उनकी चाल भी गोल है परन्[illegible]
छापनेमें ठीक न आनेके विचारसे यह चतुष्कोण खींचकर दर्शाय

है। इसमें १ से १० पृथिवी तक कलियुग—११ से ३० तक द्वापर—३१ से ६० तक त्रेता और ६१ से १०० तक सतयुग समझिये ८६४० का हिसाब विभाजित कर लेवें।

इति कालचक्रम्।

निरंजन घरका भेद सुनो सब सन्त। टेक।
नहीं काशी नहीं पुरी द्वारका नहीं गिरिशिखर रहंत।
नहिं पताल नहीं स्वर्ग लोकमें क्यों फिरता भरमन्त॥
काया नगरी बीच मनोहर त्रिकुटी महल सुहंत।
तिसके ऊपर बसे निरंजन जगमग जोत जगन्त॥
नेत्रबन्द कर दृष्टि जमावे निशिदिन ध्यान धरन्त।
आसन थिर कर साधन कीजे, बैठे भवन एकन्त॥
पहले पहले रवि-शशितारे, बिजलीका चमकन्त।
ब्रह्मानन्द स्वयंभू ज्योती, फिर पीछे दरसन्त॥ ११॥

शिष्य—गुरुजी महाराज! ब्रह्मानन्दका लक्षण क्या है?

गुरु—हे शिष्य! इस लोकके चक्रवर्ती राज्यसे सौगुना आनन्द गन्धर्व लोकका है, गन्धर्वोंसे सौगुना आनन्द पितृलोकका है, उससे सौगुना आनन्द देव लोकका है, उससे सौगुना आनन्द इन्द्रलोकका है, इन्द्र लोकसे सौगुना आनन्द बृहस्पति लोकका है, उससे सौगुना आनन्द प्रजापति लोकका है, उससे सौगुना आनन्द ब्रह्मलोकका है। इसे ब्रह्मानन्द कहते हैं, जिसको यह प्राप्त है वही शतानन्द है जो विदेह जनकका गुरु वाच्य है। परन्तु आजकल विदेह जनक (गृहस्थाश्रममें रहते और राज्य

प्रबन्ध करते हुए) दुर्लभ है जब विदेह ही नहीं तो
भी आश्रयदाता कहाँ है।

यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दि

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्तिनः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्तिनस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमि ; स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु ।